॥ जैनं जयतु शासनं ॥

श्री गुण सुन्दर वृत्तान्त

रचयिता:-

पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक ज्ञानभूषणजी महाराज

प्रकाशक:—

सुरेशचन्द्र सुपुत्र स्व० श्री कंवरसैन जी जैन

रईस, हिसार।

पुस्तक मिलने का पता:—

श्री दि० जैन पंचायती मन्दिर, हिसार।

प्रथमा वृत्ति) 1000) मूल्य सदुपयोग (श्री वीर निर्वाण (सम्वत् २४८४

प्रकाशकः—
सुरेश चन्द्र जैन, हिसार ।

—:(०):—

☞ मूल्य:—सदुपदेश ।

मुद्रकः—
"हरिश्चन्द्र महता"
सूरज प्रिंटिंग प्रेस,
गली जवाहरलाल,
बाजार वकीलान, हिसार ।

दो शब्द

आप के हाथो में यह जो "गुण सुन्दर वृत्तान्त" नाम का ग्रन्थ है उसके रचयिता श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक ज्ञान भूषण जी हैं।

आप की जितनी भी रचना हैं वे एक विशेष आदर्श लिए हुए हैं। प्राचीन ग्रन्थो को आधुनिक शैली में रचना करके मानव समाज की रूचि मोक्ष मार्ग की ओर बढ़ाना यह आप की लेखनी की ही शक्ति है।

इस ग्रन्थ में राजा बिम्बसार के समय की एक घटना का जिकर है जिस में गुण सुन्दर नाम के एक व्यक्ति की आत्म गाथा का वर्णन किया गया है।

कहने को तों यह रचना एक आत्म गाथा है परन्तु गृहस्थ के प्रत्येक अङ्ग को संस्कारित करने वाली है, या यूं कहिये कि कौटुम्बिक जीवन का एक वास्तविक चित्रण है।

जहाँ श्री ज्ञान भूषण जी ने इस ग्रन्थ की रचना कर के समाज का कल्याण किया है वहाँ "श्रीमती सुजानी देवी" ने अपनी लागत से इस ग्रन्थ को प्रकाशित करवाकर पुण्य का उपार्जन किया है।

श्रीमती सुजानीदेवी, स्वर्गीय लाला कंवरसैन जैन रईस (हिसार) की धर्मपत्नी हैं। आप साक्षात् देवी का रूप हैं।

लाला कंवरसैन जी की मृत्यु के पश्चात् आपने अपने जीवन को त्याग और वैराग्य की भावना से ओतप्रोत करके धर्म में लगाया हुआ है। सदैव धर्म ध्यान में लीन रहती हैं। जिन पूजन, स्वाध्याय, सामाजिक, जिन वाणी का पठन पाठन तथा व्रत उपवास आदि मे अपना जीवन व्यतीत करती हैं।

स्वर्गीय लाला कंवर सैन जी के तीन पुत्र हैं· जिन में सब से छोटा श्री सुरेश चन्द्र है जो कि आप के ही पास रहता है, श्री सुरेश चन्द्र विचारों का सुशील और धर्म परायण है।

हम आशा करते है कि इस ग्रन्थ के अध्ययन से पाठकगण लाभ उठायेगे।

सेवकः—

देवकुमार जैन,

ओनरेरी सब रजिस्ट्रार।
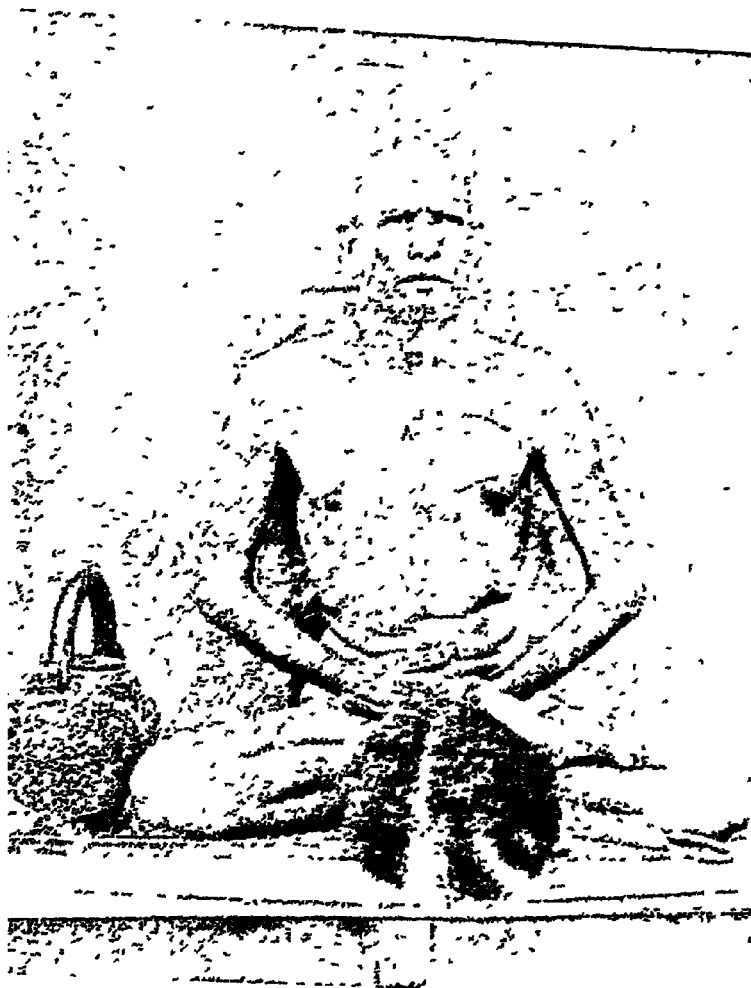
इस पुस्तक के रचयिताः—

श्री १०५ श्री ज्ञान भूषण जी महाराज

श्री वीतरागाय नमः ॥

गुण सुन्दर वृत्तान्त

—:(०):—

संसृति में मानव तनु पाकर भी व्यसनी रोगी।
दीख रहे हैं जिनका जीवन ताकि अनुपयोगी॥
कुछ ऐसे भी हैं जिनकी होती है गुण गाथा।
देवों द्वारा, उनके चरणों में धर कर माथा॥ १ ॥
उन में से ही यहां एक गुण सुन्दर की झांकी।
करने को इस मेरी मति ने भी है ममता की॥
उसकी सहयोगिनी लेखिनी बनने को आई।
प्रायश्चित्त रूप में जिसने देखो पुतवाई॥ २ ॥
जिह्वा द्वय धारक अपने मुँह पर सहसा स्याही।
अपने आप यहां अब ताकि न रहे उबट राही॥
लेखानुसार चलने का ही इसका विचार है।
सज्जन लोगों को भी इसकी सत्कृति याद रहे॥ ३ ॥

जो कि नियम से होते हैं सन्तत सुगुण-ग्राही।
जिनके मनमें कभी नहीं होता मात्सर्याहि॥
होती है उदारता रूप 'सुधा की ध्रुव धारा।
जिसके बल पर जीता रहे सदैव जगत सारा॥ ४॥
खल भी क्यों है बुरा जिसे पा करके ही तो गो।
बने दुधारू इस भूतल पर सुनो सुघड़ लोगो॥
इसी लिये मध्यस्थ भाव को कवि अपनाते हैं।
तत्परता से कर अपना वे कार्य बताते हैं॥ ५॥
सत्पथ-दर्शक वर्द्धमान रवि कवि-मन मोहक हैं।
जिनके पाद प्रसाद मे खुश भव्य सरोज रहैं॥
उसी समय में होगया यहाँ एक नराधिप भी।
सबके मन को हरने वाली थी जिसकी सुरभि॥ ६॥
स्पष्ट नाम यों बिम्बसार था हुवा मधुर जिसका।
जिसकी स्मृति आने पर भूरा चुप बैठ किसका॥
दोषाकर था क्या वह देखो राजा होकर भी।
था अहीन पर छिद्रान्वेषक भी क्या हुआ कभी॥ ७॥
प्राणिमात्र पर दयालुताधर होकर धीवर था।
दाक्षिण्योपयोग वाला होकर भी श्री-धर था॥
इत्यादिक थी जिसमें देखी गई विलक्षणता।
थी प्रख्यात भूमि पर जिसकी स्वयं सुलक्षणता॥ ८॥

उसकी कीर्ति जो कि दर दर पर भटका करती थी।
सती समझ कर उसने उसमें अभिरुचि वरती थी॥
जो वेचारी परत्र जाने में भी डरती थी।
उस लक्ष्मी को असती कह कर उसमें न रती थी॥ ९॥
तिरशठ ऐसा तत्वार्थों का गुण पाया जिसने।
समाराधनावो का घन ही जहां सुयान बने॥
त्रिवर्ग फल सम्पादक होकर भी जो एक रहा।
भवव।रिधि को ऋषियों के मुंह से था सुना महा॥ १०॥
एक रोज एकाकी राजा घूमने गया था।
यतः प्रकृति के अवलोकन को उत्साह नया था॥
दिल में क्यों कि कहां क्या कैसा होने पाया है।
नहीं किसी गरीब पर तो कुछ संकट आया है॥ ११॥
चलते चलते चला गया वह एक वगीचे मे।
सुराराम का नाम भी यहां जिससे नीचे में॥
नहीं घाम का नाम जहां तरुवों की छाया थी।
पल्लव पुष्प फलों की जिन पर उघड़ी माया थी॥१२॥
जिन पर तोता मैना जैसे पक्षी थे आये।
मानों भाग्यवांन के घर पर अतिथि पहुँच पाये॥
जहां आम के मोर जोर से सुगन्ध देते थे।
कोलय की कूक-द्वारा जो मन हर लेते थे॥१३॥

कहीं दाडिमी अमरूद कहीं नारङ्गी केला।
पनस सुपारी नारिकेल सहतूत निम्बु एला॥
कमरख जम्बू मोसमी सीताफल चकोतरा।
बीजपूर गून्दी लीचू से थी परिपूर्ण धरा॥१४॥
राजादन जम्बीर लिसोड़ा आलुबुखारा था।
कैथ विल्व फालसा करोन्दा खजूर का दावा॥
कहीं नाशपाती खिरणी तो कहीं खड़ी झाड़ी।
कहीं कहीं पर दीख रही थी जिसमें फुलवाड़ी॥१५॥
चम्पा जुही चमेली मरुवा गुलाब का पोदा।
मधुर मोगरा केवड़ा जहां परिमल का सोदा॥
लता-कुञ्ज थे कहीं जहां पर शीतल छाया थी।
मन्द सुगन्ध पवन था जिसका बना हुवा साथी॥१६॥
राजा ने जब उस उपवन पर दृष्टि एक डाली।
इधर उधर को सभी तरफ में उत्सुकता वाली॥
किसी एक तरुवर तल से था प्रकाश सा आया।
राजा ने सोचा कि वहां क्या कैसी कुछ माया॥१७॥
उसी ओर जब बढ़ा कि देखा एक देहधर था।
आगे और गया कुछ तो वह समता का घर था॥
जिसे देख साश्चर्य हर्ष का दिलमें वेग बढ़ा।
मानो शशि-सम्पर्क से जलधिका ही नीर चढ़ा॥१८॥

शोचा देखो भाग्य से मिली मुनि जी की झांकी।
मेरे मनमें उठी तर्कणा जिसे देख बांकी॥
आकृति अनुपम है कृति है यह सुकृत विधाता की।
सावधानता उसने इसकी रचना में ताकी॥१९॥
जहां इकट्ठी हुई सृष्टि की सुन्दरता सारी।
मुख मण्डल शशि कुण्डल जैसा आह्लादक भारी॥
झट आकर्षण होता मानव—मानस—चकोर का।
जिसकी ओर और यह कैसा भाल है जोर का॥२०॥
मात किये देता है आठें के चन्दा को ही।
तथा कण्ठ भी देखो कैसा है कम्बु—द्रोही॥
कपोल दोनों गोल तथा मृदु और गुलावी हैं।
मानों ये स्वादिष्ट सुधारस भरी रकावी हैं॥२१॥
आँखें विशाल और नुकीली कानों तक आई।
जिन्हें देख कर पद्मिनियाँ हैं कैसी शरमाई॥
स्वर्ण पट्टसा वक्षस्थल भी है विस्तीर्ण बड़ा।
सुषुमा के पट्टा भिषेक के लिये कि गया घड़ा॥२२॥
भुजा अर्गला सी सुगोल दृढ़ लम्बी खूब वनी।
घुटनों तक जो पहुँच रही हैं सत्कृत की अवनी॥
भव्य मूर्ति सुस्फूर्ति शान्ति फिर कान्ति यहां देखो।
जिसे देखकर दृष्टि मनुज की विषाद को देखो॥२३॥

इन सुलक्षणों से तो कोई यह बड़भागी हो।
दासी दासादि सहित भोगों का अनुरागी हो॥
किन्तु न इसके पास जरा भोगोपयोगिता है।
इसी दशा में जन्म हुवा क्यों जोकि दीखता है॥२४॥
प्रायः दीन दशा को पाकर दिल है रोते हैं।
साधुपनां अपना कर अपना संकट खोते हैं॥
यद्यपि तज कर भोग योग लेना सत्तमता है।
किन्तु बुढ़ापे में ही इसको राज मार्ग चाहे॥२५॥
अधिक लोग तो बूढ़े होकर भी न गेह छोड़ें।
मरण समय तक भी भोगों से जरा न मुंह मोड़ें॥
फिर छोड़ा क्यों इसने घर को भरी जवानी में।
असमञ्जस में बड़ा हुवा हूँ दशाऽनुमानी, मैं॥२६॥
किससे पूछूं और न कोई भी है दीख रहा।
जो इससे हो परिचित उसको जावे वृत्त कहा॥
तो क्यों फिर न पूछलूं इससे ही इसकी बीती।
क्या है हानि बतावे यह ही स्वीय पूर्व रीती॥२७॥
किन्तु समाधि निरत है यह तो यों विचार आया।
इतने में ही योगिराज का योग पूर्ण पाया॥
तब फिर नतमस्तक हो ऐसे भोगिराज बोला।
मानों चन्द्र बिम्ब सम्मुख कैरव ने मुंह खोला॥२८॥

हूँ जिज्ञासु यहां पर हे श्री योगि—महाशय मैं।
क्यों घर छोड़ा आपने अहो इस नूतन—वय में॥
क्या कोई तकरार हो गया था घर वालों से।
या टोटा कार में पड़ा दुर्विधि की चालों से॥२६॥
किंवा किसी तरह का अनुचित था अपमान हुवा।
खुद पाया क्या आपके लिये संकट विकट कुवां॥
मुनि बोले हे भूप न कोई इनमें कारण था।
केवल एक अनाथपने ने मेरा चित्त मथा॥३०॥
आश्रय दाता आपको नहीं कोई क्या पाया।
यह तो मेरे विचार को हे मुने नहीं भाया॥
आप सरीखे भाग्य भवन को नहीं सहारा था।
यह तो सुनकर मेरा भगवन् ठनक रहा माथा॥३१॥
क्यों कि आपकी आकृति से होता प्रतीत ऐसा।
जिसके पास जाइये वह ही रखे फूल जैसा॥
मैं कैसे मानूं कि आपके लिये हुवा ऐसा।
जो न रत्न को अपनावे वह भी हो नर कैसा॥३२॥
अस्तु हुवा सो हुवा नाथ अब भी पा सकते हैं।
पाजावे तो आप उसे क्या अपना सकते हैं॥
मुनि बोले कि न क्यों अपनाऊं बलि बलि मैं जाऊं।
अहो जन्म इस मेरे को मैं सफल समझ पाऊं॥३३॥

तो फिर चले साथ मेरी मैं अब हूँ ले चलता।
सत्य इसे समझें इसमें है नहीं जरा खलता॥
साथ रखूंगा मैं मेरी तुमको सदैव ऐसे।
रखता है सुगन्ध को अपने में कि फूल जैसे॥३४॥

चटपट हो जावेगा मन चाहा प्रबन्ध सारा।
जैसे दिन होते ही हो जाता है उजियारा॥
जिसके द्वारा दुःख आपके मनमें आवेगा।
नभः कुसुम सम उसे ठिकाना कहीं न पावेगा॥३५॥

ऐसा होगा महल न जिसमें सरदी या गर्मी।
मन्द सुगन्ध पवन आती ही रहे कुशल मर्मी॥
नोकर चाकर सभी तरह के यथा स्थान दे ही।
टहल चाकरी करने वाले खड़े रहेंगे ही॥३६॥

आप हमारे स्नेही हैं यह समझ लीजियेगा।
राजा बोला चलने का प्रति वचन दीजियेगा॥
महाराज सरताज देर अब नहीं कीजियेगा।
गेही बनं भोगा-नुयोग का सुरस पीजियेगा॥३७॥

मुनि बोले फिर शोचलो जरा सावधानता से।
ले चलने को तुमने हे भूपालवर यहां से॥
खुद भी ऐसे हो कि नहीं, मुझको जो वचन कहे।
मुझको तो तुम भी तो अनाथ ही हो दीख रहे॥३८॥

मेरे लिये यहां क्या देखी बात शोचने की।
मुझे अनाथ बता कर तो हद भूल आपने की॥
मेरी है वह शक्ति-न मैं कुछ भी तो सकुचाऊं।
किन्तु बात की बात में उसे पूरी कर पाऊं॥३६॥

जो कुछ भी आवश्यकता जिस समय आप की हो।
तथा शत्रु से अगर आपने कहीं मात ली हो॥
तो उस को भी मार भगाऊँ ताकत है मेरी।
यथा हवा से तूल उड़े वह लगे नहीं देरी॥४०॥

यों घमण्ड में आकर बोला जहां नरेश्वर था।
मुनि बोले कि न आगे बढ़िये हे भूपाल वृथा॥
मेरे रिपु से मुझे बचा लेना तो दूर रहा।
स्वयं शत्रु से आप बच रहो यह भी सुकर न हो॥४१॥

इसी लिये मैं तुमको भी फिर अनाथ कहता हूँ।
इस बारे में भूप कहां मैं चुप हो रहता हूँ॥
तब राजा ने उसी बात को यों पुनरुक्त किया।
मेरे कहने पर न आपने कुछ भी ध्यान दिया॥४२॥

मेरी जैसी शक्ति और वैभव सेना दल है।
पता नहीं आप को अतः यों कहने का बल है॥
वरना तो स्याबास आपके मुँह से ही पाऊं।
अतः उसी का थोड़ा वर्णन कर मैं बतलाऊं॥४३॥

गज तेतीस हजार और रथ भी हैं उतने हो।
घोड़े मेरे जोकि चाल में हैं पवन-स्नेही ॥
सैनिक हैं तेतीस कोटि जो हट्टे कट्टे हैं।
जिन सब के विश्वास योग्य हाथों के गट्टे हैं ॥४४॥
फिर मेरे वह कोष होंससे सुनिये आप जरा।
जिसे देख लोगो ने वित्ताधिप को भी विसरा ॥
इच्छा के अनुसार वस्तुयें जहां कि हैं मिलती।
जिसे देख दर्शक के दिल की कली २ खिलती ॥४५॥
भोग और उपभोग योग्य साधन बहुतेरे है।
मेरे यहां भाग्य ने स्वयं लगाये डेरे हैं ॥
अत: जहां कि अलभ्य न कोई चीज भव्यवर हो।
आप सरीखे कई कई दिन चाहे क्यों न रहो ॥४३॥
किञ्च जहां मैं हू फिर तुमको कोई क्या डर है।
मेरे आगे आकर कोई भी क्या बात कहे ॥
और कौन सी बात बोलिये अब है शेष रही।
ताकि आपके मन का मुनिवर खट्टा रहे दही ॥४७॥
फिर भी मुझका आप सरीखा आप कह रहे हैं।
भोलापन है आप का जहां आप वह रहे हैं ॥
तब मुनि बोले भूप सुनी तेरी मैंने बातें।
जान रहा हूं जैसी तेरी कटती हैं रातें ॥४८॥

किन्तु न तुम तो अनाथ का भी अर्थ जानते हो।
इसी लिये अपने मुँह से ऐसा बखानते हो॥
धन सम्पत्ति कुटम्ब सहित होना न नाथता है।
यह किन्तु मति महाराणी की मोह साथता है॥४६॥

तो बताइये इसका सच्चा अर्थ कौनसा है।
मेरा मन यह सुनने को साश्चर्य चकितसा है॥
कहता हूँ यदि सावधानता से तुम भूप सुनो।
सुनकर अपनी भूल हुई पर माथा आप धुनो॥५०॥

नहीं मुने ! विक्षेप मुझे मैं धैर्ययुक्त मन हू,।
क्या आजीवन करना मुझको एक सधन जन हूं॥
भिक्षा के भी लिये आपको जाना मुझे नहीं।
आ सकता है मेरा भोजन मेरे लिये यहीं॥५१॥

दोहा-मुनि बोले यह ठीक है हो तुम भोजनराज।
प्रणमन किन्तु यहां सही करें न भोजन आज॥५२॥

बैठ यों सन्देह जल-निधि के उस इस पार।
एक न धन को चाहता अन्य सधन सरदार॥५३॥

क्षण भर चुप रह कर नृपति बोला हे सरकार।
तो फिर कहते क्यों नहीं क्या है तत्व विचार॥५४॥

—***—

गुण सुन्दर का आत्म परिचय

श्री मुनिय बोले प्रथम मेरी आत्म गाथा ही कहूँ।
मतलब सहज हो हल यतः मैं किन्तु अभिमानी नहू ॥
अपने चरित को आपके मुँह से न कहना उचित है।
फिर बिना इस पथके इतर पथ यहां क्या समुचित रहे॥१॥

कोशाम्बिका नगरी हमारी जन्म-भूमि सुहावनी।
धन कोशकी जनपोष की जो सहज अम्बा थी घनी॥
मेरे जनक का नाम धन संचय यथोचित था यतः॥
कर डालता जिस काम में वह लाभ पाता था स्वतः॥२॥

माता तथा मेरी समश्री हुई जैसी नाम से।
वह काम भी घरका सभी करती रही आराम से॥
अभ्यागतों को दान फिर सम्मान भी देती रही।
प्राघूर्णिकों को ताकि घरकी कीर्ति हो जगमें सही॥३॥

मेरा पिता था वैश्य उसका कोश किन्तु अथाह था।
मुक्ता तथा माणिक्य आदिक का अमित अवगाह था॥
शायद तुम्हारे कोश की भी नहीं ऐसी शान हो।
जो देख पाता था उसे आश्चर्य वह होता अहो॥४॥

पाया प्रसव उनके यहां मैंने शुभोदय दाम से।
प्रख्याति मेरी हुई गुण सुन्दर सुभग इस नाम से॥

पाला तथा पोपा गया मैं था बड़े ही चाव से।
उन जननियों के हस्त कमलों में मधुप के भावसे ॥५॥

पढ़ लिख हुआ नादान तो मेरा विवाह हुवा प्रभो।
उस नाजनी के साथ जिसके रूप की उपमा न भो॥

पग चूमती जिसके उमा रति साथ जिसके घूमती।
अभ्यङ्ग में तत्पर सदा जिसके कि लक्ष्मी थी सती ॥६॥

जिसका कि अनुचर काम था मुख शशी सुषुमा धाम था।
मृदु देह जिसका बन रहा सौभाग्य का आराम था॥
जो उच्च कुलकी बालिका उत्तम गुणों की मालिका।
मेरे लिये वह बन रही थी देहली की पालिका ॥७॥

सुकुमार वय मेरी सरस ऐसी गईसी में कटी।
जाना न मैंने रात है अथवा सुबह की शुभ घटी॥
न मुझे हुवा मालूम होता कष्ट कैसी चीज है।
बीते दिवस सु विनोद में जैसेकि सावण तीज है ॥८

पाता रहा साधन सभी मेरे सदा अनुकूल मैं।
भाई बहन आदिक कभी होते न थे प्रति कूल में॥
मैं खुश रहूँ वर्ताव ऐसा ही किया करते सभी।
मेरी शकल देखी विकल तो कल न पाते थे कभी ॥९

फिर युवावस्था में युवक था एक मुझको मिल गया।
सहसा उसी की ओर मेरा नरपते ? यह दिल गया॥

जैसेकि दिनकर को निरखकर कमल ही हो खिलपड़ा ।
ऐसा हुवा वह हुआ ज्यों ही पासमें आकर खड़ा ॥१०॥

उसने बताई साथ मेरे निष्प्रयोजन मित्रता ।
जिस के कि थी संलाप में पीयूष तुल्य पवित्रता ॥
सब तरह दोनों में यहां हो चली थी प्रतिचित्रता ।
फिर भी बनी ही रही देखो एक किन्तु विचित्रता ॥११॥

था वह कहा करता कि यह संसार एक सराय है ।
भयभीत ही रहता सतत जिस में किसंधृत काय है ॥
निःशङ्क होकर रहे ऐसी यहां मेरी राय है ।
अपने परिश्रम से जहां पर घृत सिता की आय है ॥१२॥

स्वार्थ प्रतिष्ठित हैं सभी कोई किसी का है नहीं ।
मैं हूं तुम्हारा और मेरे तुम यहां हैं क्यों नहीं ॥
तुम शोच कर देखो कि दुनियां सहज दुःखों से भरी ।
है क्या नही मिलती यहां पर भोग सामग्री खरी ॥१३॥

जाता नहीं है साथ में यह गात भी इस जीव का ।
होता प्रयाण अमुत्र एकाकी स्वयं मतिपीव का ॥
फिर है कहां परलोक यह तनु पञ्चभूतात्मक नवी ।
है नाचती रहती जहां तक खून की हो शनशनी ॥१४॥

इस तरह उसके और मेरे हुवा करती बात थी ।
वह कहा करता दिन जिसे मेरे लिये वह रात थी ॥

यों वार चार विचार चलता था परस्पर में जहां।
तब अन्त में मैं यह कहा करता कि देखो तो यहां ॥१५॥
माता पिता भाई वहन वनितादि जो मेरे सही।
मुझ पर बताते प्रेम यह है दीखता प्रत्यक्ष ही ॥
मैं घड़ी भर भी जब न उनको दीख पाता हू कभी।
हो विकल खाना और पीना भूल जाते हैं सभी ॥१६॥
मेरे लिये वे प्राण भी दे डालना हैं चाहते।
तुम भी नहीं क्या देखते हो कहो क्यों न महामते ? ॥
मै और की तो कहूँ कैसे क्यों कि विश्व अदृष्ट है।
मुझ बान्धवों में स्नेह सच्चा है यहां सुस्पष्ट है ॥१७॥
फिर भी न वह तो मानता था बोलता था क्या कहूं।
है स्वार्थ का संसार सारा हे सखे कहता-नहूँ ? ॥
ये सुर असुर नर नाग पशु पक्षी सगे है स्वार्थ के।
मतलब सधा कि न बात पूछें यों विवुध कह कर थके ॥१८॥
यों बात करते हम परस्पर में नृवर फिर आगये।
तालाव के तट पर जहां थे गाछ खूब नये नये ॥
फलफूल जिन पर थे लदे छाया सघन थी हो रही।
अतएव पक्षी जो कि आता बैठ जाता था वहीं ॥१९॥
तालाव भी था सजल जिसमें कमल दल थे खिल रहे।
ठण्डी हवा के सरसझोंके से तथोचित हिल रहे ॥

अतएव जोकि पराग रस को थे निरन्तर पूञ्जते।
जिन पर सुगन्ध विलुब्ध मधुकर मत्त होकर गूञ्जते॥२०

जल में मछलियां इधर आकर थी उधर को जा रही।
आनन्द से शैवाल दल को तोड़ कर थी खा रही॥
कल हंस वंश बटेर बत्तक कोंक आदिक भी जहां।
वर केलि करते घूमते फिरते यहां से थे वहां॥२१॥

आता पथिक वर वीर पीकर नीर ठंडी छांह में।
वह वृक्ष के फलफूल खाता दीख पाया था हमें॥
हम भी वहां कुछ देर तक आराम पाने के लिये।
बैठ तथा उठकर वहां से और आगे चल दिये॥२२॥

घूमे फिरे चक्कर लगाया किञ्च जब वापिस हुवे।
आये उसी तालाव पर तो भाव मन के थे मुवे॥
हाँ क्योंकि अबकी बार कुछ भी सार उसमें था नहीं।
केवल बची दुर्गन्धमय कीचड़ नरेश! कहीं कहीं॥२३

सब पेड़ भी थे सूख कर खंखर वहां के हो चले।
फल फूल तो कुछ थे नहीं कुछ किन्तु पत्ते थे जले॥
आकर जरा ठहरे कि मैंने मित्र से यों था कहा।
जलदी चलो भैया यतः दुर्गन्ध आती है यहां॥२४॥

फिर तो कहा यों मित्र ने कि यही यहाँ अधिकार है।
मैं ठीक ही हूं कहरहा कि स्वार्थ मय संसार है॥

तालाब था सम्पत्ति युत तब सब जहां रुचि ले रहे।
सुख भोगकर इसको शुभाशिर्वाद भी सबने कहे ॥२५॥

अब जल नहीं तब कौन इसके पास में बैठे कहो।
संकट भुगतने को कि उठकर चल दिये सब हैं अहो॥
जब कमल थे तो गन्ध लेने को डटे थे अलि यहां।
अबएक भी उनमें नहीं हैं क्योंकि कजकलि है कहां॥२६

इन तरुवरों पर जबकि फल थे बैठते थे विहग भी।
आकर यहां आराम से विश्राम लेने को सभी॥
उठ चलदिये वे अब जबकि निस्सारता आई यहां।
निज २ विचाराधीन देखो वे कुलीन जहां तहां॥२७॥

बस तो यही संसार में परिवार की भी बात है।
स्वार्थानुसार जनी स्वसा जननी जनक या तात है॥
सन्तुष्ट होती है प्रिया अतएव उसके नाथ हो।
भाई कहे मेरी भुजा है ताकि देते साथ हो॥२८॥

मृदु चीर पाती पर्व में भगिनी बताती वीर है।
कहता पिता तुमको, तनय वह क्योंकि आश्रम में रहे॥
माता पिता के लिये भी सुत तुम तभी तक समझलो।
जब तक कि इस भूभागपर हे मित्र कहने में चलो॥२६

इसके लिये कुछ काल पहले की सुनाता हूं कथा।
विद्या धरों का समधिनायक काल सम्बर भूप था॥

उसके प्रिया थी एक सुभगा किन्तु निस्सन्तान थी ।
सुतके बिना अपनी नहीं कुछ भी समझती शान थी॥२०

थे एक दिन वे दम्पती आकाश पथ से जा रहे ।
पथ बीच में स्वविमान को अटका हुवा जब पा रहे ॥
कैसे रुक रहा यान है यह कौन कारण है यहाँ ।
चिन्ता निमग्न हुये कुछ समय के लिये तो यों वहां॥२१

हिलती हुई महती शिला को देख फिर भूपाल ने ।
जब थी उठाई तो वहां दर्शन दिये वरबाल ने ॥
खेचर हुवा खुश खूब मानों रङ्क को निधि मिलगई ।
रविसे कमल की भांति उसके चित्तकी कलि खिलगई॥२२

उस बालशशि को निरख उसका मोद वारिधि जो बढ़ा ।
हर्षा श्रु वों के नाम से फिर वही बाहिर में कढ़ा ॥
सम्प्राप्त उस आनन्द को सुविभक्त करने के लिये ।
अपनी प्रियाको भी वहां उसने समाश्वासन दिये ॥२३॥

मधुराननै सुन देख सुतलाभान्तराय अहो मुवा ।
मेरा तथा यह आज तेरा प्रेम–बन्धु उदय हुवा ॥
आ और ले यह भाग्यशाली पुत्र मिल पाया तुझे ।
न हुई प्रसव की वेदना भी हर्ष इसका है मुझे ॥२४॥

क्यों व्यर्थ का तुम भी यहां पर हास्य करते हो प्रभो ।
जलते हुये मेरे कलेजे को जलाते हन्त भो ॥

मुझ सरीखी हतभागिनी के भाग्य में सुत है कहां।
झट आइये मत देर करिये अवचलें चलना जहां ॥३५

देखो प्रिये सद्सत्य है न असत्य है इसमें जरा।
दुर्दैव वह तेरा यहां पर आज तेरे से डरा॥
आ पास में तो आशुभे ले उठा इसको क्यों नहीं।
सुभगे समुत्तम कार्य में आलस्य तू क्यों कररही ॥३६

फिर है अगर तो क्याकरूं क्यों लूं न मैं लेती इसे।
इस तरहसे संग्रहकिया सम्प्रीतिकर यह हो किसे॥
जब आपके पररािणयों से पाँच सो शुभ पूत हैं।
जो एक से भी एक चढ़कर सद्गुणों के दूत हैं ॥३७॥

क्या कह रही है शुभे ? मैं इसका न मान अहो करूं।
युवराज पद हूं देरहा यह ताज इसके सिर धरूं॥
यह है नहीं सामन्य, कोई महाभागी जीव है।
जिसकाकि देखो आजभी यह बलसुभाग अतीव है॥३८

नृप का सदाग्रह देख रानी ने लिया था गोद में।
उस बाल को फिर दम्पती दोनों चले भर मोद में॥
निजदेश जा सन्देश ऐसा किया महदनुराग से।
था गूढ़ गर्भ हुवा तनय पथ में सती के भाग से ॥३९

तब सब हुए हर्षित समाकर्षित नयन जिनके अहो।
सुत सुधारक की ओर, बोले चिरंजीवी यह रहो॥

बढ़ने लगा अब बाल कल्पांघ्रिपसदङ्कुर तुल्य था ।
होने लगी आनन्द दायक नित नई घरपर कथा॥४०॥

उसने कि शैशव लांघकर कौमारपन पाया जहां ॥
बलशालि रिपु की याद से नृप खिन्न हो आया वहां ।
जिस शत्रु का परिहार करना वाम करका काम था ॥
उसके लिये तो यतः श्री प्रद्युम्न उसका नाम था॥४१

उठचला बान्धलिया अधम को पाश से ज्यों श्यालको ।
यह देख थी स्याबास दी नरनाथ ने उस बाल को ॥
सामान्त शूरोदार साहूकार नर मय हाल में ।
बँधवादिया युवराज पट निर्वाध उसके भाल में ॥४२॥

यह देख माता और सबको भी हुई साता बड़ी ।
फिर मोसियों को और उनके बालकों को वह घड़ी ॥
विषवृष्टि जैसी दुःखदा अनुमान में आई वहां ।
आशालता उनके हृदय की थी रही अब वह कहाँ ॥४३॥

अब तो उन्हें वह दीख पाता था वहीं अघभार था ।
जो आज पहले चित्त की शुचि चेतना का सार था ॥
होने लगे उनकी तरफ से गुप्त उस पर वार थे।
जो एक अच्छे वीर के भी लिए कष्ट करार थे॥४४॥

वे सब हुए उसके लिए तो सम्पदोदय सार ही ।
हाँ सुकृतसत्ता चाहिये फिर विपत् हो कोई नहीं ॥

यों सकल वैभव युक्त शोभासक्त यौवन पूर्ण था।
मां के समीप गया कि हो पाई विचित्र वहां कथा॥४५॥

देखा सवित्री ने कि उसके जहां सुघड़ शरीर को।
वह हुई विह्वल सह सकी क्या मार के मृदु तीर को॥
बोली न छूवो चरण मेरे तुम न मेरे पूत हो।
मेरे लिए तो आज से तुम बने रति के दूत हो॥४६॥

कैसा अनोखा रूप जो शृङ्गार रस का कूप है।
स्मर कल्प तरुवर के लिये यह बना देश अनूप है॥
हे कान्त तेरा मुख कहूँ क्या वह श्री का प्रान्त है।
जो दीखता विकसित सहज में मृदुस्मित मधुतान्त है॥४७

ये घुंघरुवाले बाल रतिपति का बिछाया जाल हो।
मेरे नयन पच्ची फंसे इसमें कहो क्या हाल हो॥
तेरे कमल कोमल करों के योग्य तो छाती यहां।
है जल रही हो जाय ठण्डी वह करो हे सद् यहां॥४८

वह नेक लब्धविवेक एकाएक इस अतिरेक से।
था पड़ रहा कुछ शोच में कि अहो हुवा क्या है इसे॥
हो रहा वात विकार ही इसके हृदय पर है कहीं।
इसलिये ही यह अंट संट विरुद्ध ऐसा बक रही॥४९

अतएव बोला किञ्च हो लाचार सा मनमें यही।
हे अम्ब आवो होस में तुम किसे क्या हो कह रहीं॥

मैं हूँ तनुज तेरा न मेरा समामन्त्रण यों करो।
जिनराज हैं सरताज सबके ध्यान उनका ही धरो॥५०

मैं हूं न विद्विष्टादयित ? तुम ही यहां हो भूलते।
वे जानकारी के हिंडोले में कि बैठ झूलते॥
तुम हो नहीं मेरे तनुज फिर मनुज एक जरूर हो।
जो थे मिले कान्तार में अब आज नर होकर रहो॥५१

छोड़ो पुरानी बात को आया करो तुम रात को।
आवो मिलावो हाथ को आगा न कुछ पीछा तको॥
जैसा कहूं मैं वह करो कुछ भी यहाँ पर मत डरो।
आनन्द की घड़ियां भरो तारुण्य तोयधि में तरो॥५२॥

देखा जहां कि कुमार ने इसको दबाया मार ने।
इस तरह से उस भूलती को वह लगा फटकारने॥
हे जननि ? तेरा मन निरा दुष्कल्पनावों से घिरा।
क्यों ताकि तू मुझ से अहो है कह रही ऐसी गिरा॥५३

मैं हूं तनय तेरा अतः विख्याततनय मेरा यहां।
तेरी चरण रजको स्वमस्तक से लगाऊं सतत हां॥
आज्ञा बजाऊं और सब तेरी न देरी मैं करूं।
फिर इस न होती बात से हे मात आत्मतया डरूं॥५४॥

तुम भी सँभालो चित्त को दो लात दुष्ट निमित्त को।
निःसार इस कुविचार में खोवो न शील सुवित्त को॥

दुष्कामना पूरी न तेरी यहां होवेगी कभी।
हो जाय चांहे क्यों न दिनकर यह इधर से उधर भी॥५५

तुम मान जावो कान्त मेरे यहां आवो क्यों नहीं।
गुद-गुदी करके बतावो एक बार अहो सही॥
यह विनति छोटी सी न मेरी हन्त यदि तुमने सुणी।
फिर तो कुशलता कहां मेरी और तेरी भी गुणिन्॥५६

यह टेव खोटी है तुम्हारी इसे भूलो सर्वथा।
जिनराज के शुभ नाम की निज जीभ पर लावोकथा॥
इस एक ही अभिराम पथमें विश्वभर की कुशलता।
अन्यथा तो इस अधम जीवन में जननि ? है विकलता॥५७

दोहा-यों दोनों थे डट रहे राणी और कुमार।
अपने अपने लक्ष्य पर किये हुए अधिकार॥५८॥

मदमाती राणी जहां करिणी जैसी ठीक।
हरिसुत वह था धैर्ययुत इसमें नहीं अलीक॥५९॥

जनी नागिनी की तरह करती थी फुङ्कार।
किन्तु गरुड़ की भांति वह देता जहर उतार॥६०॥

नहीं सफलता का कोई भी देखा जब था चारा।
तब राणी के मनमें आई ऐसी विचार धारा॥
हन्त शर्म, धन, धर्म गमाया जरा न सुख भी पाया।
घी गुड़ आटा भी बिगड़ा फिर हलवा हाथ न आया॥६१

अब मैं इसके आगे किसको कैसे मुँह दिखलाऊं।
जहां यह वहां मैं न कभी भी ऊंचा शिर कर पाऊं॥
कोई भी प्रपञ्च रचकर मैं अब इसको मरवाऊं।
अबला के विरुद्ध अडने का इसको मजा चखाऊं॥६२

कुण्डलियां-अपने करसे आपका नोच लिया सब अङ्ग।
मर्दित वल्ली तुल्य था कर" पाया सब ढङ्ग॥
करपाया सब ढङ्ग भूप को ठग लेने का।
सत्य बात के बारे में धोका देने का॥
बोली देखो जिसे आप लाये आदर से।
उस सुतने मेरा तनु नोचा अपने कर से॥६३

छप्पय—राजा को आ गया रोष तो पिता पुत्र में।
छिड़ा युद्ध जो लिखा हुवा था दैव सूत्र में॥
जहां उधर सामन्त शूर आदिक सब ही थे।
किन्तु इधर शोडषवर्षी श्री कुमार जी थे॥
फिर भी इस भूभागपर विजय सत्य की ही रही।
हार गये सब शूर थे श्री कुमार हारे नहीं॥६४॥

इस पर से शिक्षा हमको मिलती है सुख दाई।
स्वार्थ पूर्ण संसार पिता क्या, क्या माता, क्या भाई॥
जब तक उनकी अभिरुचि के अनुसार करो चतुराई।
तब तक होवें अपने वरना करने लगें बुराई॥

अतः विज्ञको चाहिये स्नेह सभी के साथ में।
रखे, कभी आने न दे फिर निज हितकी बातमें॥६५॥

—❊❊—

परिवार सब स्वार्थ का है—

श्री जिन कहते हैं कि मोहवश यह अज्ञानी जीव अहा।
होता और बिना होता भी करने में न तु हिचक रहा॥
अपने भाई बन्धुजनों की आशा पूरी करने को।
क्या वे साथ रहेंगे इसकी दुःख नरक में भरने को॥१॥

पापा चरण किया करता है जन नाना धन पाने को।
परिजन में रहकर वह उनको अपने साथ लगाने को॥
खाने भरके लिये वे सभी किन्तु न कष्ट बटाने को।
खड़े कुछ रहें, सहे अकेला पातक के परवाने को॥२॥

श्रम जीवी था एक सुनों जो श्रम कर पेट पालता था।
जो कर्तव्य समझकर भरसक परिकर को सँभालताथा॥
एक रोज चावल वाले से श्रम कर चावल लाया था।
लाकर उनको निजवनिता से ठीक तरह पकवायाथा॥३

पकजाने पर वनिता बोली अहो आज चावल पाये।
किन्तु बिना मीठे के ये सब कैसे जावेंगे खाये॥

अतः जरा अब मीठा लावो भात हुये तैय्यार अहो ।
जावो तुम देर लगावो क्यों अब ऐसे खड़े रहो ॥४॥

गया किन्तु मीठा इसको अब कौन कहां कुछ दे कैसे ।
एकाएक कहो, डूब रहा असमञ्जस में था ऐसे ॥

आगे बढ़ देखा गुडवाला अपनी हाट सजाने को ।
वहां एक भेली रख भीतर गया दूसरी लाने को ॥५॥

यह ले भगा उसे लाकर दी निज औरत के हाथों में ।
उसने जिसको चूरमूर कर शीघ्र गिराई भातों में ॥
इधर हाट वाले ने आकर देखा पीछे लग पाया ।
बोला रे हराम जादा तूँ गुड मेरा क्यों ले आया ॥६॥

औरत बोली हन्त आज यह चोरी कर है क्या लाया ।
की बदनामी मेरे घर की भजन किया सब खो पाया ॥
हे भगवन् यह कौन चानक ही देखो सङ्कट आया ।
जा अपनी करणी के फल को पा, यों कहा पकड़ बाया ॥७॥

लात घमूकों से पहले तो वहां मरम्मत हुई बडी ।
पकड़ कोतवाली में लाया गया हतकडी यहां पडी ॥
मैंने क्यों यह किया ताकि देखो कैसा कष्ट उठाया ।
आगे को न करूं ऐसा अब मैं यदि यहां छूट पाया ॥८॥

बार बार अपने मनमें वह इसी तरह जब पछताया ।
मुक्त हुवा अंथउ तकतव फिर वापिस था घर पर आया ॥

घर वालों ने था भातों को सहसा इधर बांट खाया।
उसका हिस्सा रखछोड़ा जिसको बिलावने गट काया ॥९॥
अतः उसे भूखा ही सोना पड़ा करे क्या वहां कहो।
कौटम्बिक जीवन की झांकी यह है देखो विज्ञ अहो ॥
फिर भी इसमें फँसा हुवा यह पामर लूट मचाता है।
नही दीन हीनों को ठगने में कुछ हिचकी खाता है ॥१०॥
इसमें भी लोगों का होता दो प्रकार का विचार हाँ।
एक तो कि अपना कुटुम्बका हो पावे निर्वाह यहां ॥
सार्थ दण्ड यह कहलाता है होता है चन्तव्य कहीं।
व्यावहारिकों की निगाह में होता है यह निन्द्य नही ॥११॥
क्योंकि सदा इसके मनमें यों होती स्वयं अजडता है।
अनुचित है यह किन्तु करूं क्या पेट पालना पडता है।
पछतावे की इस पावक से कोमलता अनुसरता है।
घोर पङ्क में कभी न इससे वह अपना पग धरता है ॥१२॥
किन्तु यथोचित आजीवन के होने पर भी रोता है।
धनी कहलवाने की आशा के ही वश में होता है ॥
येन केनरूपेण मनोरथ भरने में ही तत्पर हो।
रहता है वह इस भूतल पर पापों से डरता न अहो ॥१३॥
मैं मेरे कौशल से उनको मालो माल बना जाऊं।
जोकि सहोदर हैं मेरे मैं इसमें कसर नहीं लाऊं ॥

यों अन्धा होकर करता है धन्धा पाप प्राय सदा।
शोच नलाता इस अनर्थ की कौन उठावेगा विपदा ॥१४॥

ज्ञानी कहते हैं होता है स्वार्थ पूर्ण भाई चारा ।
जहां स्वार्थ में वट्टा आया हो जावे विरुद्ध सारा ॥
भरे पड़े हैं उदाहरण इसके दुनियां में हे साधो ।
कौरव पाण्डव झूझमरे इसको अपने दिलमें साधो॥१५॥

ऋषभदेव के पुत्र जो हुये भरतराज या बाहुबली ।
लड़े राज्य के लिये कहो क्या कोई की भी वहां चली ॥
रोज देखने को मिलता है एक को न यदि आय कही ।
और अधिक सन्तान ताकि खर्चे की चिन्ता सता रही ।
तो वह हो रहता है न्यारा जिसे आय है खर्च नहीं ॥
अपनी ताया करता है वह जिसको विपदा सता रही ॥१७॥

स्वार्थ हानि में रूस रहें यह तो साधारण वात रही ।
स्वार्थ सिद्धि करते करते भी लड़ मरते हैं कहां नहीं ॥१६॥

देख लो जरा तुम धन्ना के सम्प्रति सहोदरों को ही ।
वह करता है सदा भलाई वे हैं वने स्वयं द्रोही ॥
पार्श्वनाथ के पूर्व जन्म पर कभी गौर कर है देखा ।
भाई भाई में आपस में कैसा दुरन्तथा लेखा ॥१८॥

तन मन धन से करता था मरु भूति वड़ाई भाई की ।
फिर भी कमठ दुष्ट जेठेने उस की घोर बुराई की ॥

सुनो आज मैं उनका ही तुमको आख्यान सुनाता हूँ।
ताकि अचम्भे से तेरे शिर को अब यहां धुनाता हूँ ॥१९॥

कमठ और मरुभूति एक मां से दोनों हो पाये थे।
विषपीयूष जलधिवेला से यथा तथा कहलाये थे॥
जिनका जनक राज मन्त्री था, थी अखण्ड शुभ भाग्य लड़ी
उसकी ताकि प्रजा जनों पर जमी हुई थी धाक बड़ी ॥२०॥

मेरा पिता सचिव इस मद से कमठ उपद्रव करता था।
मृदु जनता मे भूरि भूरि वह नहीं पाप से डरता था॥
विवश भाव से किन्तु हन्त वे लोग सभी कुछ सहते थे।
मन्त्रि पुत्र है कहें किसे क्या मन मसोस यों रहते थे ॥२१॥

हां मरुभूति सरल दिल था जो पथ जाता पथ आता था।
कुशल क्षेम पूछ कर सबके मनको मुदित बनाता था॥
क्रूर एक था किन्तु दूसरा सहज सौम्य जो भाता था।
रविशशि जैसा उन दोनों में भेद दीख यों पाता था॥२२॥

जब आता था ध्यान पिता का इस अन्तर पर तो वह भी।
सखेद कहने लगता था शिक्षा के सुवचन कभी कभी॥
देखो कमठ सुनो तुम बेटे अपनी इस कठोरता को।
छोड़ो अपने छोटे भाई की ही ओर जरा ताको ॥२३॥

कैसा यह है मिलनसार मृदुभाषी परसेवाभावी।
कम से कम तुम भी ऐसे ही क्यों न बनो हे मेधाविन्॥

तुम तो बल्कि बड़े हो तुम पर ही है बोझ भार सारा ।
मेरे पीछे तुम से ही होने वाला है निस्तारा ॥२४॥
इस जनता का किन्तु कहो क्या जनता तुम से राजी है ।
देख रहा हूँ-तेरी आदत दूध थार में शाजी है ॥
याद रहे मुक्ता फल का भी गुण ही से तो आदर है ।
वरना गले लगावे कैसे कौन, वंग में धरा रहे ॥२५॥

इस पर मरुभूति कहा करता नहीं पिता ऐसा न कहो ।
मुझ से भी यह अच्छे हैं ज्यों देव दारु से चन्दन हो ॥
दुनियां का क्या वह तो चलती को भी गाड़ी कहती है ।
खोया दूधसार को ऐसे उलटी भी वह वहती है ॥२६॥

कमठ चित्त पङ्कज को कष्ट प्रद होती थी वह आशी ।
सबके लिये शान्ति दायक होकर भी बादल वर्षा सी ॥
शोचा करता था कि दुष्ट मरुभूति नहीं यदि यह होता ।
तो ये ताने सुनकर मेरा चित्त कहो क्यों फिर रोता ॥२७॥

देखो मैं तो नमक यह यहां प्यारा गुड़ हो जैसा है ।
पिता पुत्र का चित्त एक है इसी लिये तो ऐसा है ॥
हन्त एक दिन यह न रहेगा या मैं ही मर जाऊंगा ।
तब ही होगा ठीक यहां पर वरना कष्ट उठाऊंगा ॥२८॥

यों दिन दिन कमठाहि वक्रता को अपनाता जाता था ।
गारुडपन मन्त्री का भी वह नहीं किन्तु थक पाता था ॥

अतः न उसके दंश की कहीं फैल सकी कुट माया थी।
न्याय कल्पतरु की जनता पर महती ही वह छाया थी ॥२६॥

अपनी अपनी वृत्ति को सभी सरल भाव से करते थे।
अनधिकार वर्ताव में नहीं कहीं कदम भी धरते थे॥
चोरी जारी जैसे दुष्कृत्यों से दूर गुजरते थे।
मद्य मांस सेवन करने से सहज रूप में डरते थे॥३०॥
नहीं कमाई पर की पर निर्वाह का विचार धरते थे।
आय आपकी में से भी कुछ परार्थ हिस्सा करते थे॥
यों सन्तोष भाव मे रहकर सुदिवस जिनके कटते थे।
सरस नाम जिन जी का अपने मन में निश दिन रटते थे॥३१॥

अन्त समय संन्यास धार वे स्वर्ग सम्पदा पाते थे।
धर्म धारियों के प्रति मन में सत्य स्नेह बताते थे॥
प्राणि मात्र पर जो समता का भाव स्फुट कर पाते थे।
निस्सङ्गतया वे भव वन को सुतर पार कर जाते थे॥३२॥
देखें तो कि यहां के नर भी स्वर्ग निवासी हो पाये।
कौन अधिक सुख वहां यहां से जो उनको ऐसे भाये॥
इस विचार से ही मानो मन्त्री भी स्वर्ग पहुँच पाये।
एकाएक विमानाधिप हो एक रोज जो कि न आये॥३३॥
आम सभा बुलवा कर बोला भूप कि-शोभा नहीं यहां।
बिना सचिव के पुष्पगुच्छ से शून्य वगीची नाम जहां॥

एक स्वर से तब सब बोले यहां सचिव हों मरुभूति ।
जोकि विनय सौजन्यौदार्य विवेकादिकयुत सुविभूति ॥३४॥

हे सज्जन लोगों तुम सब ने आज सिता में घी घोला ।
उपर्युक्त बात के समर्थन में राजा था यों बोला ॥
किन्तु कहा मरुभूति ने कि हे विज्ञो तुम हो भूल रहे ।
मुझ बालक के लिये अहां ऐसे श्लाघा के वचन कहे ॥३५॥

मैं हूँ उसके योग्य नहीं जो आप दे रहे आदर हैं ।
इसके योग्य किन्तु हैं भ्राता कमठ जो कि आबाद रहें ॥
बोले लोग कि आप हमारे और आपके ये होवें ।
श्री जिनवर जी क्यों न इस तरह सङ्कट सबके ही खोवे ॥३६॥

जय मरुभूति मन्त्रिवर की होयों फिर था जय घोष हुवा ।
और सभी थे प्रसन्न केवल किन्तु कमठ को रोष हुवा ॥
मेरे लिये कि कैसा यह है खुदा जा रहा अन्धु कुवां ।
किन्तु विवश था क्याकरे अतः उसके मन का मान मुवा॥३७

एक रोज अन्यत्र कहीं था गया सचिववर कि कमठने ।
देख युवति उसकी को ऐसा मनमें शोचा झट शठने ॥
कला काम की यह इस आगे रति भी सिर्फ नामकी है ।
मुझको तो यह दीख रही कोकिल कोसुकलि आमकी है॥२८

अगर इसे पाऊं हो जाऊं निहाल, कार्य बने दोही ।
मुझे मृतक को अमृत मिले, मरु मर पावे इसपर मोही ॥

किन्तु कार्य है कठिन करूं क्या उपाय यह कैसे होवे ।
मेरे हाथ किस तरह आवे वह अपने घर मे सोवे ॥३६॥

इतने में कलहंस नाम इसका दिलदार यहां आया ।
देखा इसे मलिन मुख तो बोला कि शोच है क्या छाया ॥
क्या बोलूं मैं हे कलहंसक मेरे मन को चुरा लिया ।
अनुन्धरीने अतः मित्र मैं मरा भी न तो नहीं जिया ॥४०॥

क्या कहते हो शोचो तो– वह तनुजा तुल्य अनुज जाया ।
शोच रहा हूँ किन्तु विश्वसृष्टा की है यह सब माया ॥
तो क्या फिर उसको ले आऊं लाना मेरे हाथ रहा ।
किन्तु शोचलो कमठ जरा यह काम अधम से अधम महा ॥४१

मेरा यदि आदेश करसको करो न दो उपदेश यहां ।
भूखे को चाहिये भात फिर कहो धर्म सन्देश वहां ॥
हो लाचार गया कलहंसक अनुंधरी के यहां कहा ।
स्वास्थ्य कमठ का सहसा सुन्दरि पूर्णतया है बिगड़ रहा ॥४२

तब घबरा कर वह बेचारी एकाएक वहां आई ।
बिछी हुई थी कुटिल जेठ की हन्त जहां कि चारपाई ॥
उसे पता क्या था कि जाल है वहां नितान्त दुःखदायी ।
मृगीवधिक के ज्यों वह उसके चुङ्गल में थी फँस पाई ॥४३

हाय हाय हे जेठ महोदय पुत्री से यह कुटिलाई ।
करते हो क्या इस भूतल पर तुम्हें त्रपा न जरा आई ॥

नरकों के दुःखों का डर भी तुमको है कि नहीं राई ।
यों वह वेचारी बहु रोई थी अत्यन्त तड़फड़ाई ॥४४॥
और अधिक वह करसकती क्या अवला थी ताकि विवश थी ।
दुनियाँ अन्धकारमय उसके लिए हुई आई गस थी ॥
फिर भी उस नर राक्षस को उस पर कुछ आई नहीं दया ।
बलपूर्वक उस वेचारी का शीलरत्न हर लिया गया ॥४५॥
इधर गया कलहंस जो किसी राजपुरुष को ले आया ।
लाकर सारा दृश्य उसे उसने स्पष्टतया दिखलाया ॥
सुनी अनेकानेक बात पहले भी इसकी राजा ने ।
खोल दिए फिर कान बात इस ऐसी मोटी ताजा ने॥४६॥
इतने में ही ग्रामान्तर से आ पाया मन्त्री भी था ।
इस अघटित घटना को सुनकर हुवा बड़ा दुःखित जी था ॥
फिर भी अग्रज हैं ये जाने ऐसा कह सन्तोष लिया ।
प्रत्युत बोला नृप से कि वृथा लोगों ने है तूल दिया ॥४७॥
किन्तु भूप था जानता कि यह नीतिमान है क्या बोले ।
गृहच्छिद्रको अपने मुंह से स्पष्टतया कैसे खोले ॥
अपराधी को दण्डित करना कार्य किन्तु मेरा ऐसे ।
शोच कमठ का मुँह काला कर दिया निकाल देश में से ॥४८॥
कर तापस का ढौङ्ग रामगिरि पर वह रहने लगा अहो ।
फिर भी मरुभूति के विषय में वैर कहां क्या गया कहो ॥

शोचा करता था कि दुष्ट मरु को मैं कब मारूं कैसे।
उसके द्वारा ही मुझको ये कष्ट हुए सब हैं ऐसे ॥४६॥
चिन्तित था मरुभूति उधर भाई के दण्डित होने से।
कहां गया फिर समाचार आवे ऐसा किस कोने से ॥
पता लगा तो बोला भाई से मिलने को जाना है।
नृप ने कहा-नहीं, क्योंकि वहां कपटपूर्ण वह बाना है ॥५०
फिर भी गया एक दिन अग्रज आगे उसने शीष धरा।
उसने इसके बड़े जोर से पत्थर मारा ताकि मरा ॥
यह तो हुवा दृश्य भाई का अब भगिनी का भी सुनलो।
संसारी नाता मतलब का जिसको सुनकर तुम गुणलो॥५१
एक नगर का सेठ बहुत धनवान सत्यनिष्ठा वाला।
जिसकी स्त्री के दो सन्ताने बालक एक और बाला ॥
सुत की शादी तो जैसी होती है वैसी हुई वहां।
उसके बारे में तो कुछ भी कहना है ही नहीं यहां॥५२॥
किन्तु सुता की शादी तो अपने से भी अच्छे घर में।
उसके साथ की गई रूपादिक गुण सब थे जिस वर में ॥
दिया गया सामान सब तरह का सुन्दरतम दहेज में।
जिसकी सूची नहीं अहो क्रमवार याद है आज हमें ॥५३॥
जिसके बालक और बालिकायें अनेक हो पाई थीं।
पेज भात में भाई ने तब उदारता दिखलाई थी ॥

यों हो पाया था भाई के साथ बहन का प्रेम बड़ा ।
किन्तु इधर अब दैवराज का एकाएक चित्त बिगड़ा ॥५४॥
कहीं पाट में लगी आग तो कहीं लूट हो पाई थी।
शेष रहा वह गया एक दिन बाढ़ नदी की आई थी ॥
सारा कारबार पट्ट हुवा और न यहां कमाई थी।
देने वालों को देवे क्या पास रही क्या पाई थी ॥५५॥
नित्य नई खाने की चिन्ता से भी आकुलताई थी।
बच्चा मांगे पुस्तक पट्टी फुट मांग रही बाई थी ॥
जननी जनक वृद्ध हो पाए इनकी सेवा भी करनी।
किन्तु करे क्या पग नीचे से निकल रही थी यों धरिणी॥५६
भाई ने शोचा कि चलो अन्यत्र कहीं कुछ करने को।
हे आत्मन् क्यों पड़े कहो बेमौत यहां हो मरने को ॥
चलते चलते विचार आया देखो बहन समर्थ रही।
चलो वहीं कुछ मिले सहारा तो हो जावे काम सही ॥५७॥
गया वहाँ तो वह बोली मैं तुमको नहीं जानती हूँ।
जावो सराय में जा ठहरो यह ही ठीक मानती हू ॥
बच्चे बोले हे माँ मामा तो आखें थी दिखलाई।
इसी वेश में मामा हो यह बात नही मुझको भाई ॥५८॥
तब फिर था क्या मार्ग पड़ा उलटे पैरों उसको आना।
अपनी भूल हुई पर केवल वहां निरन्तर पछताना ॥

जब दिन उलटा हो तब तन का कपड़ा भी वैरी माना।
गया भीख लेने को भी रीता आवे न मिले दाना ॥५६॥
किन्तु दशा एक सी किसी को नहीं रहे यह दिनकर भी।
उगता है तो छिपता है फिर छिपा चान्द हो उदित तभी ॥
यह कुछ आगे बढ़ा कि बन में कहीं साधु थे मिल पाए।
दर्शन किए खुश हुवा दिल में भाग्य उदय अब हो आये ॥६०
दुरित दूर अब गए सभी हो पाऊंगा क्यों न सफल मैं।
मुनिचरणों की रज को ले बान्धी यों अपने अंचल में ॥
श्रीपुर में पहुँचा कि वहां था ऐसा सुनने में आया।
नृपसुत का अहिदंशहरे वह पावे मुँह मांगी माया ॥६१॥
जाकर देखा भूरिसपेरों ने जिसका पार्श्व गहा है।
सफल न कोई हो पाया है पुत्र अचेत होरहा है ॥
नमस्कार मन्त्रोंचारण कर वह रज जहां लगाई थी।
सोकर ही मानो उठ पाया ऐसे जय हो पाई थी ॥६२॥
है धर्म की महिमा कि देखो झट कटी सारी बला।
पाकर अतुल सम्पत्ति नृप के यहाँ से वापिस चला ॥
आया बहिन के गांव में कि सराय में ठहरा जहां।
दौड़ी चली आई बहिन बोली कि भैया क्यों यहां ॥६३॥
कोई अगर सुनले कि भाई बहिन का आया यहां।
मुझ को जगह फिर मुँह दिखाने के लिए भी हो कहाँ ॥

उठ चल हमारी साथ हम तुम को यहाँ रहने न दें।
सुरसरी के शुभ सलिल को उलटा अहो बहने न दें ॥६४॥

❀ कुण्डलियाछन्द ❀

देखा भाई बहिन का, कैसा है व्यवहार।
हन्त हन्त संसार में स्वार्थ पूर्ण परिवार ॥
स्वार्थ पूर्ण परिवार करे मतलब की यारी।
अगर न मतलब सधे वहां देता है गारी ॥
यह ही है सुन हे समर्थ जग जन का लेखा।
तुमने सोचा नहीं सिर्फ आंखों से देखा ॥६५॥

—::—

स्वेच्छया एक आता है तो दूसरा जाता है-

यह संसार सराय यहां पर जो कोई भी आया।
अपना अपना ध्येय लिए क्या पुत्र पिता क्या जाया ॥
जहाँ ध्येय पूरा हुवा कि वह गया, नहीं फिर आया।
कदली तुल्य यहाँ विज्ञों ने कोई सार न पाया ॥१॥
किन्तु यहां पर अहो मोह ने ऐसा जाल बिछाया।
जिस में इस चेतन पक्षी को इस ने खूब फँसाया ॥

मेरा मेरा कर जो इनके पीछे ही लग पाया।
आने पर तो मुदित हुआ जाने पर रुदन मचाया ॥२॥
इन में हो वियोग किसका भी योग न ऐसा होवे।
कुलदेवी की कृपा रहे जो संकट सब ही खोवे ॥
सुखी रहूं मैं सदा और यह मेरा कुटुम्ब सारा।
इसमें भी उडुगण में शशि सम सुत यह मुझको प्यारा ॥३
हृष्ट-पुष्ट कर इसे कि इसकी शादी भी करवाऊं।
नाती हों अनेक जिनको गोदी में खूब खिलाऊं ॥
इसके लिए परिश्रम कर मैं वित्त जोड़ धर जाऊं।
कुबेर से भी श्रेष्ट कोश को अक्षय कर बतलाऊं ॥४॥
ताकि इसे कर सुखी बुढ़ापे में मैं सुखी कहाऊं।
इस आत्मज की देख रेख में कभी न कष्ट उठाऊं ॥
इस ऐसे विचार में पड़ कर दौड़-धूप करता है।
आशा पिशाचिनी का दर्पण करने को मरता है ॥५॥
दीन हीन लोगों के तनु का खून चूष धरता है।
घोर पाप पाखण्ड से नहीं कभी कहीं डरता है ॥
इतना सब करने पर भी यह अहो ठगा जाता है।
अन्त आपकी भूल हुई पर मन में पछताता है ॥६॥
क्योंकि न विवाह होता तब तक कुछ कहना करता है।
किन्तु बाद में घर वाली का अनुशासन धरता है ॥

सुत कि पिता माता का उसको क्या कहना भाता है।
बात बात में अहो सामना करने लग जाता है ॥७॥

एक समय की बात है कि था एक बहुत धन वाला।
जिसने अपने परिकर को तनमन से पोषा पाला ॥
रात और दिन एक मानकर करता रहा कमाई।
सुख से बैठा रहने को क्या घड़ी एक भी पाई ॥८॥

जब कोई भी साधु सन्त आकर हित की कहता था।
तो उस पर वह आग बबूला सा हो यों रहता था ॥
तुम तो हो बेकार और हम साहूकार कहावें।
तुम्हें नहीं कुछ काम यहां अवकाश कहां से पावें ॥९॥

ऐसे अथक परिश्रम से धन सञ्चय बहुत किया था।
जिसमें से धर्मार्थ न उसने कुछ भी कहीं दिया था ॥
हां लड़कों की शादी में तो यद्यपि खर्च किया था।
भिन्न भिन्न धनवानों के घर उन्हें विवाह दिया था ॥१०॥

जिसके थे सुत सात जोकि सबही थे दृढ़ तनुधारी।
कारबार में कुशल हो चले थे विस्तृत परिवारी ॥
हां उन बहुवों में आपसमें कलह खूब होती थी।
कोई कब तो कोई फिर कब फूट फूट रोती थी ॥११॥

किस किस का मैं हुक्म बजाऊं व्यस्त बहुत हो जाऊं।
इस घर के धन्धे में मैं तो पल भर चैन न पाऊं ॥

नहीं बाप के यहां किसी का कुछ भी कहा सहा था।
प्रत्युत मेरा कहना लोगों के शिर सदा रहा था ॥१२॥

किन्तु यहां पर तो सब ही हैं आज्ञा देने वाले।
अहो जरा भी दुःखदर्द की खबर न लेने वाले ॥
रोज रोज के इस झगड़े से जब सब थे घबराये।
हो लाचार अन्त में वे सब पृथक् पृथक् होपाये ॥१३॥

जो कुछ था धनमाल बराबर सब ने बांट लिया था।
नहीं किसी ने किसी बात पर कुछ भी उजर किया था॥
किन्तु रहा अब इस बुढ़वे को कौन रोटियाँ देगा।
निर्णय इसका हुवा कि बारी बारी से खालेगा ॥१४॥

कुछ दिन तो यों चला किन्तु फिर लगी बलासी उनको।
यह थी क्योंकि न इसमें कुछ भी देख रहे थे गुनको ॥
अब तक तो खाता था उतना धन्धा कर जाता था।
किन्तु न अब कुछ कर पाता था स्वयं तरस खाता था ॥१५॥

उठने और बैठने में भी जिसे कम्प आता था।
अधिक बोलने में भी बुढ़वा अब घबरा जाता था॥
अतः भग्न घट तुल्य न कोई को अब वह भाता था।
क्या सुत क्या सुतवधू चित्त सबका ही सकुचाता था ॥१६

नाती पोते अब उसकी यों हँसी किया करते थे।
कोई भी तो नहीं जरा उससे अब वे डरते थे॥

एक खोलता काँछ दूसरा पगड़ी उछाल देता ।
कोई ले भगता लाठी यों होता विह्वल चेताः ॥५७॥
अतः पीट देता कोई को तो रोकर भगता था ।
छोकरा कि उसकी मां को तब बुरा बहुत लगता था ॥
कहने लगती मरा क्यों न यह भूत लगरहा जिसको ।
खाने को चाहिए व्यर्थ का हलवा मांडा इसको ॥१८॥
और पीटने को देखो तो सही हमारा लड़का ।
अरे बाप रे क्या बतलाऊँ यह कैसा है बड़का ॥
धीरे धीरे यों बुढ़वे से रुष्ट हो चले सारे ।
कोई भी तो पास न आवे रहने लगे किनारे ॥१९॥
किसी एक कौने में खटिया जिसमें खटमल भारी ।
कपड़े मैले बदबू वाले पूछे कौन वहां री ॥
घरके सब कोई खा लेवें तब बुढ़वे की बारी ।
कभी नहीं हो दाल वहां तो कभी नहीं तरकारी ॥२०॥
हन्त हन्त इस जीवन से तो मर जाना अच्छा है ।
बात बात में जहां तिरस्कृति किन्तु न कुछ पृच्छा है ॥
इन हरामखोरों को मैंने सौंप दिया धन सारा ।
अब हो तो क्या हो क्यों मैंने पहिले नहीं विचारा ॥२१॥
यों था सोच रहा- इतने में मित्र एक आ पाया ।
बोला- क्या है चिन्ता क्यों हैं मुँह की बिगड़ी छाया ॥

कहने की कुछ बात नहीं पैसा पास न रह पाया।
इसीलिए इन कुटम्बियों ने मुझे अतीव सताया ॥२२॥

यह जवाब सुन कहा मित्र ने क्या चिन्ता है इसकी।
मेरे पास उपाय है कि अब उषा बनेगी निश की॥

जाकर बनवाये शीघ्रतया उसने थे लासानी।
ताम्बे के नाना जेवर जिन पर सोने का पानी ॥२३॥

जिन पर इतर छिड़क रूई के फहा पुनीत लगाये।
एक मनोहर मञ्जूषा में उन्हें यथेष्ट सजाये॥
दृढ़ ताले से बन्द किये फिर वह लेकर था आया।
बोला लो सेठ जी सँभालो गुप्त आपकी माया ॥२४॥

जो मुझ पास आजतक थी फिर मैं अब घर जाता हूँ।
सूची बार निगाह लीजिये उसको दिखलाता हूं॥
एक एक को निकाल कर फिर लगा वहां बतलाने।
देखें क्या है- लगे वहां पर पुत्रादिक थे आने ॥२५॥

मन ही मन कहने लगे कि है अब भी इतनी पुञ्जी।
जिस बुढ़वे के पास अहो यह देखो कैसा मुञ्जी॥
क्यों फिर भी यह कष्ट पारहा यों परवश होकर है।
खावे पीवे मौज में रहे यह लक्ष्मी का घर है ॥२६॥

हां हम लोगों ने भी देखो कैसी की नादानी।
इसे समझ था लिया कि मानो अपस्थान की वानी॥

किन्तु कहो कब ऐसी हमने बात जान पाई थी ।
अपने अपने मन में वधुवें भी यों पछताई थी ॥२७॥

इसीलिए वे अपने अपने पतियों से यों बोली ।
नाथ? हमारी बड़ी भूल थी, किन्तु हुई सो हो ली ॥
आगे तो यह याद रहे आपको सदैव सुभे वा ।
करे बड़ों की सेवा वह ही पावे मीठा मेवा ॥२८॥

यदि इनमें से एक चीज भी खुश होकर दे देवें ।
तो हम अपने इस जीवन को नाथ? सफल कर लेवें ॥
कहीं सभी जो मिली कहो फिर तो है ही क्या कहना ।
मेरे पास न इन जैसा है एक भी अहो गहना ॥२९॥

होने लगी टहल बुढ्ढे की अब तो हद से ज्यादे ।
उसे चाहिए वह कोई भी बिना कहे ही ला दे ॥
कोई उसे नुल्हावे कोई उसके पैर दबावे ।
कोई कपड़े धोकर लावे कोई खाट बिछावे ॥३०॥

दादा लगी आपको ठण्डक कुछ भी क्यो न दवा लें ।
चलो बनाया है अम्मा ने थोड़ा हलवा खालें ॥
खूब सार सम्भाल वहां अब होने लगी जरठ की ।
जिसका वर्णन करने को यह लेखिनी यहाँ पर थकी ॥३१

ठीक है कि संसार दास है लक्ष्मी का यह सारा ।
जहाँ न लक्ष्मी की दया वहाँ प्यारा भी हो न्यारा ॥

लक्ष्मी का यदि हो प्रसाद फिर पर भी घर वाला हो।
जिसके विना मनुज वेचारा कर्महीन ठाला हो ॥३२॥
उससे भी अधिक प्रभुता फिर यहां कामिनी की है।
जिसके विना युवक को लगती सम्पद् भी फीकी है॥
जिसके चुङ्गल में फँस कर यह अहो भूल जाता है।
जन्मप्रद मातापितादि को भी न देख पाता है ॥३३॥
प्रेम पात्र यद्यपि मानव का पुत्र न कम होता है।
जिसको अङ्गज कहकर इसका मन संकट खोता है॥
किन्तु स्त्री तो लगती है इसको दुनियां से प्यारी।
कहता हे अर्द्धाङ्गिनी जिसे अङ्गना तथा नारी ॥३४॥
उसके लिए न खेने लायक को भी यह खेता है।
उसको अगर न खुश देखे तो मर पूरा देता है॥
हन्त नहीं यह शोचता कि जिसको तू कहता प्यारी।
तेरा खून चूसने को वह नहीं जोक से न्यारी ॥३५॥
सधता इसका स्वार्थ तभी तक यह करती है यारी।
किन्तु अन्त में टटोलती है तेरे धन की तारी॥
कुछ तो इससे भी आगे वढ़ती हैं देखो भाई।
पति के मार डालने को भी खोदा करती खाई ॥३६॥
किन्तु न उसके दुर्गुण को भी देख गोर लाता है।
अहो प्रेम के कारण उससे खुद धोका खाता है॥

उदाहरण इसके अनेक हम शास्त्रों में हैं पाते ।
एक यशोधर नृप का केवल तुमको यहां सुनाते ॥३७॥

पूर्वकाल में महा यशस्वी हुवा यशोधर राजा ।
सदा बजा करता था जिसके मन्दिर पर शुभ बाजा ॥
वह नीरोगशरीर सुलक्षण सुभग शुभोदय वाला ।
सौर्योदार्यधैर्यवीर्यादिक शस्तगुणों की माला ॥३८॥

राणी उसकी परम सुन्दरी यौवन में मदमाती ।
उभरी हुई गैन्द युग जैसी जिसकी महती छाती ॥
मुख मण्डल मन मोहक जिसका चन्दा सा चमकीला ।
अत्युन्नत था नितम्ब मानो मरुस्थली का टीला ॥३९॥

कटीभाग किन्तु स्वभाव से दुर्बल अतः लचीला ।
स्वर्ण घटित सा शरीर सारा कोमल पीला पीला ॥
काम केलि केलिए जहां पर सरसी नाभि बनी थी ।
मृदुलोमावलि दूर्वा जैसे जिसके पास घनी थी ॥४०॥
राजा उसकी रूपराशि को देख देख जीता था ।
चातक जैसे घनमाला के जल कों ही पीता था ॥
नयन काम के बाण सरीखे चपल और तीखे थे ।
कोमलता को कमल उसी के हाथों से सीखे थे ॥४१॥
करता था वह काम कि राणी बनी रहे यह राजी ।
फिर भी इस बारे में उसकी पेश न आई बाजी ॥

राणी का मन राजा के प्रति रहा प्रेम से रीता।
क्योंकि चित्त उसके को राज महावत ने था जीता ॥४२॥

रोज रात को राजा को थी नींद जबकि आजाती।
तब धीरे से सेज से महारानी वह उठ जाती ॥
अपने प्राणपियारे से दिल खोल वहां बतलाती।
रही कौनसी रोकथांम थी जिससे वह सरमाती ॥४३॥

कुछ दिन यों बीते कि एक दिन नींद न नृप को आई।
प्रजानिरीक्षण निरततया तनु में थकान हो पाई ॥
निश्चल था यों हुवा बोलने से भी जहाँ न बोला।
है अचेत यह राणी ने भी अपने मन में तोला ॥४४॥

वह सहसा उठ चली रोज की भांति जहां जाना था।
नृप भी उसके पीछे पीछे होलिया रवाना था ॥
देख दृश्य को भूमिपाल था मन ही मन पछताया।
अहो देखने में आई है कैसी अद्भुत माया ॥४५॥

कहां मखमली सेज और यह कहाँ फटी सी कन्था।
कहां स्वर्ण का महल कहां कूड़े से पूरित पन्था ॥
कहो कहां मैं और कहां यह पीलवान बेचारा।
अहो काम की बड़म्बनाका देखा आज पसारा ॥४६॥

किन्तु वृथा मैं खेद में पड़ा क्योंकिल पछताता हूँ।
ढङ्ग यही क्या इस भूतल पर नहीं देख पाता हूँ ॥

क्योंकि शूकरी को तो केवल पुरीष ही भाता है ।
क्या उस पगली का मानस हलवे पर ललचाता है ॥४७॥

ऐसे अपने मनको सन्तोषित कर नृप वेचारा ॥
वापिस आकर लेट रहाथा मनोव्यथा का मारा ॥
कुछ पीछे झख मारमूर कर आई जब थी राणी ।
इस रजनी में कहाँ गई थी यों नृप की सुन वाणी ॥४८॥

बोली आज पेट में कुछ भी गड़बड़ है हो पाई ।
अतः क्या करूं शौच केलिए जङ्गल जाकर आई ॥
सोचने लगा नृप कि अहो यह कैसी चाल बताई ।
मानो मैंने कुछ न किया है यों कर रही धिटाई ॥४९॥

अहो देव भी ठगे गए जिस औरत की माया से ।
कैसे पेश पासके नर फिर इस अघ की छाया से ॥
मन रखती है किसी और पर वचन किसे देती है ।
एक कटाक्ष बाण से परके मन को हर लेती है ॥५०॥

शोचा करता है मानव यह मुझ पर ही राजी है ।
किन्तु न जाने इसकी किसके लिए देह ताजी है ॥
कवियों ने है कहा इसे अबला फिर भी है प्रबला ।
जिस कुकर्म केलिए कि मानस इसका यदि हो विचला॥५१॥

फिर उस में हो कुछ भी बाधा उसे पार कर जाती ।
अपने साहस के द्वारा यह देर नहीं कुछ लाती ॥

जब हो जोरासक्त वहां खुद पति को मार गिराती ।
क्या सुततात पिता माता है कुछ भी ध्यान न लाती ॥५१॥
जिसने इस पर किया भरोसा ठगा गया वह भाई ।
इसे जिन्होंने तजा उन्ही मुनियों की है चतुराई ॥
मैं तो था शोचता कि मैं हूँ राजा मेरी नारी ।
किसे देखती होगी लेकिन झूठ रही वह सारी ॥५३॥
इस दुष्टा ने तो मुझ को भी ठगा आज है कैसे ।
मानो मैं कुछ भी न जानता हूं भोन्दू हों जैसे ॥
अहो आज तो वहा जा रहा पहाड़ भी पानी में ।
सोने की छाली भी देखो बिकी यहां वानी में ॥५४॥
था जिसको हे प्रभो बनाये हुये राजरानी मैं ।
बनी महावत की जनी यहां भड़की नादानी में ॥
क्या इसकी करणी का अब मैं इसको मजा चखाऊं ।
याद रखे जिसको यह भी मैं क्यों कायरता लाऊं ॥५५॥
अथवा क्यों मैं रोष ला रहा दोष यहां क्या इसका ।
वह वैसा करता है ही जैसा स्वभाव हो जिसका ॥
दोष हुवा मेरा कि बना मैं महामूढ़ अज्ञानी ।
कांशी को ही मूर्ख तया मैंने चाँदी कर मानी ॥५६॥
दीनदयालो ! मुझे संभालो वहा जा रहा जिन ! मैं ।
मुझे चाहिये क्या करना अब इस ऐसी उलझन में ॥

पड़ा भूप था इस विचार में तब झट पो फट पाई।
हट मिथ्यात्व दशा मानों सम्यक्त्व दशा हो आई ॥५७॥
दोषाकर था जो कि चमकता रहा तिमिर होने में।
अपना सा मुँह लिये हुए वह छिपा एक कौने में॥
पथ प्रदर्शक सूर्य देव का होगा उदय इसी से।
पहिना प्राची देवी ने था लाल दुकूल खुशी से ॥५८॥
अपने पति के पास रहे है धर्म यही पत्नी का।
चकवे के सन्निकट हो लिया था यों स्थल चकवी का॥
राज–रानियां पर नर का मुँह कभी न देखें भाई।
कमोदिनी ने अपनी आंखें यों थी मून्द बताई ॥५९॥
चुगल खोर या चोर का नहीं रहा यहाँ अब धन्धा।
यही शोच कर मानों घू घू वहां हो रहा अन्धा॥
सोते रहने का न समय अब यों अलिके छल वाला।
कमलनियों ने था अपनी आंखों में अञ्जन डाला॥६०॥
उदयाचल की गहन गुहा से निकल अर्क केशरि ने।
किया आक्रमण तमस्तोम मातङ्ग कुम्भ पर वलि ने॥
महती शोणित धारा जो उसकी थी वह कर आई।
प्रातः सन्ध्या नाम से वही भूतल पर कहलाई ॥६१॥
अब से छः घण्टे पहले था प्रलय काल सा आया।
अब नूतन रचना ने भूपर अपना रङ्ग जमाया॥

गुरु वाणी की तुल्य पक्षियों की चक चक हो पाई।
निशा राक्षसी गई प्राणियों में चेतनता आई॥६२॥

उठा भूप तब और जन्म दात्री के समीप आया।
नमस्कार कर कहा जननि ! है स्वप्न अशुभ हो पाया॥
मेरी जगह महावत को मैं देख वहाँ घबराया।
अतः शोचता हूँ कि भाग्य मेरे ने चक्कर खाया॥६३॥

ताकि तपो वन को जाऊं मैं तप कर दुरित खपाऊं।
आया तेरे पास हूं कि मैं आशिष तेरी पाऊं॥
माता बोली बेटा यह चिन्ता की बात नहीं है।
स्वप्न किसी मानव का सच्चा होता कभी कहीं है॥६४॥

फिर भी शङ्का है यदि कोई तो कुल देव मनाले।
वह सारे दुरिताक्रमणों को बातों में हर डाले॥
मेरे विचार में तप भूखे नङ्गे ही करते हैं।
ताकि इसी पथ से वह अपना उदर सदा भरते हैं॥६५

किन्च यहां तप करना यह साधारण बात नहीं है।
जहां कि शीत घाम आदिक की अड़चन नई नई है॥
तेरा यह सुकुमार शरीर सहेगा कैसे उनको।
इसीलिये है मेरा कहना छोड़ वत्स ! इस धुनको॥६६॥

नृप ने कहा कि एक तरह तेरा भी कथन सही है।
किन्तु करूं क्या अब मेरा मन लगता यहां नहीं है॥

अहो स्वप्न की बात का मुझे जहाँ स्मरण आता है ।
तो इस गेहवास से मेरा हृदय कांप जाता है ॥६७॥

दोहा–रानी ने यह सब सुना तब वह हुई सचेत ।
शोचा मेरे चरित का ही है यह संकेत ॥६८॥
अब तो मुझको चाहिये व्यर्थ न खोना काल ।
न रहे वंश न वंशरी बजे करूं वह हाल ॥६९॥

लाई दूध और दोनों को पीने को था दिया जहां ।
पीते ही माता सुत दोनों लोट पोट थे हुए वहां ॥
थोड़ी देर हाथ पैरों को फटकारा चल पुनः दिये ।
सदा के लिये अपने मनका मनमें ही वृतान्त लिये ॥७०

यद्यपि कोई कोई बनिता पतिव्रता भी होती है ।
जो अपने नर के कहने में चल निज कष्मल धोती है ॥
पति के सोजाने पर उसको पग चम्पीकर सोती है ।
अपयश के खोनेको नित्य प्रयत्न शीला होती है ॥७१॥

उसके उठने से पहले उठकर घर धन्धा करती है ।
अभ्यागत आदिक का स्वागत करने में मति धरती है ।
रोगादिक आने पर दवादि का प्रबन्ध कर सकती है ।
मृदु सम्भाषण के द्वारा मानव का मन हर सकती है॥७२
फिर भी पीड़ा तो उसकी उसको ही सहनी पड़ती है ।
जहां कि पामादिक होकर इस मानव की तनु सड़ती है ॥

इसी तरह से कुटुम्ब का भी कोई सज्जन होता है ।
तो इसके कष्ट को देख कर मन ही मन में रोता है॥७३
अपने पैसे से वह इसकी भर सक सहाय करता है ।
अपनी करनी का फल तो यह किन्तु आपही भरता है ॥
अतः बन्धु मोह में फँसकर कोई कभी अनर्थ करे ।
केवल उनके लिये कहो क्यों अपने हितको भूलमरे॥७४॥

कुण्डलियां-जिन वाणी का है यही मित्र सुनो व्याख्यान ।
अभिरुचि परोपकार में निज हित का हो ध्यान ।
निज हित का हो ध्यान करे फिर विलम्ब कैसे ॥
तजे नहीं क्यों जगविभूति को विभूति जैसे ॥
बैठे एकान्त में अकेला निवृति राणी ।
करे प्रीति आ पास कह रही है जिन वाणी ॥७५॥

—()*()—

मानव शरीर का हाल—

हे नाथ आज मेरे, यह बात कान आई ।
मुझको हुवा अचम्बा, जो मित्र ने सुनाई ॥
पामादि देह में हो, सो क्यों ? मुझे बता दो ।
जब ठीक ठीक खावे, पीवे जरा जता दो ॥१॥

देखो कि आज तक है, माथा न दूख पाया।
मेरा यतः गुटाला, मैंने न कुछ मचाया॥
खाता यथा समय मित, हूँ भूख जब कि लगती।
करता नहीं जरा भी मै हूं वयस्य ! गलती ॥२॥

हू टहलता यथा विधि, फिर लेट हूँ गलाता।
है प्यास जब सताती, तो नीर पी बताता॥
यदि चित्त चाहता है, हूँ धाम देख आता।
है मृत्य आदिकों का, जिस ठौर खूब तान्ता ॥६॥

जब हो थकान तनु में, देरी नहीं लगाऊं।
जा सेज पर सयाने ! विश्राम खूब पाऊं॥
स्वय मेव ठीक वेला—में किन्तु चेत जाऊं।
यों नियमवद्ध सारा, ही समय मै विताऊं ॥४॥

तनु चुस्त इस तरह से, मस्तिष्क तेज ताजा।
होकर रहूँ तथा मैं ज्यों सार्व—भौम राजा॥
क्यों रोग शोक होवे, ले देख तू जरा जा।
मेरे मकान पर है, बजता सदैव बाजा ॥५॥

जो मूढ धीठता से, निस्सार चीज खावे।
भोजन तथा समय पर, समुचित न दीन पावे॥
जो स्वैर हो समय को, आलस्य में गमावे।
वह भूल आप की से, क्यों किल न रोग पावे ॥६॥

उसने कहा कि देखो, क्या तुम न हो परखते ।
दश जीव हैं सदन में, रुचि भिन्न भिन्न रखते ॥
इच्छानुसार पाया, भोजन यथेच्छ खाया ।
वरनापि पेट भरना, हो भूख ने सताया ॥७॥
है भूख और भोजन, तैय्यार हो न पाया ।
रुकना वहाँ पड़ेगा, न कि जो प्रसङ्ग आया ।
भोजन बना हुवा है, फिर वेग ने दबाया ॥
आना पड़े वहां जा ऐसी विचित्र माया ॥८॥
तेरे समान कोई, था भूप और मन्त्री ।
मेरे समान उसका, नृप ने कहा कि मन्त्रिन् ? ॥
मैं हूँ बड़ा मिताशी, मेरा स्वभाव ऐसा ।
है अधिक अल्प खाना, अन्याय मार्ग जैसा ॥९॥
कुछ रोज बाद नृप को, न्योता दिया सचिव ने ।
व्यञ्जन जहाँ बहुत से, थे मनो मोहक बने ॥
बोला नरेश मुझको, दो दाल और फुलकी ।
कुछ भी नहीं जरूरत इस और अन्न कुल की ॥१०॥
पहिले उसे अतः था वह ही गया जिमाया ।
अब था जहां कि राजा, भर पेट जीम पाया ॥
देखो जरा इसे है, हलवा गया बनाया ।
हम भी न खा सकेंगे, यदि आपने न खाया ॥११॥

कह इस तरह सचिव ने, थोड़ा उसे चखाया।
हो बाध्य भूमि पति ने, भी था जिसे कि खाया॥
अम्बा सतीश की ने, है प्रेम से बनाया।
कुछ लीजिये इसे भी, गुलकन्द यों खिलाया॥१२॥
मेरे न हाथ से क्या, लेगें सुसाधु सेवी।
यों बोल कर जलेबी, दे गई एक देवी॥
जिसमें अनार दाना,—दिमनोज्ञ चीज नाना।
लीजिये जरा चटनी, हो जीर्ण ताकि खाना॥१३॥
यह है पुनीत ताजा, खावे अवश्य राजा।
इसको कि जोर दे यों था दिया झगिति खाजा॥
मतलब कि खूब ही था भूमीश को खिलाया।
फिर अमृत यों बता कर था दूध भी पिलया॥१४॥
चीजें अभी बहुत सी, हैं रह रहीं बकाया।
जिनमें कि आपने नृप ? है अंश भी न खाया॥
नृप ने कहा सचिव जी, कैसा कि बेहया हूं।
आ बात आपकी में, मैं खूब खा गया हूँ॥१५॥
इस जठर में हमारे, जल को जगह नहीं है।
मित–भोजिता कहूं क्या, वह दूर हो रही है॥
इस मर्त्य जीवनी में, ऐसे प्रसङ्ग ढेरों।
क्या प्राप्त हैं न होते, तुम ही गुणीश ? हेरो॥१६॥

अब हूँ तुम्हे सुनाता, वार्ता विहार की, को।
इस ही तरह सुनो तो, कर सावधान जी को ॥
माना कि होश में हो, तुम जारहे इधर से।
फिर मूढ़ दूसरा है, जो आरहा उधर से ॥१७॥
अपनी अयोग्यता से, संघट्ट आ लगावे।
तुम से कहो वहाँ क्या, होने उपाय पावे ॥
लड़ने लगें परस्पर, पशु दो खड़े खड़े ही।
आ गिरे वे अचानक, करे क्या वहां देही ॥१८॥
सोता जहां कि नर है, छत आद्धि टूट करके।
सहसा न आ पड़े क्या, तनु पर शरीर धरके ॥
फैले हवा विषैली हो रहे देह मैली।
मलमूत्र आदि की जो है बनी स्वयं थैली ॥१९॥
इस तरह से बहुत से, कारण कलाप होते।
हैं दीखते कि जिन से, मानव सदैव रोते ॥
अनुकूल साधनों का, सद्भाव हो तथापि।
सड़ रहे आप से भी, यह मर्त्य देह पापी ॥२०॥
इसका स्वभाव ही है हे मित्रवर्य ऐसा।
अब अधिक मैं कहूं क्या, जल का कि तरल जैसा ॥
है आज तो जवानी, मुदिराधिकार बानी।
अतएव दीखती है, तुमको न अकनिशानी ॥२१॥

वैशाख तुल्य होगा, वार्द्धक्य तब न पानी ।
यह रहेगा; बढ़ेगी, तृष्णा महाघनानी ॥
जो देह है गँठीला, हो रहे वही ढीला ।
मुख कान्तियुत सजीला, वह शुष्क वहां पीला ॥२२॥

जो केश आज काले, शिर के कि भँवर वाले ।
चैत्र में धान्य की ज्यों श्वेतता वहाँ आले ॥
जो उदित हो चढ़े रवि, दोपहर तक सुबह से ।
फिर गिरा देख उसको, यह मूर्ख मानव हँसे ॥२६॥

है हाल यही मेरा, शोचे न किन्तु मन में ।
होती न पूछ कुछ है, जरठ की प्रजा जन में ॥
यौवन छके इतर जन उपहास कर सताते ।
खुद के न अङ्ग इसके, हैं काम कर बताते ॥२४॥

होने लगे जरा से, सर्वत्र सन्धि पीड़ा ।
मानो शरीर तरु में, लग रहा कुटिल कीड़ा ॥
श्वासादि आमयों की, है बाढ़ तुल्य आती ।
कफ के विकार से हो, संव्याप्त जहाँ छाती ॥२५॥

नीरस शरीर तरु को, है वायु बहु कँपाती ।
जिस पर कि सज्जनों को, करुणा सदैव आती ॥
है रोग दुःख देता, जैसा विकार विष का ।
होता न वृद्धता से, उतना बिगाड़ इसका ॥२६॥

धरती यथा समय है यह तो मनुष्य तन को।
हां रोग है दबाता, सहसैव किन्तु जन को ॥
घिसती शनैः जरा है, रज्जू यथा दृषद को ।
घनकी समान आमय दे तोड़ किन्तु इसको ॥२७॥

जाने जिनेश होगा, कब कौन रोग किसको ।
हम और तुम सरीखे, कह सकें नहीं इसको ॥
दृष्टान्त एक इसका, तुमको बता रहा हूँ ।
चक्री सनत्कुमार प्रति चित्त लारहा हूँ ॥२८॥

जिसके शरीर की थी, की इन्द्र ने बड़ाई ।
सौन्दर्य उस सरीखा है और में न राई ॥
कवि की सुलेखिनी भी जिसको न बता पावे ।
जिसको कि देख विस्मय पर कौन नर न आवे ॥२९॥

है कौन वह चितेरा जो इसे लिख दिखावें ।
यह जीभ भी उसे फिर किस तरह कह सुनावे ॥
हो गए और होंगे, हैं भी अनेक ऐसे ।
जो बने रूप में हैं, श्री कामदेव जैसे ॥३०॥

उस चक्रिशक्र जैसा, तो कांम भी नहीं है ।
कोई हुवा न होगा, उस तुल्य न च कहीं है ॥
इस बात को सुनी तब, दो देव उठ चले थे ।
अपने विचार से जो, आश्चर्य में रले थे ॥३१॥

देखें कि वहां कैसी, हैं रूपराशि ऐसी ।
निज जीभ ले बताई, सुरनाथ ने कि जैसी ॥
सम्भव कि इन्द्र का वह, हो प्रिय तथा हितैषी ।
अतएव कर बताई, हा व्यर्थ बात ऐसी ॥३२॥
आये उसी समय वे, श्री हस्तिनागपुर में ।
कौतुक लिए हुऐ थे, अपने पुनीत उर में ॥
धर लिया था उन्होंने, सहसैव वृद्ध चोला ।
चक्रीश की कृपा से, दरबान ताकि बोला ॥३३॥
आइये, महाराजा, हैं महल में विराजे ।
जाइये वहां सुख से, बज रहे जहां बाजे ॥
कर नमस्कार बैठे, आ पास चक्रपति के ।
तब वाक्य यों हुये थे, आतिथ्य पूर्ण मति के ॥३४॥
जिनको कि देख मेरी, यह चित्तवृत्ति हरषी ।
वह कौनसी हुई है, सारसविहीन सरसी ॥
आपके विना, क्यों फिर, है किया धन्य मरु को ।
आपने भी कहें तो इस हत प्रेम तरु को ॥३५॥
भेंट में वाक्य मोती, नृप को कि वहाँ ये थे ।
साश्चर्यवारि चित्ता,—म्बुधिधरों ने दिए थे ॥
आपकी रूपराशि, प्रतिदर्शनाभिलाशी ।
आपके निकट हैं ये, हम दूर देश वासी ॥३६॥

जब चले थे युवाथे, वार्द्धक्य धार पाये ।
अब आप ही विचारे, हैं कहा से कि आये ॥
केवल वहाँ हमारे, कानने नाथ ! पाई ।
आपके इस अलौकिक,–सौन्दर्य की बड़ाई ॥३७॥

फिर आँख यों रहे क्यों, पाये विना मिठाई ।
इसलिये यहां आना, है हुवा सुजन साई ॥
फिर कलह किन्तु दूनी, वह हुई है न ऊनी ।
नेत्रने अधिक पाई, मानो मिली कि सूनी ॥३८॥

चाहा तृपा मिटाना, इस वृद्ध चित्तनें था ।
लावण्य यहां ऐसा, यह पता क्या इसे था ॥
अब और भी बढी है, वह इस वराक की हा ।
हम करें क्या विभो भो, यह ही यहां समीहा ॥३९॥

उन्मत्त बन रहा है, मानस अहो हमारा ।
जग को प्रमाद कारी, पी रूप यह तुम्हारा ॥
क्या ही मनोज्ञ मुख है, जिसको कि देख सुख है ।
है भाल विशद कैसा, कान्ति का जहाँ रुख है ॥४०॥

देखो उठे हुये ये, मृदु गाल है गुलावी ।
जिनमें भरी हुई है, सौन्दर्य की नवावी ॥
यह उरस्थल नृपति का, कितना विशाल दृढ है ।
माना हुवा महीपर, श्री के लिये कि गढ है ॥४१॥

शाखा सुरद्रु कीसी, लम्बी अहो भुजायें ।
हम सभी क्या न मिलकर, जिनका कि सुयश गायें ॥
ग्रीवा वितस्ति से तो नापी न जा सकेगी ।
है कौन जीभ जग में, महिमा कि जो कहेगी ॥४२॥

देखा जरा कि भोयें, बन रही हैं सजीली ।
स्मर कीरचंचु जैसी, यह नाक भी नुकीली ॥
ये चरण कमल कोमल सौभाग्य सरोवर के ।
हैं भाग्यवान बनते नर जिन्हें शीषधर के ॥४३॥

एक से एक बढ कर, अवयव सुचारु सारे ।
जिनके विपुल कथन में सुर राज सही हारे ॥
है रूप यहां ऐसा, अन्यत्र नहीं वैसा ।
जिसके सुभाग आगे, स्मर नीर भरे जैसा ॥४४॥

वह कौन हुआ माली, जिसने कि नीव डाली ।
इस सुतरु की अहोछवि, यह विश्व से निराली ॥
जिसको कि देख आखें, ये सफल हैं हमारी ।
जो ढूंढ धरें उपमा, हो वही यहाँ गारी ॥४५॥

इस तरह देख सम्प्रति, वह सुभग वारि बरसा ।
हो रही चक्र-पति को, थी मनो-मही सरसा ॥
मुझ तुल्य अहो मेरे, इस रूपने कि पाई ।
चक्रिता ताकि देखो, है दूर तक चढ़ाई ॥४६॥

अङ्कुर घमण्ड तरु का, उत्पन्न हो रहा था।
उस चक्र नाथ ने तब, इस तरह से कहा था ॥
उन सत्प्रवासियों से, कि--न चकित हो इसी से।
यह तो नकुछ यहां है, तुम पूछलो किसी से ॥४७॥

मुझ ठीक रूप पर भो, पड़ रहा किन्तु पड़दा।
अभ्यङ्ग मर्दका है, इस देह मे कि कड़दा ॥
मैं स्नान कर चुकूं फिर वस्त्रादि पहन लेऊं।
बैठूँ कि जा सभा में, अवकाश वहां देऊं ॥४८॥

मुझ रूप को तुम्हारा, मन देखकर छकेगा।
उस समय पर नहीं फिर, कुछ धैर्यधर सकेगा ॥
यों बोलकर उन्हें तो, दिलवा दिया उतारा।
था इधर चक्र पति ने निज देह को सिगांरा ॥४९॥

सत्तम तनुत्र पहना, भले से भला गहना।
शिर तिल का भी लगाया, था सुप्रसन्न रहना ॥
आस्थान मैं सदासन पर जब कि आविराजे।
छत्रादिसब यथोचित, होलिये बिन तकाजे ॥५०॥

मन्त्री तथोपमन्त्री, समान्त आदि सब ही।
थे यथा स्थान बैठे, थी जरा कमी न रही ॥
तब उन विदेशियों को झट ही गया बुलाया।
उनने किया निरीक्षण, तो शीपधुन बताया ॥५१॥

चक्रीशने कहा तब, कहिये कि बात कैसी
अब और तब विभोहे, सरसों सुमेरु जैसी ॥
सज्जनो ठीक है अब, है सुघड़ बदन मेरा ।
ननु नाथ ? यहां उलटा, है दिवस से अँधेरा ॥५२॥

भ्रम हो रहा यहां है, पर देशियों ! तुम्हे तो ।
ननुठीक कह रहे हम, हैं नाथ आप चेतो ॥
हे प्रभो उस समय था, नीरोग देह सारा ।
अब बिगड़ वह रहा है, अन्दर अहो तुम्हारा ॥५३॥

अङ्कुरित हो चुके हैं, कुष्ठादिरोग इस में ।
सोलह बड़े भयङ्कर, सन्देह यहां न हमें ॥
थूकें कि आप अपनी, इस पीक पान की को ।
स्वर्ण की थालिका में, फिर देखिये उसी को ॥५४॥

कुछ देर ढका रखकर, तो आप ही कहेंगे ।
है ठीक बात मित्रों!, यों सत्य को गहेंगे ॥
क्या देर थी वहां फिर, जब किया गया वैसा ।
वहु कीट दीख पाये, तब शोच हुवा ऐसा ॥५५॥

अभिमान रूप का था, मुझको कि मैं बका था ।
ये ठीक कह रहे थे, फिर भी न मैं थका था ॥
देख लो पलक भर में, वह धूल सब हुवा है ।
यह देह अहो प्यारे, व्याधियों का कुवां है ॥५६॥

धिक्कार रूप मद को, धिक्कार देहि पद को ।
फिर बार बार धिक् हो, इस राज्य भूति नद को ॥
जो समय पर दगा दे, ज्यों इन्द्र जाल वस्तु ।
इसमें न भूल पाये, स्याबास उन्हें अस्तु ॥५७॥

समझ रहा था मैं मेरा यह परिकर सारा ।
सचिव शूर सामन्त साहु सज्जन सुत दारा ॥
किन्तु यहां है कौन आज वह मेरा प्यारा ।
जो कि मुझे दे इस विपत्ति मे जरा सहारा ॥५८॥

पर देशी भी आ पहुंचे ये बद कर सट्टा ।
सुना जब कि मुझ को था इनने हट्टा कट्टा ॥
किन्तु यहाँ हो गया जहां मुझ तनु में वट्टा ।
छूवेगा क्या कोई मेरा कहो दुपट्टा ॥५९॥

साथी सब ये हुये अहो खाण्ड की ·डली के ।
कष्ट सहूँगा मं मेरी इस देह गली के ॥
दीख रही यह मुझे व्यर्थ की नाते दारी ।
मेरा कह है फँसा हुवा जिसमें संसारी ॥६०॥

मुझे आ गई बात याद वह एक पुरानी ।
जो डंके की चोट कह रही है जिन वाणी ॥
था कोई भी सेठ और उसकी सेठाणी ।
महा रूप की खानि यथा, रति पतिकी की राणी॥६१॥

वह करता था प्रीति सेठ उस सेठाणी से ।
तन मन धन से सदा इन्द्रवत इन्द्राणी से ॥
थोड़े दिन के बाद रहा उसको कि गर्भ था ।
उसका वह निस्सार हो रहा देह सर्वथा ॥६२॥

कुटिल काल की चाल से यहां बेचारी के ।
हो पाया था कोढ़ मदन की फुलवारी के ॥
किया गया उपचार किन्तु पाई न सफलता ।
रूठ रहा हो दैव वहां क्या उपाय चलता ॥६३॥

अपने घर से दी निकाल उसको कि साहुने ।
उसके मुख शशि को छूहा था क्योंकि राहुने ॥
रहा नहीं था अतः कहीं अब उसे सहारा ।
क्योंकि दैव ने निर्दयता से रूप विगारा ॥६४॥

कौन इसे दे भीख भी कहां अब यह जावे ।
जो भी देखे इसे उसे ही घिन हो आवे ॥
बड़े कष्ट से इसने अपने दिवस बिताये ।
इसी बीच में इसके दो बच्चे हो पाये ॥६५॥

एक साथ सुत सुता उन्हें यह कैसे पाले ।
देखे निज तनु और या कि उनको सम्भाले ॥
अतः एक को इधर अन्य को उस पुर दर में ।
रख आई इस तरह चित्त था किया शवर में ॥६६॥

भिन्न भिन्न दो सेठ ले गये उन्हें उठाकर ।
पाला पोषा लाड चावसे था अपने घर ॥
उनको ऐसे वर्ष-शोडषी ने अवगाहे ।
दैव योग से आपस में वे गये विवाहे ॥६७॥

एक रोज जब उनके घर थे श्री मुनि आये ।
दिव्य दृष्टि से उनने इनके हाल बताये ॥
हम हैं दोनों बहन और भाई मा जाये ।
हन्त हन्त ऐसे जाना तब थे घबराये ॥६८॥

बिगड़ चुकी थी खीर किन्तु हो क्या पछताये ।
हां आगे के लिये दूर दोनों हो पाये ॥
इधर सुनो अब बात जोकि इन की माता थी ।
इन्हें डाल कर गई उसे आई साता थी ॥३६॥

अपने आप देह उस का अब कञ्चन कासा ।
धीरे धीरे होलिया कि थी हुई दिलाशा ॥
देखो नर की जाति यहां स्वार्थ से भरी है ।
मेरे पति ने मुझे किस तरह से बिसरी है ॥७०॥

जब थी चङ्गी मैं कि लगा करती थी प्यारी ।
तिलक शील के लिये यथा केशर की क्यारी ॥
किन्तु जहाँ मेरे तन में आई बीमारी ।
वैसे ही मैं बगा दी गई जूठन दारी ॥७१॥

अतः आज मैं उसका बदला ले बतलाऊं ।
उसी स्वार्थ धर मर्त्य जाति को ठग कर खाऊं ॥
इसी तरह की बुरी वासना थी जहां जगी ।
नित्य नये के तन धन वृष को लूटने लगी ॥७२॥

एक रोज धन देव जोकि इस का लड़का था ।
उसका भी मन काम वासनासे भड़का था ॥
वह भी आया पाप कथा पूरी करने को ।
इसी कुई के नीर से पिपासा हरने को ॥७३॥

दोनों का मन एक हो लिया कर्म योग से ।
कटने लगी रात्रियां उनकी थी कुभोग से ॥
ताकि एक लड़का उनके फिर हो पाया था ।
प्रीतिदत्त यह नाम उन्होंने ठहराया था ॥७४॥

धनदेव की सोदरी को तो था मिल पाया ।
सत्सङ्ग कि उसने साध्वीपन को अपनाया ॥
दीव्यबोध भी था हुवा अतः आई दौड़ी ।
वहां जहाँ उन दोनों की रहती थी जोड़ी ॥७५॥

उसने आकर दिया बोध उन को भी ऐसा ।
किसका किसके साथ हो रहा नाता कैसा ॥
इसी जन्म में इतर जन्म का क्या फिर कहना ।
कवि कहता है हन्त नहीं भोगों में बहना ॥७६॥

नरतनु पाकर भी भोगों में ही यदि खोया।
तोड़ हार को सूत के लिये, वह नर रोया॥
हां जिसने भी योग को यहाँ पर अपनाया।
दूर किया भव रोग को, सुखी वह हो पाया ॥७७॥

यों विचार कर चक्र नाथ ने घर था छोड़ा।
बन वैरागी साधुजनों से नाता जोड़ा॥
किया घोर तप ताकि ऋद्धियां थी हो पाई।
फिर भी तनु में रोग न उसकी चिन्ता आई॥७८॥

इसी बात की फिर प्रशंसा की सुरपति ने।
किन्तु न माना उसे उन्ही देवो की मति ने॥
आकर दोनों अतः टहलने लगे वहां थे।
सनत्कुमार मुनीश विराजे हुये जहां थे॥७९॥

मुनि ने कहा कौन तुम कैसे घूर रहे हो।
हम हैं भिषग् मुनीश रुग्ण हो आप रहे हो॥
करते हैं निःशुल्क दवा हम सब रोगों की।
नहीं हमारे पास कमी उन उन योगों की॥८०॥

यह उनकी सुन बात मुनिप फिर बोले वाणी।
जन्म मरण की व्याधि मुझे है बड़ी पुराणी॥
नहीं हमारे पास नाथ ! उसका इलाज है।
वह तो हम लोगों के भी लग रही आज है॥८१॥

शारीरिकरोगों की हम औषधि करते हैं ।
जिनसे संसारी मानव सब ही डरते है ॥
मुनि बोले है कौन बड़ी यह बात बताओ ।
जिस पर तुम अपने मन में यों घमण्ड लावो ॥८२॥
ये सब तो हैं यहां थूक से ही मिट जाते ।
इनसे ज्ञानी लोग नहीं कुछ भी घबराते ॥
यों कह अपना थूक लगाया निज अङ्गुल से ।
हुई स्वर्ण की भाँति वहाँ तब देव थे हँसे ॥८३॥
अहो धीरता महावीरता बड़ी आपको ।
हम लोगों की मति मुनीश ? है किन्तु पाप की ॥
किया आपका यशो गान था सुराधिपति ने ।
किन्तु नहीं माना था हम लोगों की मति ने ॥८४॥
किन्तु हुवा है, हमें आज विश्वास बड़ा ही ।
सुराधीश है महाराज वह समुचित राही ॥
उसने जो था कहा नाथ ? मण में से कण था ।
नहीं आपकी महिमा की हो वचन से कथा ॥८५॥
मुनि बोले फिर बात यहां क्या महिमा की है ।
क्यों कि भिन्न है देह भिन्न यह चेतन जी है ॥
है शरीर का काम सहज में गलना सड़ना ।
पुद्गल यह जड़ रूप सज्जनों ? किन्तु न जड़ ना(जीव)॥८६

भूल है कि यह मान रहा इसको अभिन्न ही।
अज्ञानी जन अहो मोह को छोड़ता नहीं ॥
इस दुनियां में एक दुःख की बात यही है।
इसको वरना नहीं कष्ट का नाम कहीं हैं॥८७॥
धोता इसको पोंछता तथा बार बार है।
शोचे नही कि तू क्यों इतना कष्ट कार है ॥
तू है इसे लडाता यह फिर है इतराता।
खाता पीता भी तो यह है गिरता जाता ॥८८॥
तू तो इसके सँभालने में ही है अन्धा।
तेरे लिये न दूसरा रहा कोई धन्धा ॥
तू इसकी ही उधेड़ बुन में है लग पाया।
खुद को तो हे आत्मन् तूने यहां भुलाया॥८९॥
एक बार दश मित्र गये थे तीर्थ नहाने।
जहाँ लग रहे थे कि लोग भी आने जाने ॥
एक साथ वे दशों मित्र जल में घुस पाये।
डुबकी लेकर उसमें वे थे खूब नहाये ॥९०॥
निकले तब था गिना कि नो हैं एक है कहां।
आये तब थे दश रह पाये हन्त नो यहां ॥
यों सब ने था गिना सभी शोच में बहे थे।
वहीं एक थे साधु जोकि सब देख रहे थे॥९१॥

कहा उन्हों ने खुद को तो तुम हो भूल रहे ।
इसी लिये इतनी देरी तक कष्ट हैं सहे ॥
यही हाल संसारी का यह भूल आप को ।
पर के लिये किया करता है घोर पाप को ॥६२॥

❀ कुण्डलिया ❀

सुना परम उपदेश को धन्य धन्य कहदेव ।
गये आपके स्थान पर रहे मुनि स्वयमेव ॥
रहे मुनि स्वयमेव लीन होकर अपने में ।
लगे हुये थे जो कि घोर तप के तपने में ॥
हृत्तन्त्री से कर्म तूल को खूब था धुना ।
पाया वह सुस्थान नाम जिसका कि शिव सुना ॥६२॥

-:❀❀❀:-

❀ आत्मतत्व–सम्प्रत्यय ❀

हे मित्र बात विचित्र ऐसी क्या सुनाते हो मुझे ।
मालूम होता है कि कौतुक लगा है कोई तुझे ॥
क्या मैं कहाने योग्य कोई देह से पर चीज है ।
इस देह में निःश्वास केवल यही जीवन जीव है ॥१॥

यदि देह से है भिन्न चेतन दीखता है क्यों नहीं।
आता तथा जाता किसी को भी कदापि कहो कहीं॥
यह जन्म से मरणान्ततक ही दीखता सब खेल है।
पृथिवी जलादिक पञ्च भूतों का विलक्षण मेल है॥२॥
कारण सदृशही कार्य होता है विलक्षण तो नहीं।
है पञ्च भूतों में न चेतनता किसी में भी कहीं॥
फिर वर्णरस गन्धादिता भूताधिकारों की धरा।
होती न वह है ज्ञान में तुम शोच कर देखो जरा॥३॥
उसने कहा क्या मुनि न जीवित रहे प्राणायाम से।
निःश्वासका अवरोधकर जो धन्य हैं जिन नाम से॥
है ज्ञान जिसका धर्म वह चेतन अनादि अनन्त है।
इस देह में बस रहा जैसे नीड में कि शकुन्त है॥४॥
है ज्ञान गुण हो नहीं सकता पञ्च भूतों का कभी।
जिसका न उनके साथ में अन्वय तथा व्यतिरेक भी॥
हम देखते हैं एक नर को कृश तथा ज्ञानी महा।
फिर दूसरा है हृष्ट पुष्ट तथापि भोन्दू हो रहा॥५॥
हो ज्ञान गुण यदि देह का तो एक मां के उदर से।
पैदा हुये सुत भिन्न भिन्न विचार वाले क्यों लसे॥
है जोडलों में भी परस्पर भेद हमको दीखता।
वह हुवा कैसे तथा क्यों यह भी मुझेतुम दो बता॥६॥

अत एव है निश्चित कि जो जैसा कर्म कर आरहा ।
अपने पुराभव में कि वह वैसा यहां पर पा रहा ॥
है पथ्य भोजी किन्तु फिर भी उसे रोग सता रहा ।
दूसरा हन्त विरुद्ध भोजी स्वस्थ दीख रहा अहा ॥७॥
एक को हैं वतला रहे फिर भी न कुछ है आ रहा ।
कोई इसारे मात्र में है विज्ञ होता जा रहा ॥
है एक बैठा खा रहा श्रमकर न पर है पा रहा ।
इत्यादि फल सब पूर्वकृत का दृष्टि पथ है हो रहा॥८॥
जैसा किया वह पा रहे हैं और आगे के लिये ।
जैसा करेंगे वह भरेंगे समझ लो अपने हिये ॥
सन्तोष पूर्वक सरल जीवन विताने वाला यहां ।
होगा अगाडी जन्म में भी अहो मानव वह वहाँ ॥९॥
अन्याय और अनर्थकर के लिये देखो नरक है ।
जा कर वहां स्वकृरतावश घोर संकट वह सहे ॥
वंचना चुगली आदिमाया चार की बातें करे ।
वह मर्त्य मरकर नियम से हे मित्रवर पशुनत धरे॥१०
अन्धे मनुजको देखकर उपहास उसका यदि करे ।
सुन बाल उत्तर काल में वह अलोचनता को धरे ॥
बोली सुरीली अहो मेरी गर्व यह मन में धरें ।
जो कहे कुछ वृद्धादितो वक्रोकिता उनको करें ॥११॥

निज वचन कौशल से इतर नर को सदा ठिगता फिरे।
उस पाप से यह आप ही फिर मूकता द्वारा घिरे॥
पूछे पथिक पन्था वहाँ उलटा बता देवे उसे।
लूला तथा लँगड़ा बने वह जीव ऐसे पाप से॥१२॥
जो सतत झूंठ लेख लिख है दूसरों को ठिगरहा।
वह बने टूटा बदन ऐसा जैन वाणी में कहा॥
जो साधुवों की करे निन्दा देख उनके बदन को।
कुष्ठादि आमय हैं सताते अहो ऐसे कुजन को॥१३॥
निजदेह की ही सजावट में जो जुटा रहता यहां।
वह है महाशय समझ लो तुम भामिनी होगा वहाँ॥
दुहितादिके भी साथ में व्यभिचार करना चाहता।
वह हींजड़ेपन को धरातल पर अहो अवगाहता॥१४॥
जो दूसरे जन की जनी को वहन जननी तुल्य ही।
देखे कदाशय चित्त में अपने न आने दे कहीं॥
सहयोगिता में विपक्षों की जो स्वजीवन सार दे।
है वह पुरुष होता यही तुम कह रही हो शारदे?॥१५॥
अपने लिये व्रत को कि जो है पूर्ण कर बतला रहा।
प्रत्येक उत्तम कार्य में स्वविवेक को जतला रहा॥
जिसका कि मानस दया के रससे भरा होवे अहा।
वह यहां से है स्वर्ग जाता यही जिन जीने कहा॥१६॥

हां जो किसी व्रत शील में भी ढील वतलाता कहीं।
जिसकी कि ऐहिक वासना निःशेष हो पाई नहीं॥
तो असुर होकर सुरवरों की टहल करता है वही।
अपनी कमी उसको वहां पर भी सतावे क्यों नहीं॥१७॥
यह कैमरा है मन हमारा जोकि आत्मसमीर में।
ले वासना जिस वृत्त की यह कह रहा हू धीर ! मैं॥
प्रतिविम्ब वैसा वहां पर सम्पन्न करता आप है।
साथी न कोई दूसरा, यदि है सुकृत या पाप है॥१८॥
जाता हुवा वह दीखता है नहीं यह तो ठीक है।
फिर नहीं दीखे वह नहीं है यही वात अलीक है॥
है हवा भी क्या दीखती जिसको सभी हैं मानते।
इस भूमि मण्डल पर यतः हैं उसे छूकर जानते॥१६॥
प्राणेशको भी इस तरह से हैं सुजन अनुमानते।
निज मानसिकसद्बोध से तो खूव ही पहिचानते॥
जो जानने के योग्य जैसे उसे वैसे जानना।
फिर विशेषज्ञों के वचन को भी यहां पर मानना॥२०॥
भूतादि अपने पूर्व जन्मादिक वताते हैं सही।
फिर भी हमारी धृष्टता हैं जो उसे सुनते नहीं॥
संस्कार वश हो जीव यह नाना शरीरों को धरे।
नर सुर तथा पशु नारकीय भवान्तरों में अवतरे॥२१॥

श्री विजयपुर का एक बाहुजवर महेश्वरदत्त था।
थे वृद्ध माता पिता उसके तुम सुनों उसकी कथा॥
घर के सभी मांसाशनादिक में कि सुख थे मानते।
है धर्म किसका नाम यह तो वे नहीं थे जानते॥२२॥

वह जुटा रहता गेह धन्धे में महेश्वर दत्त था।
चौबीस घण्टों में दिवस के बैल कोलू का यथा॥
माता पिता यद्यपि नहीं कुछ किया करते काम थे।
थे किन्तु तृष्णा में फँसे करते नहीं विश्राम थे॥२३॥

अब कुछ दिनों के बाद बुढवा हो चला जब रुग्ण था।
बहु वैद्य बुलवाये गये फिर मिट न पाई थी व्यथा॥
बोला महेश—करो उपाय कि पिता को आराम हो।
मेरी सफल हो कामना फिर आपका भी नाम हो॥२४॥

कुछ भी लगे न करूं कसर मैं यहां पैसे के लिये।
है की कमाई बाप ने फिर हाथ मुझको भी दिये॥
तब कहा वैद्यों ने मरण के रोग की न उपाय है।
यह एक दिन आती सभी को अटल एक बलाय है॥२५

बोला महेश कि हे पिता जी क्या करूं बतलाइये।
अब आप जावेंगे यहां से मुझे कुछ फरमाइये॥
रोकर पिता बोला कि कोई भी नहीं सदुपाय है?।
क्या आज तक के ही लिये मेरी यहां यह काय है॥२६

जो प्राण से प्यारी अधिक थी मुझे वह लक्ष्मी यहां।
है, हन्त केवल जा रहा हूँ अकेला ही मैं कहां॥
मैं समझता हूँ तात आदिक आपको कि मिलें वहां।
मत कीजिये कुछ शोच बापू मैं करूंगा वह यहां॥२७॥

प्रति मास रासन आपकी विप्रादिकों द्वारा सदा।
मैं भेजता ही रहूँगा होगी न कोई आपदा॥
फिर आपके मनमें कि जो भी हो वही बतलाइये।
मैं करूंगा पूरा उसे संकोच कुछ मत लाइये॥२८॥

यह सुन जरठ बोला कि सुत? वैसी खर्च करना नहीं।
जिससे तुम्हें फिर लाडले खुद दुःख पाना हो कहीं॥
कुल रीति के अनुसार पाडा एक बलि देना सही।
बरसी दिवस पर और मुझको है अधिक कहना नहीं॥२६

'घर बार की सम्भाल रखना वंशवर? तुम गौर से।
बस है यही कहना यहां पर तुझे मेरी ओर से॥
यों बोल-कर वह चल बसा आगे सुनों कि हुई दशा।
कुछ ही दिनो के बाद बुढिया भी हुई वह यमवशा॥३०

मरते समय में वासना जिस की रही घर बार में।
करती रही थी कुक्कुरों से सुरक्षा हर बार में॥
वह एक था. भैसा हुवा घर में कि दूजी जो मुई।
गृह की बगल में कुक्कुरी के पेट से कुतिया हुई॥३१॥

अब तो महेश्वरदत्त उसकी गाँगिलावनिता रही।
घर में वहाँ पर तीसरा मानव रहा कोई नहीं ॥
थी विषय लम्पट गाँगिला जिस का मनोहर रूप था।
अङ्कुश न कोई रहा, था जो श्वसुर या सास्र तथा ॥३२

घर कार्यवश बाहर चला जाता महेश्वरदत्त भी।
मौका उसे एकान्त का वह मिला करता था तभी ॥
दिल खोल करके बात करती किसी अपने यार से
कटने लगे थे गाँगिला के दिवस ऐसे प्यार से ॥३३॥

शिर से बहा कर पैर तक अपना पसीना गात का।
लाता कमा कर था महेश न था पता दिन रात का ॥
उस कठिन पैसे को बहाती नीर जैसे गाँगिला।
वह रोज गुलछर्रें उड़ाती क्योंकि अवसर था मिला ॥३४

अब एक दिन उस पापिनी के पाप का घट भर गया।
तब दैव भी था आप अपना वार उस पर कर गया ॥
आया अचानक महेश्वर देखा किवाड़ कि बन्द है।
देखी दरार जहाँ कि कोई ले रहा आनन्द है ॥३५

'खोलो किवाड़ सुना कि तोता गाँगला का उड़ गया।
बोली धनी की है लगा यह तीर उसके उर नया ॥
है दर्द मेरे पेट में लेटी अतः हूँ जाइये।
कर काम कोई भी कि थोड़ी देर पीछे आइये ॥३६॥

इस तरह अपनी समझ से उस ने वहां थी ढाल ली।
कटु वाक्य बाणों की अहो बौछार फिर भी क्या टली॥
मैं जानता हूँ यहाँ धूर्त ! जो कि तेरे दर्द है।
दे शीघ्र खोल किवाड़ वरना नाम मेरा मर्द है॥३७॥

रवि के उदय में खुला फाटक कमलिनी का समझ लो
था गन्ध लोलुपभृङ्ग बैठा जहाँ अब आगे चलो॥
दी मर्म की थी चोट उस के अतः वह था मर गया।
मरते समय में किन्तु अपना भाव ऐसा कर गया॥३८

मुझ को मिला यह आज मेरे दोष का ही दण्ड है।
मैंने किया इस की युवति के साथ हन्त अफण्ड है॥
इस तरह निज निन्दा तथा उस भामिनी में वासना।
थी अतः उस के गर्भ में आगया वह समुदास ना (नर)॥३

न महेश ने निज भामिनी को नाम भी कुछ था लिया।
निज मित्रआदिक के निकट भी न इसको था स्फुट किया
वह सोचता इस में अवज्ञा आपकी ही था यतः।
लकड़ी न अच्छी हो वहां पर दोष तरु का वस्तुतः॥४०

समझो वहाँ यों गाँगिला थी कुछ नहीं पति ने मुझे।
है कहा हे मन शोचना भी चाहिए इस पर तुझे॥
कितना दिलावर है अहो तू क्यों न इस पर ही रहे।
झूलता झूले की तरह से हा इधर से उधर है॥४१॥

इस तरह उनका प्रेम आपस में सतत बढ़ता गया।
था हुआ सुत फिर तो महेश्वर को प्रमोद हुआ नया॥
उसको खिलाने रमाने में चित्त दोनों का लगा।
मालूम होता था उन्हें जो दिवस आया सो भगा॥४२

आया पिता के श्राद्ध का दिन तो महेश्वर ने कहा।
क्यों भटकना हो कहीं फिर भैंसा यहां घर में रहा॥
खुद हाथ से मारा उसे खुद ने पकाया मांस था।
खुद ने बुला कर मेहमानों को जिमाया था तथा॥४३

कुछ खाद्य पाने के लिए आई वहीं कुतिया जहां।
घर में घुसी कि महेश ने उसपर जमाया लट्ठ हां
बाहर निकल कर महिष की उन हड्डियों पर आडटी।
वह कुक्करी जिस बराकी की टूट पाई थी कटी॥४४॥

यों श्राद्ध होने के अनन्तर गोद में ले बाल को।
आया महेश जहां कि बाहर सुनो आगे हाल को॥
श्री मुनि ज्ञानी वहां पहुँचे धुना उन ने शीष था।
बोला महेश कि हे मुने है हुई ऐसी क्या कथा॥४५॥

हे वत्स मैं क्या कहूँ - है उस मोह की लीला यहां।
है कौन सी वह हे मुने फिर बताते हैं क्यों न हां॥
है जानने की बात केवल किन्तु गाने की नहीं।
फिर भी अगर तुम पूछते हो वत्स ! कहता हूं वही॥४६

कहिये महोदय ? आप कुछ संकोच फिर करिये नहीं ।
है आप के इस भक्त की विस्फुर्तिदेवी सुन रही ॥
जिसका किया है श्राद्ध तुम ने उसे ही मारा अहा ।
यह महिष ही था पिता तेरा यों महामुनि ने कहा ॥४७
जिसकी कि गर्दन पर छुरी धर कर कमाया पाप था ।
फिर करगये चट जिसे तुम वह ही तुम्हारा बाप था ॥
यह सुन चकित हो अनुज बोला अहो क्या यह ठीक है ।
मुनिने कहा मैं कहरहा हूँ ज्ञान से न अलीक है ॥४८॥
केवल यही सुन कर अहो तुम पड़ रहे आश्चर्य में ।
हूं और भी तुमको सुनाता सुनों हे नर वर्य में ॥
देखो तुम्हारी मां यहीं तो है विचारी कुक्कुरी ।
जिसकी कमर मे हन्त तुमने चोट मारी अति बुरी॥४९
माया तथा अति लोभ से मर कर हुई वह यह यहां ।
जिसको कि सेवा आज तुमने लठ से की नृवर ? हां ॥
इस बात से लज्जित महेश्वर ने झुकाया शीश था ।
मुनिने कहा थोड़ी यहां पर और भी सुनलो कथा॥५०॥
जिसने तुम्हारी गेहिनी को स्नेहिनी कर था लिया ।
वह शत्रु जिसका अन्त तुमने हन्त खुद ही था किया ॥
वह जार ही है प्यार का अवतार तेरी गोद में ।
सुत रूप से जिसको कि तुम हो लेरहे भर मोद में॥५१॥

फिर भी तुम्हारे चित्त में यह बात यदि जमती न हो ।
कुतिया करेगी स्पष्ट उसको तुम जरा इससे कहो ॥
जातिस्मरण इसको हुवा है बात यह सुनकर अहो ।
जिसका भला जैसे कि होना है वह कहो क्यों न हो॥५२

बोला महेश कि जननि ! मेरे दोष पर मन मत धरो; ।
अज्ञान वश हो किया मैंने जो कि उसको परिहरो ॥
ऐसा करो अब तो कि मेरे चित्त का संशय हटे ।
यह फिर अगाड़ी के लिये तो नाम जिनजी का रटे॥५३

कुतिया गई घर में मही को खुरचने पग से लगी ।
खोदा महेश्वर ने कि उसके भाग्य की रेखा जगी ॥
वह जगमगाता हुवा रत्नों का खजाना खुल पड़ा ।
जिसको कि देख महेश का मानस हुवा था खुश बड़ा॥५४

अबतो वहां उस मुग्ध का वह गया मोह विलीन हो ।
जब हो दिनाधिप का उदय तो अन्धकार कहीं न हो ॥
वह गिड़गिड़ा कर गिर पड़ा मुनिराज के था चरण में ।
भो त्राहि त्राहि मुने महाशय आपकी हूं शरण में॥५५॥

मुझको हुवा विज्ञात यह संसार सकल विचित्र है ।
जो शत्रु था कुछ समय पहले वही होता मित्र है ॥
फिर मित्र से वह शत्रु हो जावे जरासी देर में ।
हो स्वार्थ में बद्धा जहां इसमें नहीं बुधजन रमें ॥५६॥

देखो कि मेरे पिता माता जो मुझे थे प्रिय अति।
की स्वार्थ वश मैंने उन्हीं की अहो कैसी दुर्गति॥
इस महा पातक से अहो कैसे कहो उद्धार हो।
मैं बहा जाता हूँ उदधि में झगिति मेरा कर गहो॥५७॥

मैं पतित हूं यद्यपि यते ? फिर पतित पावन आप हो।
कर दीजिये वह कृपा जिससे दूर मेरा पाप हो॥
मुझ भटकते के लिये ईश्वर आप ही तो नाथ हो।
इस घोर भवबन में अहो क्या और कोई साथ हो॥५८॥

मुनिने कहा तुमने किया था पाप पादप जो खड़ा।
यद्यपि महेश्वर भूमितल पर वह भयङ्कर था बड़ा॥
जड़भाव उसका किन्तु नरवर ? अधिक दूर नहीं चला।
अनुताप रूप कुदाल ने उसको कर दिया खोखला॥५९

हां नाम भी निःशेष उसका तुम अगर हो चाहते।
तब रागरूप न नीर होना चाहिये उत्तममते ?॥
प्रत्युत वहाँ हो त्याग रूप समीर ही उसके लिये।
जिससे कि खंखर हो रहे वह समझलो अपने हिये॥६०

यानी कि धन जन से रहित हो साम्यमय निज मनकरे।
इस देह से भी नेह तजकर निर्विकल्प दशा धरे॥
श्री सच्चिदानन्द स्वरूपी सोऽहमैसी स्मृति करे।
वह पापमल से रहित होकर मुक्ति रमणी को वरे॥६१

गुरु आज्ञा को शिरो धार्य कर उसने ऐसे।
छोड़ दिया घर बार कांचली को अहि जैसे॥
एकाकी हो चिदानन्द का ध्यान लगाया।
अन्त समय में महेश ने कि अमर पद पाया॥६२॥

इसी तरह के वृत्त यहां निश दिन होते हैं।
जिनमें फँसे हुये अज्ञानी जन रोते हैं॥
महेश को गुरु योग मिलगया ताकि तर गया।
पहले भूला किन्तु पुनः कल्याण कर गया॥५३॥

अधिक लोग तो इसी कींच में फँस मरते हैं।
नहीं अन्त तक भी भगवान भजन करते हैं॥
करते हैं जो घर परिकर में मेरा मेरा।
शोचते– न पक्षियों का कि यह रैन बसेरा॥६४॥

जहां हुवा वह मरण नाम का अहो सवेरा।
उठ दौड़ेगा जहां दैव ने दाना गेरा।
एकाकी फिर यहाँ मिलेगा क्या वह हेरा।
अहो कौन तब रहा यहाँ पर तेरा मेरा॥६५॥

-:&&&:-

आत्म तत्व की स्वीकृति

श्री वीर सम्प्रति सुना उपदेश तेरा।
है हो गया वह यहाँ भ्रम दूर मेरा॥
जो था कि भिन्न तनु से असुभृत् नहीं है।
थी क्यों कि आज उसको अपना रही है॥१॥
होवे जहाँ कि तनु जीर्ण कुटीर जैसा।
दे छोड़ जीव इसको फिर नेह कैसा॥
है पुष्ट किन्तु यह देह सुमित्र ? मेरा।
सौन्दर्य का सुजन लोचन मान्य डेरा॥२॥
चिन्ता करूं फिर कहो किस बात की मैं।
खाता सदा सरस भात अहो दही मैं॥
बोला वयस्य, शिशु वृद्ध युवापने का।
है धर्मराज रखता नकदापि ठेका॥३॥
बैठा पितामह पिता रहता जहाँ है।
नाती तथा तनय भी मरता वहाँ है॥
रोगी जिसे कि हम जान रहे मरेगा।
नीरोग होकर विहार यहाँ करेगा॥४॥
थोड़े दिनों तक यही यम की प्रतिज्ञा।
होती वहां यह वृहज्जन की अभिज्ञा॥

हैं सचोंते हम कि है यह पुष्ट बाहु।
पर्याप्त देर तक युद्ध करे सुबाहु ॥५॥
आवे जहां कि यम तो क्षण में पछाड़े।
ज्यों केशरी हिरण के दिल को उखाड़े॥
सौमित्रि जो कि दशकन्धर का विजेता।
हा मात्र बोल कर लुप्त हुआ सुचेताः ॥६॥
है सोचता नर कि मैं न अभी मरूंगा।
उल्लेखनीय बहु कार्य यहां करूंगा॥
हा किन्तु काल वृक यात्र है दबाता।
ऐसा अजातनय को, कर है न पाता ॥७॥
था सेठ कानपुर में बहु वित्त वाला।
बोला जिसे कि करते सब लोग लाला।
स्त्री थी जिसे अतुल रूपवती सुरूपा।
बिम्बाधरी स्मरपरी घन नाभि कूपा ॥८॥
था कारवार चलता बहु थी दुकानें।
था कौन दूर तक जो उसको न जाने॥
थे तो अनेक नर नोकर चाकरादि।
थी खूब ही चल रही जिसकी कि गादी ॥९॥
थे ठाठ और सब ही जिस के कि नीके।
थी एक बात न, यतः पकवान फीके॥

सन्तान एक न अहो घर में हुई थी।
आशा समस्त उसकी इस से मुई थी ॥१०॥
हां यन्त्र मन्त्र फिर तन्त्र किये कराये।
कोई न एक उन में कुछ काम आये ॥
थे वैद्य लोग सब ही कर यत्न हारे।
हो दैव ठीक न जहां न वहां दवा रे ॥११॥
यों हो चली उमर वर्ष पचास की थी।
श्रीमान की युवति ने कम पांचली थी ॥
तो भव्य भाग वश गर्भवती हुई थी।
मानों कि नीरघन शीरवती कुई थी ॥१२॥
प्यासे उसी धनिक को वह दीख पाई।
भाग्येशने हृदय में खुशियां मनाई ॥
मोदानुमोद रस में नव मास बीते।
नो रोज तुल्य, न रहे अघके पलीते ॥१३॥
आया वही सुदिन था तब पुत्र पाया।
अत्यन्त हर्षित हुये जन और जाया ॥
आशेश नाम जिसको सबने दिया था।
राकेश तुल्य परिणाम जहां लिया था ॥१४॥
आई जहां कि तिथि शोडष वर्ष की थी।
पूर्णेन्दु तुल्य तनु में तब दीप्ति ली थी ॥

थी पूर्णिमा सदृश कान्ति मती कुमारी ।
के साथ में श्रुति हुई सुख वृद्धि कारी ॥१५॥
किन्तु प्रभामय शरीर जहां कि देखा ।
याम्येश की यह हुई तब चित्त लेखा ॥
है कौन जो रख सके इस भामिनी को ।
मेरे सिवा अतुल रूप सुधा धुनी को ॥१६॥
आशेश को फिर हुई रसकी भरी से ।
शादी किसी स्मरसुधाम्बुधि की तरी से ॥
दो चार मास रह ही वह भी गई थी ।
पूर्वोक्त भीरु पथ को, न यहां रही थी ॥१७॥
हां तीसरी फिर हुई उसकी कि शादी ।
जो थी स्वरूप गुण से कुसुमेषु गादी ॥
था एक पौत्र उपजा अब साहु जी के ।
बाजे बजे सदन में सहसा खुशी के ॥१८॥
था दान भी तब दिया बहु याचकों को ।
एवं निमन्त्रित किया ग्रह वाचकों को ॥
कोई कहे सुत रहे जग में चिरायुः ।
कोई कहे कि न लगे इसको कुवायु ॥१९॥
ऐसे अनेक शुभ शंसन हो रहे थे ।
आ एक ने वचन दुर्धर यों कहे थे ॥

आया जहां अतिथि हा अब जा रहा है।
देखो विभोकि यह तो अकुला रहा है ॥२०॥
आई जहां श्रवण में कटु बात ऐसी।
पीयूष सम्वहन में विष भार जैसी॥
सम्भालने भवन भीतर को भगा था।
अशेश का शिर कि चोखट के लगा था ॥२१॥
आघात से जब वहां वह चोट आई।
थी बात में तनु हुई उसकी पराई॥
था जो गया तनय को रखने रहा क्या।
हा आप भी, पलक में यह हो रहा क्या ॥२२॥
यों पुत्र और पति भी जब थे पलाये।
थे क्षतिने हृदय में अति दुःख पाये।
थी खोजने वह गई उनको यथाऽहो।
ऐसा हुवा झटिति नाटक पुष्ट वाहो ? ॥२३॥
बुड्ढी यहां अब रही बुढ़िया तथा थी।
कोई रहा इतर था उनका न साथी।
ऐसी विचित्र घटना घटती सदा है॥
संसार में न रहती स्थिर सम्पदा है ॥२४॥
लूं चून बेच बकरी वह खूब ब्यावे।
दे दूध ढेर जिससे फिर वित्त आवे।

लूं भैंस ताकि उसके फिर एक पाडी।
हो बेच भैंस परणू झट में कि लाडी ॥२५॥
यों शोच में लग रहा नर सेखचिल्ली।
आटा खिंडा कर गई झट दौड़ बिल्ली॥
जो भीख मांग कर था उसने बटोरा।
फूटी घड़ी अब रहा वह आप कोरा ॥२६॥
होगी व्यतीत रजनी फिर पो फटेगी।
श्री सूर्य से कमल की कलियां छटेंगी॥
ऐसा विचार कर ही अलि जो रहा था।
सुण्डाल ने कमल के कुल को गहा था ॥२७॥
ऐसा करूं वह करूं. नर शोचता है।
आ काल किन्तु इसको कि दबोचता है॥
है हाथ हाय कर मूढ महेन्द्र रोता।
शोचा हुवा न इसका कुछ किन्तु होता ॥२८॥
होता तथापि इसके कि घमण्ड ऐसा।
मैं जो करूं कर सकूं वह हो न कैसा॥
है बात याद मुझको वह एक आई।
श्री कृष्ण के चरित में जिनने बताई ॥२९॥
थी हो चुकी सकल भूपर राज्य सत्ता।
बे रोक टोक अपनी प्रगटी महत्ता॥

धर्मोपदेश सुनने सुजनोपकारी ।
श्री नेमि के निकट में पहुँचे मुरारि ॥३०॥
आदेश जो कुछ हुवा शिर से लगाया ।
उत्साह खूब अपने मनमें बताया ।
बोले मुरारि फिर कौतुक एक आया ।
मेरी कहाँ तक रहे अब और माया ॥३१॥
श्री नेमि ने तब कहा यह ठाठ बारा ।
सम्वत्सरावधि हरे ! सुनलो कि सारा ॥
द्वीपायनाख्य नर के कर मे तुम्हारी ।
हो भस्म किन्तु फिर तो नगरी विचारी ॥३२॥
ये मद्य पीकर बने कुछ लोग बोके ।
पीटें उसे फिर वहां वह रुष्ट होके ॥
ऐसा करे कि न रहे यह कृष्ण डेरा ।
तू और सोदर बचे यह एक तेरा ॥३३॥
भो भूपते ! शर जरत्सु कुमार के से ।
तेरा शरीर यह कोमल कुम्भ जैसे ॥
होगा प्रणष्ट अति कष्ट करी कथा है ।
हा किन्तु कौन पलटे यदि दैव चाहे ॥३४॥
श्री कृष्ण को भय हुवा तब मर्मभेदी ।
क्या हैं अहो कह रहे जगदेकवेदी ॥

ये लोग जो कि मद नाम कभी न पीते ।
हैं किन्तु मूलगुण धार सदैव जीते ॥३५॥
होगा अहो फिर कहो यह कार्य कैसे ।
क्या सर्पराज निपजे मृदु फूल में से ॥

हो भी न फल्गु इनकी जगमें सुभाषा ।
तो क्या निराश बन बैठ रहूँ मरासा ॥३६॥
कैसा करूं न मिलता कुछ मार्ग ही है ।
किं कार्यता हृदय को कि सता रही है ॥

आया विचार मनमें फिर एक ऐसा ।
पाया महोदनिधि में मृदुयान जैसा ॥३७॥
की घोषणा नगर में मदिरोपयोगी ।
या चीज भी तदनुकूल कहीं कि होगी ॥

सर्वस्व संहरण दण्ड उसे मिलेगा ।
राकेश से न जड़जात कभी खिलेगा ॥३८॥
द्वीपायन- प्रकृति भी कि बनूं न पापी ।
द्वारावती दहन का जगमें कदापि ॥

ऐसी हुई यह न ताकि वहां रहा था ।
योगीश हो बहुत दूर चला गया था ॥३९॥
यों होरही स्थिति यथोचित थी, प्रजा भी ।
थी शोचती कि अब तो न रही तथा भी ॥

हा किन्तु काल गति है अनिवार्यताति ।
जो चाहती वह वहां कर ही बताती ॥४०॥
दिग्भ्रान्त हो समय में वह आगया था ।
जो देश छोड़ परदेश अहो गया था ।
आ द्वारिका निकट था ठहरा कि ऐसा ।
हो ही लिया श्रवण में गर पूर जैसा ॥४१॥
थे घूमने कि निकले यदु लोग थोड़े ।
देखा इसे झट वहां हननार्थ दोड़े ॥
पी प्यास के वश कुवासित कुण्ड पानी ।
थी हो चली मति अहो जिनकी विरानी ॥४२॥

❀ कुसुमलता छन्द ❀

मुनिकी कोपाग्नि में भस्म हो चली अतः नगरी सारी ।
एकलता की भांति नाम को भी न रही वह थी दारी ॥
जिसे समझते थे कि हजारों वर्ष न कुछ भी बिगड़ेगा ।
कौन जानता था कि पक्की खेती पर हिमवर्ष पड़ेगा॥४३
अहो दिवस ने ही अन्धेरा कर देखो अतलाया था ।
गरल अमृत ने गरुड़राज ने अहि का रूप दिखाया था
प्रलयकाल से भी वैसी वह दृश्य वहाँ हो आया था ।
जिसनेखुद मुनिके शरीर तकको भी क्यान मिटायाथा॥४४

किन्तु न जाने क्यों हरिवल इन दोनों को न सताया था
रहा न कुछ भी और वहां सब भस्म शेष हो पाया था ॥
उन दोनोंने तब यों शोचा चलें अहो अन्यत्र कहीं ।
नहीं देखने को भी कोई चीज यहां है क्योंकि रही ॥४५॥
चलते चलते कौशाम्बी के निकट जहाँ कि पहुँच पाये ।
तरु माला को देख वहां पर यों विचार मनमें आये ॥
क्या ही च्छटा प्रकृति की देखो कैसी सरसा छाया है ।
यहाँ निराली ही अपनी यह वसुन्धरा की माया है॥४६॥
थोड़ी देर यहीं ठहरें फिर आगे तो चलना ही है ।
क्या है स्थान नियत उसका जो हो रहा कि गुमराही है ॥
बैठे ठण्डी छाया में तब फिर केशव था यों बोला ।
यथा दैव ने सुयोग रसमें वियोग का विष हो घोला॥४७
भैय्या मुझको प्यास लगी है जिससे दम घुटने को है ।
पलभर-भी तो रह न सकेगा अगर न जल जुटने को है ॥
लगा ढूंढने जल बलदेव कि चक्र- पाणि था लेट रहा ।
जरत्कुमार पहुंच पाया था फिरता घुरता क्या न वहां॥४८
देखा है कोई मृग, मारा तान कि तीर लगा पग में ।
जो था भूतल का भूषण वह रहा नहीं अब इस जग में ॥
कुपित पूतनाने भी जिसका कुछ भी नहीं बिगाड़ किया ।
जरासन्ध के दृढ बाणों का जिसने था उपहार लिया ॥४९

प्रलयकाल की सी ज्वाला से बाल बाल बच पाया था ।
चाणूरादि मल्ल लोगों से जो न जरा घबराया था ॥
आज उसी का समय कौनसे मिष से देखो आया था ।
हन्त हन्त उसके पगमें वह कांटा ही लग पाया था ॥५०॥
ऐसे महा मानवों की भी सहसा जब यह हुई गति ।
तो फिर मेरे तेरे जैसे लोगों की है क्या गिनती ॥
अतः जिसे हो करना उसको क्यों फिर कल पर भी छोड़े ।
विज्ञ, न जाने काल कहां कब आकर इसका शिर तोड़े॥५१

❀ कुण्डलियां छन्द ❀

समझाया मुझको अहो उसने वारंबार ।
फिर भी मैंने था वहां रञ्च न किया विचार ॥
रञ्च न किया विचार आत्म हित के करने का ।
शोच रहा था है न समय अब ही डरने का ॥
चला गया वह हो निराश फिर कभी न आया ।
क्योंकि न मुझसा मूर्ख हन्त समझा समझाया ॥५२॥

-:❀❀❀:-

—सफल परीक्षा—

श्री जिन रोग जरादि विजेता मैं उनका ही ध्यान धरूं ।
आगे और हुवा क्या हे नृप तेरे आगे स्पष्ट करूं ॥
इधर गया वह मित्र इधर में मेरे हुई वेदना थी ।
अङ्ग अङ्ग में जिसे बटाने को न हुवा कोई साथी ॥१॥
यद्यपि आये वैद्य बहुत से कोई सफल न हो पाया ।
प्रत्युत बढ़ती रही व्यथा ज्यों अपर दिवस की हो छाया ॥
बिना नीर के मत्स्य की तरह तड़फने लगा मैं तब था ।
हुई बेकली बहुत मुझे तो चैन न पलभर को अब था॥२॥
सभी आ जमें घर कुटुम्ब के कांना फूंसी करते थे ।
अब दम निकला वह टूट रहा यों मन ही मन डरते थे ॥
बड़ी देर हो चली कि ऐसी कायरता मनमें आई ।
इस जीवन से तो मरना ही मेरा अच्छा है साईं ॥३॥
कोई परदेशी इतने में आया उसने वहां कहा ।
मैं भी देखूं जरा कि इसके है कैसा हो रोग रहा ॥
दया शारदा की मुझपर है ताकि जिसे भी छूता हूं ।
स्वस्थ पलक में हो रहता है अतः इसे छूना चाहूं ॥४॥
आत्मश्लाघा है यद्यपि यह परन्तु परिचय दे पाऊं ।
और किस तरह से हे सुजनों, क्यों कि विदेशी कहलाऊं ॥

कहा पिता ने आइये प्रभो कृपा कीजिये यहां जरा।
पारिश्रमिक आप मुँह माँगा मुझसे फिर लीजिये खरा॥५

वह बोला विद्योपजीविका है भूतल पर बहुत बुरी।
जनता के हित के लिये अहो मानों वह हो तेज छुरी॥
करता हूँ निःस्वार्थ भाव से सेवा पीडित लोगों की।
सही नहीं जाती है मुझसे स्थिति रोगी के रोगों की ॥६॥

यों मेरा ले हाथ हाथ में बोला है कुछ रोग नहीं।
इसके केवल हो पाया है अहो प्रेत का योग कहीं॥
उसके भी तो दूर हटाने का प्रयोग कुछ है कि नहीं।
इस प्रश्न पर है अवश्य फिर, यों अटकी सी बात कहीं॥७

अटक रहे क्यों, उसे करो फिर इसमें बात कौनसी है।
है यह बात कि तुम लोगों में ऐसा कौन समरसी है॥
जो इसके बदले में अपने आप को कि अर्पण करदे।
होकर यह निरोग, ताकि तुम सब का झट संकट हरदे॥८

क्षण भर को सन्नाटा होकर उस पर यह था शब्द मिला।
कोई बात नहीं भिषक्प्रवर ! इसे दीजिये आप जिला।
फिर जिसको भी आप कहेंगे वही कर सकेगा ऐसा।
कौन नटेगा क्यों कि हमारा प्यारा यह चन्दा जैसा ॥९॥

वैद्य ने कहा शोच समझलो और अभी तो तुम इसको।
कहीं न ऐसा हो कि हलाहल कर दिखलावो फिर विषको॥

हां हां ठीक कह रहे हैं हम सब मिलकर तो कहते हैं।
देर नहीं कीजिये भिषग्वर आप यहां क्यों बहते हैं ॥१०॥
क्यों कि उन्हों ने शोचा था यह गप्प यहाँ पर केवल है।
या तो है अजानपन इसमें अथवा कोई भी छल है।
कौन किसी के बदले में कोई को लेता देता है॥
अपने किये कुकर्मों का फल आप देहधर लेता है ॥११॥
अगर कहीं कुछ किया और मिटगया कष्ट तो मिटासही।
वरना इस परदेशी की भी बात यहाँ हो प्रगट रही॥
यही समझकर उन लोगों ने वहां बहुत था जोर दिया।
अपनी युक्ति उसे करने को बार बार था बाध्य किया॥१२
मन्त्र बोल कर वैद्य ने कि तब मुझे उढाई चादर थी।
मेरी पीड़ा मिटी परन्तु पसीने में चादर तर थी।
उसे निचोड़ एक भाजन में बोला वैद्य कि लो इसको।
पीलो इस सुन्दर के बदले रोगी होना हो जिसको ॥१३॥
था क्या फिर तो एक दूसरे को वे कहने लगे वहां।
बापू बोला मैं खुद पीलूं किन्तु कौन है कहो यहां॥
जो दुकान का काम काज सब ठीक तरह से चला सके।
मां बोली मेरे बिना अहो घरका सारा काम थके ॥१४॥
भ्रातावों को वहाँ भ्रातृ- जायावों ने था मना किया।
बहनों को कहनेऊ लोगो ने था पीने नहीं दिया॥

अर्द्धाङ्गिनी कहाने वाली भी बोली इस बालक को ।
कौन पिलावे पथ ऐसे निज जीवन था प्यारा सबको॥१५॥
होकर बाध्य वैद्य ने मुझ पर ही वह पानी का प्याला ।
दिया उढेल हुवा वह जैसा ज्वाला में हो घी डाला ॥
मुझको पहले से भी दुगुणी पीड़ा होने लगी जहाँ ।
वैद्य जहां से आया था खिलखा होकर वह गया वहां॥१६
देख दृश्य यह मुझे आगया याद मित्र का कहना था ।
स्वार्थ भरा संसार अहो यह ठनक रहा तब यों माथा ।
है दुनियाँ में कौन किसी का जैसा मैं कि समझता था ।
कदलीदल जैसे असार यह सच्ची ऋषियों की गाथा ॥१७
अहो कांच के वर्तन को कंचन का मैंने था माना ।
चोरों को ही साहूकार रूप से मैंने था जाना ॥
विष को ही पीयूष समझ कर रुचि से मैं शठ पीता था ।
हन्त हन्त मेरा मानस यह विचार रस से रीता था॥१८॥
अब तो मैं हूँ समझ रहा यह शरीर रोगों का घर है ।
सुन्दर सुडोल कह कर जिस पर रीझ रहा भोगी नर है ॥
भोग भुजंग समान भयङ्कर इसको डसने वाले हैं ।
बन्धु सपेरे जैसे, होते वे जिनके कि हवाले हैं ॥१९॥
अङ्कुश हीन मत्त हस्ती मन चञ्चल इन्द्रिय घोड़े हैं ।
दौड़ रहे इसके भूतलपर वेलगाम वेकोड़े हैं ॥

जिधर किधरभी सरस घास देखीकि उधर ही दौड़पड़े।
आया गर्त उसी में इस चेतन को पटका जहां अड़े॥२०
अब विचार यह आया है मैं स्वस्थ कहीं यदि हो जाऊं।
तपरूपी अङ्कुश संयममय कोडा लेकर दिखलाऊं॥
अबतो इनको उत्पथ में मैं जाने दूंगा नहीं यहां।
सावधान हो रहूँ सदा के लिये कि पाऊं समसुख हाँ॥२१
ऐसा मन होते ही मेरी व्यथा शान्त हो पाई थी।
बहुत समय से श्रान्त चित्त था अतः नीन्द सी आईथी॥
सुपने में कोई आ बोला सुनों हृदय कर सीधा सा।
हम दोनों थे स्वर्गमें जहां लौकिक सुख की मृदुभाषा॥२२
तुम हो लिये मनुष्य और मैं देव यहां पर आया हूं।
मित्र और वैद्य के रूप में पहले भी आ पाया हूं॥
क्योंकि कहा था तुमने मैं भोगों में वहां न फँस जाऊं।
करना मुझे सचेत ताकि मैं अपना हित झट करपाऊं॥२३
भूल गये सब बात किन्तु-तुम भोगों में ही उलझ रहे।
अबतो ऐसा करो ताकि वह उलझा भी सब सुलझ रहे॥
देह-कष्ट की बात कौन फिर आत्म कष्ट भी दूर हटे।
जन्म, मरण की विपुल वेदना वह भी बातों में विघटे॥२४
तुमनेही खुद देखलिया नकि दुनियां सब मतलबकी है।
संकट में तेरी सहायता कहो किसीने क्या की है॥

मेरा मेरा कहकर जिसके पीछे तू कि लग रहा था।
एक नहीं मानी मेरी मैं कहकर किन्तु थकरहा था॥२५
अस्तु समयको व्यर्थ न खोनाअब पक्का निश्चयकरलो।
आगे का न भूलना, तपकर भूल हुई को भी हरलो॥
इतने में नींद खुली मेरी मैंने दृढ संकल्प लिया।
स्वास्थ्य ठीक होते ही लूंगा संयम ऐसा चित्त किया॥२६
कम कम होने लगी वेदना यथा अमृत हो सींच दिया।
स्वस्थ होलिया स्वल्प देरमें जादू का सा काम किया॥
मुझे आगई नींद वहां फिर अच्छी तरह सो रहा था।
जग कर देखा प्रभो मधुरसा प्रातःकाल हो रहा था॥२७
मिटा अन्धेरा भूतल का भी मेरा जहां मिट रहा था।
मुझे प्रकाश मिला जैसा धरणी पर सूर्य उगरहा था॥
मेरा मन अब कमल की तरह खिलकर खुशबूदार बना।
'पाप मधुप था रोरहा जहां रुदन पुराना वह अपना॥२८
उठकर देखा मैंने पूरा परिकर वहां जम रहा था।
वह लम्बा चौड़ा कमरा भी जिसके लिये कम रहा था॥
सब बैठे थे मौन लिये उनने देखा जब मुझे जगा।
सूर्योदय ही हुवा कमल के लिये उन्हें था वहां लगा॥२९
वे सब मुझसे पूछने लगे कहो हाल अब कैसा है।
मैंने कहा नरक वाले को मिले स्वर्ग सुख जैसा है॥

यह सुनकर खुश हुये और वे कहने लगे परस्पर में।
बोला एक कि मेरे बाला जी की सुदया फली हमें ॥३०
अन्य ने कहा मेरी दुर्गा को मैंने जब याद किया।
देख रहा था मैं कि तभी इसने झटपट आराम लिया ॥
मैंने कहा कि अपने अपने दिल के उत्तरदायी हो।
सम्भव है मान्यता आपकी काम आपके आई हो ॥३१
मेरी मनोभावना ने ही मेरा तो यह काम किया।
खावे कोई पेट भरे कोई का माने नहीं जिया ॥
जो जैसा करता है वैसा दुःख तथा सुख भरता है।
मिश्री खाने से मुँह मीठा, गर से तो नर मरता है॥३२
अगर किसी देवी दानव ने मरते को कि बचाया हो।
किञ्च किसी का आश्रय लेकर कोई ने सुख पाया हो ॥
तो क्यों फिर घर रीता होता बुजर्ग लोगों से भाई।
तथा कष्ट भी क्यों कोई को, यह चिन्ता मनमें आई॥३३
क्योंकि देह धर कोई हो वह जन्म मरण के चक्कर में।
रहता है, सुख दुःख न उसका हीहोता उसके कर में ॥
तो फिर औरोंको वह कैसे क्या विपत्ति से रहित करे।
कटुक नीम्ब भी चिरायते के कड़वेपन को अहो हरे ॥३४
यह शरीर ही विपत्ति का घर जिसमें आपा मानिमरे।
इसके स्नेही कुटम्बियों में फँसकर चेतन दुःख भरे ॥

एक बात आगई याद जो तुमको यहां सुनाता हूँ।
उसके द्वारा चित्त तुम्हारा यथार्थता पर लाता हूं ॥३५
एक साधु जो जेष्ठ मास की गरमी से घबराया था।
सजल कूप की वेला पर वह लेट लगाने पाया था॥
दिवसास्त में नींद आने से स्वप्न उसे था यों आया।
एक छबीली औरत से कि विवाह मनोहर हो पाया॥३६
उसके बच्चा हुवा एक अब तीनों ही थे लेट रहे।
थोड़ी देर बाद वनिता ने ऐसे सुमधुर वचन कहे॥
लल्लू इधर किनारे पर है थोड़ा उधर सरक जावो।
इस कोमल तनुवाले पर हे प्रिय उदारता दिखलावो॥३७
साधु जहां खिसका कि कुंवें में गिरा चोट आई भारी।
स्वप्नगेह का फल यह सच्चे घरका क्यों न कष्टकारी॥
मानव तनुका सार साधुपन लूं ऐसी मनमें आई।
व्यथा दूर हो चली उसी क्षण अबतो रही नहीं राई॥३८
अतः चाहता संयम लेना मैं अब इस भूतल पर हूं।
पवनकी तरह रहूँ विचरता क्यों एक जगह अड़ा रहूँ॥
कृपा कीजियेगा अब मुझ पर ऐसी करता हूँ आशा।
मेरे इस अध्यात्म कार्य में अड़चन होवे न जरासा॥३९
रखा आप लोगों ने अपनी ओर से मुझे राजी था।
कभी नहीं वह किया ताकि दुःखी होता-मेरा जी था॥

मैंने जिनको बार बार है भूरि तरह से कष्ट दिया।
उसके बारे में मेरा है क्षमा चाहता यहां जिया ॥४०॥
बोले लोग कि नहीं आजतक ऐसा कोई कार्य हुवा।
जिसको सुनकर चित्त हमारा आज यहां पर अहो मुवा ॥
अब तक जो कुछ हुई प्रीतिधर वृत्ति तुम्हारे योगों की।
आशा वल्ली फली और फूली उससे हम लोगों की ॥४१॥
किन्तु आज तो हन्त हो रहा अहो कुठाराघात यहां।
जहां सुधा वर्षा करती थी विष की वर्षा हुई वहाँ ॥
जो क्षण भर के लिये पृथक् होने का लेते नाम न थे।
हो जावो अब दूर सदा के लिये इसीसे चित्त मथे ॥४२॥
अब तक तो थे बन्धु तुम्हारे हम सब अब फिर कौन रहें।
तुम्हीं कहो इस कठिन कार्य को हा हम कैसे ठीक कहें ॥
मैंने कहा कि भूल रहे हो दूर कहां हो पाता हूं।
तुम सब लोगों के कि चित्त से चित्त मिलाने जाता हूं॥४३
तुम तो हो ही बन्धु किन्तु अब सब को कर बतलाऊंगा।
जीव मात्र के साथ आज से नाता स्पष्ट दिखाऊंगा ॥
यह मेरा पक्का निर्णय है इस से बाज न आऊंगा।
बार बार कर नम्र निवेदन आज्ञा तुम से पाऊंगा ॥४४॥
अब तक तो मेरी मनसा जैसा ही कर बतलाया है।
नहीं आप लोगों ने मेरे मन को कभी दुखाया है ॥

इस अन्तिम कार्य में आप ने क्यों संकोच दिखाया है।
इसी अचम्भे ने मेरे तो दिल को यहाँ दबाया है ॥४५॥
मेरा जो है मार्ग इसे ही महापुरुष अपनाते हैं।
इस सर्वाङ्ग मनोहर पथ में रोड़ा क्यों अटकाते हैं॥
जब कि आप मेरे हित कारक बान्धव लोग कहाते हैं।
सोचो तो कि मोह वश होकर गीत कौन सा गाते हैं ॥४६
तब फिर वे सब बोले हम तो ठीक ठीक हो कहते हैं।
हे भैय्या जी आप ही यहां व्यर्थ भाव में बहते हैं॥
फूलों पर रहने वाला क्या काँटां को तनु सह लेगा।
गीत सुनें जो चित्त, वहाँ हरि की दहाड़ सुन दहलेगा ॥४७
अहो तुम्हारे रहने को क्या महल मिलेगा जङ्गल में।
सोने के भी लिए पलंग न होगा शोचो निज दिल में॥
ये रेशमी दुशाले भी क्या कोई तुम्हें उढावेगा।
उस कलिहारी रात्रि में कहो दीप कहां से आवेगा ॥४८॥
होगा क्या न वहां पर देखो बिना नहाये ही रहना।
घोड़ा गाड़ी कौन वहां पर पैदल ही श्रम हो सहना॥
ऐसी ऐसी और अनेकों बातें संकट भरी जहां।
हमको है चिन्ता कि तुम्हारा होगा क्या निर्वाह वहां ॥४९

—(::)—

❀ हरि गीता छन्द ❀

मैंने कहा जन को जहाँ गुरु का प्रसाद मिले वहां।
हो सूल भी सब फूल जंगल में स्वयं मङ्गल महा।
गिरि दुर्ग का कन्दर वही मन्दिर मनोहर महल से।
जिसकी मरम्मत की न चिन्ता सदा सुन्दर ही लसे ॥५०
इस गीत में शाली अहो गाली स्वयं देती रहे।
जिसको कि सन्तत मूर्ख मोही मनुज खुश दिल हो सहे॥
उस सिंह की तो गर्जना में धैर्य का सन्देश हो।
मैं हूँ यहां जैसे कि वैसे सब सदा निर्भय रहो ॥५१
शय्या मही महती वहां जिसमे कभी खटमल नहीं।
इस खाट पर तो मनुज को रहता सदा संकोच ही॥
यह वस्त्र तो मैला कुचेला हो तथा फट जाय भी।
होगा वहां आकाश सुवसन सुघड़ जों न घटे कभी॥५२॥
दीपक निशा में यहाँ मेरे लिये हो मृदु -किरण ही।
जिसमें कि वत्ती तैल की भी हो जरूरत ही नहीं॥
फिर रोज उठकर अहो होगा स्नान जिससे अघ नशे।
जिन राज शासन सरोवर के ज्ञान मय शुभ सलिलसे॥५३
गुरुदेव के चरणारविन्दो की सुभग केशर मिले।
जिसका तिलक हो भाल पर मेरा उसी से दिल खिले॥
आलोचनामय तैल मालिस भी सदा करता रहूँ।
जिससे कि दूषण दूर होता रहे वैसी क्या कहूं ॥५४॥

होवे किसी को भी न बाधा इस तरह के भाव से।
ईर्यासमिति में बैठ कर जाऊं सदा मैं च्याव से॥
जाना जहां भी हो वहां तीर्थादि वन्दन के लिये।
इत्यादि सुविधा पर विचार अहो जरा हैं क्या किये॥५५॥
सब तरह से अच्छा समागम है यहां से जब जहां।
फिर करूं क्यों आलस्य बोलो क्यों न मैं जाऊं वहां॥
यदि आप हैं मेरे हितैषी क्यों मुझे हैं रोकते।
इस अतिशयोत्तम कार्य करने से यहां सुविशदमते ?॥५६
मैं तो कहूँगा आप सब भी यहां मेरा साथ दें।
अभिरामहलवे में कहो तो क्यों न कोई हाथ दें॥
हम लोग मिलकर चलें श्री गुरुदेव जी के निकट में।
आदेश लें उनका रहें क्यों पड़े संकट विकट में॥५७॥

❀ कुण्डलिया छन्द ❀

तुम ही जावो मान्यवर हमें न ऐसी शक्ति।
हम तो घर में ही करें समुचित भगवद्भक्ति॥
समुचित भगवद्भक्ति जीव के पाप मिटावे।
रहे दीप के पास उसे क्यों तिमिर सतावे॥
हम हैं मानव किन्तु विहग वा पशु अहो नहीं।
उनने ऐसा कहा कि जावो वन में तुम ही॥५८॥
मैंने कहा क्या कह रहे हो सुनों तुम हे धीर।
वन में रहे थे क्या नहीं श्री राम रघुकुल वीर॥

गाये चराते हुये गोकुल की मुरारि कुमार ।
थे रहे जंगल में अहो है जानता संसार ॥५६॥
अत एव ही वे थे हुये जग में त्रिखण्डाधीश ।
है त्याग से होता नरोत्तम कह गये जगदीश ॥
हाँ त्याग से हो शून्य वनवासी सही वह ढोर ।
स्वच्छन्द होकर जो अधम जावे दुरित की ओर॥६०॥
पापी तरसता ही रहे पावे कभी न सुभोग ।
पाकर इन्हीं में फँस रहे यह अधम नर का रोग ॥
मक्खी यथा कफ में, अहो फिर जो कि उत्तम लोग ।
तत्काल हों खुश हाल नट की तरह ताकि नियोग॥६१
तज किन्तु जूठन की तरह हो रहे इनसे दूर ।
भू भाग पर नर शूर उनकी प्रशंसा भरपूर ॥
हैं देव गण भी किया करते, आप में क्या चीज ।
है त्याग ही इस जीव के कल्याण का शुभ बीज॥६२

❀ कुण्डलिया छन्द ❀

बोले थे लाचार हो इस पर वे सब लोग ।
सही है कि परिणाम में दुःख प्रद है भोग ॥
दुःख प्रद है भोग समझते सभी परन्तु ।
तज सकता है इन्हें नहीं साधारण जन्तु ॥

जिसकी हो भावना त्याग के सम्मुख होले।
नहीं हमारी शक्ति अहो ऐसे वे बोले ॥६३॥

—(::)—

—मानवता दुर्लभ है—

श्री जिन दीक्षा देवी की मुझ पर है ऐसी हुई दया।
हूँ सनाथ अब मैं जिससे मेरा सारा भय दूर गया ॥
फिर तुम ही शोचो तुम या ये इतर जीव भी दुनियां के।
हैं अनाथ या सनाथ हे नृप मैं क्यों कहूं वाक्य थांके ॥१॥

आज वह गया क्यों यह आया इसे हटा उसको लाना।
रोग हो रहा यह मेरे भी मुझको पड़े दवा खाना ॥
क्या कैसा मैं करूं कि जिससे आगे ऐसी बात न हो।
इस चिन्ता की चिता में नहीं क्या जलता संसार कहो॥२॥

तृष्णा वश हो इतर जनों को हां छल बल से ठगता है।
कभी जोर से उन लोगों का वित्त छीन कर भगता है ॥
अगर न दें तो निर्दयता से उन्हें मारने लगता है।
अपनी पाई भी जाने पर शोच चित्त में जगता है ॥३॥

ऐसें रौद्र भाव से मर कर रौरव में यह जाता है।
मारण तोडन शूलारोपण आदिक दुःख उठाता है ॥

आयु रन्त में मर कर पञ्चाननादि का तनु पाता है।
पर जीवों को मार मार कर दुर्धर पाप कमाता है ॥४॥
जाकर नरकों में जिससे फिर भी वह संकट पाता है।
जिसे याद कर भय से तनु में यहां कम्प हो आता है ॥
शुभ लेश्या से मर कर पशु यदि देव देह पा जाता है।
देख वहाँ भी पर वैभव को मन ही मन पछताता है॥५॥
आर्त भाव से मर कर फिर एकेन्द्रिय होना पड़ता है।
दीर्घकाल तक अहो जहां पर बुरी तरह से सड़ता है ॥
निकल वहां से भी लट चिउटी भौरादिक का देह धरे।
मरे और पैदा हो फिर फिर घोर वहां भी दुःख भरे ॥६॥
पञ्चेन्द्रियपन दुर्लभ है, उसमें भी मानवता ऐसी।
पाषाणों के विपुल ढेर में मृदु चिन्ता मणि हो जैसी ॥
बड़े भाग्य से तुम हम जैसे को वह भी है मिल पाई।
यथा चानचक ही बटेर अन्धे के हाथों में आई ॥७॥
भोगों में ही इसे लगा देना पूरा अजान पन है।
भस्म के लिये नहीं जलाया जाता चन्दन का वन है ॥
फिर भी जो कोई संसारी हुवा मोह से है अन्धा।
वह मैं क्या बोलूं हे नरवर उलटा करता है धन्धा ॥८॥
डंके की चोट से सर्वदर्शी जन ऐसा हैं कहते।
आत्मा ही यह परमात्मा बन जा सकता है हे नृपते ॥

अगर तिलाञ्जलि सब कर्मों को देकर धरे योगि- बाना ।
उसी देह से भोगों में फँस करता है कुकर्म नाना ॥६॥
दूध तुल्य संसारी मानव, मक्खन जैसा त्यागी हो ।
घृत की भाँति बने परमात्मा जो कि न रोषी रागी हो ॥
जिसके संशोधनार्थ जग में अनशनादितप आगी हो ।
उसमें लगने वाला ही हे नराधीश बड़भागी हो ॥१०॥
श्री जिनवर की वाणी रूपी रईका कि जब योग मिले ।
हो प्रपञ्च तक्र से भिन्न यह मानव मक्खन तुल्य खिले ॥
बिना रई कृत मन्थन के वह कैसे क्या बाहर निकले ।
ड्राईवर के द्वारा ही तो देखो मोटर कार चले ॥११॥
जिनवर के रूप को मानना अतः आत्महित तरुका है ।
बीज जिसे सम्यग्दर्शन इस नाम से जगत् कहता है ॥
जिनवाणी का पढ़ना सुनना सम्यग्ज्ञान कहाता है ।
जिसके बलपर आत्म कल्पतरु खड़ा करलिया जाता है॥१२
जिन कथनानुसार करना जल सिञ्चन जैसा होता है ।
ताकि महा छायायुत हो सन्ताप सकल वह खोता है ॥
किन्तु हन्त यह तो जिनजी के कहने को ठुकराता है ।
भोग रोग यों जिन कहते हैं यह जिनमें कि लुभाता है॥१३
इस शरीर को ही मैं कहकर यह तो खूब सजाता है ।
और कौन हूं मैं ऐसा अभिमान इसे तो भाता है ॥

कहता है मैं हूं बलाढ्य मुझको है कौन दबा सकता।
देव तथा दानव भी मेरे भुजबल आगे है थकता ॥१४॥
मैंने मेरे भुज बल से कैसा क्या ठाठ जमाया है।
हाथी घोड़ा ऊंट पालकी आदि मनोहर माया है॥
आज्ञाकारी पुत्र तथा वह शीलवती शुभ जाया है।
नोकर चाकर भी सब मेरे मानों मेरी छाया है ॥१५॥
शोचता नहीं अहो कहां यह तुच्छ सम्पदा मेरी है।
सार्वभौमका वैभव जाते भी न लगे कुछ देरी है॥
सुनो एक था भूप तुम्हारे जैसा ही सुखिया स्नेहिन् !
अपर निशा में उसकी नीन्द होगई दूर सहज से ही ॥१६
ये मन मोहक युवतियां तथा मित्र वर्ग अनुकूल सभी।
परिजन के भी मेरा कहना नहीं गिराते अहो कभी ॥
पर्वत जैसे गज तुरङ्ग मन तुल्य गमन करने वाले।
वार वार यों निकलने लगे वचन सुखद मृदुगुण वाले।
इधर आगया एक चोर जो थोड़ा जानकार भी था।
चुप न रहसका यह सुनकर उस बुद्धिमान जनका जीथा॥
अवसरोचित वहां पर उसने थे ऐसे शब्द निकाले।
आखें मिची जहां न वहां कुछ सुनलो तुम हे मतवाले॥१८॥
बस फिर तो था भूमि पाल का सहसा वहां घमण्ड मुवा।
कुक्कुट वाचा तिमर दूर हो मानो रवि का उदय हुवा॥

हृदय कमल खिल उठा भूपका सुगन्ध पैदा हुई बड़ी ।
यहां वहां सब जगह सुखप्रद सद्विचार की लगी झड़ी॥१६॥
जिस पर हे मन आज नराधिप होकर तुम हो बैठ रहे ।
कल भी था कोई वैसे ही आगे इसको अन्य गहे ॥
ऐसे ही हो गये बहुत से और बहुत से होवेंगे ।
सुखी सुकृत से दुष्कृत से दुःखी होकर तनु खोवेंगे ॥२०॥
किन्तु भोग तज योग धरेंगे शान्ति सहज में पावेंगे ।
अजरामरपन को अपना कर फिर न जगत में आवेंगे ॥
इसे समझ पाये न कभी तुम भोगों में ही उलझ रहे ।
इसी सूत की उधेड़बुन में तुम ने हे मन कष्ट सहे ॥२१
पर को अपना अस्थिर को स्थिर मूढ ! मानकर बैठे हो ।
मैं हूँ राजा राज्य विपुल यह मेरा यों तुम ऐंठे हो ।
किन्तु गुवाले कासा गौरव सिर्फ मिला तुमको यह है ।
पर की गायें सदा चरावे गोवाला खुद की कि कहे॥२२॥
रजक सुबह से सन्ध्या तक अपने घर पर रख पाता है ।
जो कि पराये घृणितपटों को धोने को ले जाता है ॥
मेरे पास वस्त्र इतने यों व्यर्थतया इतराता है ।
तथा पराई घृणित चीज पर घमण्ड तू यह लाता है॥२३॥
देह घृणा का गेह मलस्थल और ठाठ सब ऐसे हैं ।
कमला चपला यौवन सुरधनु स्वजन पथिकजन जैसे हैं ॥

हाथी घोड़े रथ आदिक ये इन्द्र जाल की तुल्य खड़े।
अहो आँख के टिमकारे भर में न कहीं ये दीख पड़ें॥२४

उद् बुद बुद की तरह देखते देखते विघट जावेगा।
देह न कोई यन्त्र मन्त्र फिर इसको रखने पावेगा॥
हृष्ट पुष्ट जो दीख रहा है पलभर में मिट जावेगा।
कुछ भी नहीं कर सकेगा तूं केवल रुदन मचावेगा॥२५॥

कल मैं ऐसा करूं और परसों ऐसा कर पाऊंगा।
दुनियां के लोगो के आगे चतुराई दिखलाऊंगा॥
कौन कहे कब मूर्ख ? तुझे वह आकर काल दबावेगा।
धरा रहेगा विचार तेरा तूं तब झट उठ जावेगा॥२६॥

विलख रहेंगे कुटुम्ब के सब किन्तु अकेला जावेगा।
इस वैभव में से धागा भी संग न लेने पावेगा॥
तेरा अच्छा बुरा भाव ही सिर्फ साथ में जावेगा।
और ठाठ यह सभी यहां का यहाँ पड़ा रह जावेगा॥२७

तूँ मेरा मेरा कह विप्लव जिनके लिये मचाता है।
किन्तु कहो दिल में तेरे क्या विचार भी यह आता है॥
कुटुम्ब को तो रहने दो यह तनु भी साथ न जावेगा।
तुझसे एकमेक सा जो है यहीं पड़ा रह जावेगा॥२॥८

जिसको मल मल कर नित्यप्रति हे पुनीत तूँ धोता है।
उलटा मैला हो यह तेरे श्रम को निष्फल खोता है॥

नो द्वारों से मैल बहा करता है सन्तत इसमें से।
फिर भी तुझको घृणा नहीं इस पर होती है क्यों कैसे॥२६
जिसके पीछे लग कर तूने घोर पाप उपजाया है।
तीन लोक की प्रभुता तज दर दर का भिक्षु कहाया है॥
अब तक तूने गुरु वचनों को भी कैसा था ठुकराया।
हन्त हन्त मोह ने तुझे बेदरदी से कि धर दबाया॥३०॥
भोगोरग का विष इस चेतन के चित्त में व्याप्त होवे।
गुरु गारुडि के सन्देश विना उसको कहो कौन खोवे॥
ताकि नीम्ब सा कड़वा लौकिक धन्धा मीठा लगे इसे।
निर्विकार होकर कोई मानव भी छूहे नहीं जिसे॥३१॥
इन्धन से पावक समान भोगों से तृप्त न तनु- धर हो।
गुरु जन कहते हैं कि बात यह सदा तुम्हें भी याद रहो॥
अग्नि शमन के लिये काष्ट तज जल सिंचन करना होवे।
भोग छोड़ जो साम्य गहे शान्ति द्वारा संकट खोवे॥३२
बहुत बार तूं देव योनि के भोग भोग कर आया है।
उनके सम्मुख इन भोगों की तुच्छ मात्र यह माया है॥
ओस बूंद से प्यास मिटे क्या सिन्धु नीर से जो न गई।
यों सन्तोष भाव अपनावे तो हो जाय जगद्विजयी॥३३॥
कांने पौण्डे को बोदे तो सुन्दर सांठा बन जावे।
अगर उसे चूपे, गलाफ फटने से दुःख घोर पावे॥

वैसे ही इस नर शरीर से तप कर सदा सुखी होवे।
यदि भोगों में इसे गँमावे तो दुःखी होकर रोवे ॥३४॥

अहो त्याग है धर्म मनुज का कहते हैं सम्यग्ज्ञानी।
बद्ध कोष्ठ वाला मानव तो होता है संकट खानी ॥
भाग्यवक्त्र से उदर कोश में जो आया, अर्पण करदे।
उसे भूमि पर निरीहपन से, चित्त नहीं फिर उसपर दे॥३५

पूर्णा– पूर्ण रूप से त्यागी दो प्रकार हो दृढ बाहो।
पहिला हो वनवासी जिसका सुन्दर–तम समझोता हो ॥
शत्रु न मित्र जहां कोई हो, तृण कञ्चन समान होवे।
भले बुरे पन को जिसका मन पर चीजों पर से खोवे॥३६

गेही हो दूसरा जो कि निज कुल पोषण करने वाला।
अपने श्रम से किन्तु न हो पर का शोषण करने वाला ॥
करने योग्य करे विवेकयुत विशद वृत्ति पर भाव दिये।
कोई भी क्यों दुःखी होवे यह विचार जिसके कि हिये॥३७

अपने अपने गुण पर्यय को लिये हुये सारी चीजें।
तीन लोक कालत्रय में रहती हैं कभी न वे छीजें ॥
यों विचार कर न प्रमोद न विषाद किसी पर करता है।
वह यतिनायक इस भूतलपर निजानन्द पद धरता है॥३८

गुणज्ञ होकर वृद्ध विशेषज्ञों पर कष्ट न आने दे।
बोध विहीन बालकों को उत्पथ में कभी न जाने दे ॥

आस्तिकता को अपना कर जो सदाचार में तत्पर हो।
गेहि शिरोमणि वह मानव भी इस जगमें आबाद रहो॥३९
संक्लेशित सब संसारी जन जिसको दीखा करते हैं।
जन्म मरण का रोग सदा से लिये हुये जो फिरते हैं॥
उसकी सुन्दर औषधि जिन वचनामृत वितरण करता है।
सबके लिये स्वयं भी उसका सेवन यति पति करता है॥४०
लोक मार्ग अपनाने वाला पथ्याशी जो जन होवे।
रुग्ण संकटापन्न जनों के यथाशक्य संकट खोवे॥
करुणावश उनके दुःखों पर दुःखी हो दिल में रोवे।
देखें जबकि निराकुल उनको तभी आप सुख से सोवे॥४१
अड़चन कर निज तनु ही यति को दीखा करता है जगमें।
और न कोई विरुद्ध उसकी नजरों में उसके मग में॥
अतः उसी से रह उदास वह आत्मकार्य को करता है।
कितने ही हों वहां उपद्रव नहीं किसी से डरता है॥४२॥
गृह मेधी लोक द्वयहित कर सुकार्य का अनुसरण करे।
दृढता पूर्वक नीति मार्ग पर चलने से न कदापि टरे॥
दुर्व्यसनों से दूर रहे फिर नहीं किसी से कभी डरे।
कितने भी हों विरोध उन सबका डटकर परिहार करे॥४३
गेहि धर्म अपवाद रूप यह कहा गया है आगम में।
जिसका फल निपतन से बचना याद रहे यों तुम्हें हमें॥

अन्त में न यति धर्म बिना हो सकता जगमें निस्तारा।
जो निर्ग्रन्थ दिगम्बरपन को लिये हुए यह है प्यारा॥४४

❀ गीतिका छन्द ❀

मानव तनुका नहीं भरोसा जब पल का है।
तब कैसे मतिमान कहो कल करना चाहे॥
निज हित को यदि हुई प्राप्त गंगा फिर कैसे।
न नहावे सन्तप्त हुवा मानव हो जैसे॥४५॥
यदि भूखे के निकट अशन का भाजन आवे।
हो प्रमाद वश रहे, नहीं भोजन कर पावे॥
समय बीत जाने पर मन ही मन पछतावे।
सावधान सन्तों के सम्मुख मूर्ख कहावे॥४६॥
दोहा-हाथ जोड़ तब विनतियुत बोलो श्रेणिकराय।
गुणसागर हैं आप विभु मैं अवगुण समुदाय॥४७॥
आप सरीखे यदि न हों तारण तरण जहाज।
भववारिधि उस पार जन कैसे जावे आज॥४८॥
उत्तम पुरुष पना धरे ननु तुम पद-प्रयोग।
जान सके इस बात को नहीं आज तक लोग॥४९॥
मुझ पद को हैं कह रहे उत्तमता का हेतु।
जगत जनों के है यही ज्ञान सूर्य पर केतु॥५०॥

यों मुनि पद रज ले चला श्री ·श्रेणिक भूभीश ।
इधर निजात्मध्यान में तन्मय हुए यतीश ॥५१॥

—(::)—

—अन्तिम साधना—

रही नहीं आशा कोई भी नासा दृष्टि उचित की थी ।
क्यों किसलिये कहां जाना यों आसन में स्थिरता लीथी ॥
करने को थां शेष न जगमें कर पर कर अत एव दिया ।
किससे क्या बोलना, शोच ऐसा उनने था मौनालिया॥१॥
तेरा मेरा रहा न कोई फिर यह मन किस पर जावे ।
सभी एकसी चीजें जगकी इसको याद कौन आवे ॥
यों निर्द्वन्द्व अवस्था अपना कर होने था स्वस्थ चला ।
वह यतिवर जिसके लिये नहीं रह पाई थी यहां बला॥२॥
शोचने लगा निज मनमें था यह आज्ञा जिनजी की है ।
इतर पदार्थों से चेतन ने व्यर्थ अहो यारी की है ॥
यही चोरटापन इसका इसको देखो अपाय कर है ।
ताकि संकटापन्न बन रहा, परथा यह सुखका घर है ॥३॥
सुवीचार की धानी से झट तैल तिलों में से जैसे ।
आत्मभाव को पृथक् किया रागादि विकारों से वैसे ॥

फिर एकत्व वितर्क नाम की ध्यान वह्नि से जला दिया।
घाति नाम उत्कर को केवल बोध विशद सम्प्राप्त किया ॥४

❀ हरि गीताच्छन्द ❀

जो आज तक नर था वही अब नर शिरोमणि हो लिया।
मन वचन तनु से क्योंकि उसने त्याग का आश्रय दिया॥
नव कोटि संयम को यथोदित पूर्ण सम्पादित किया।
संज्ञानभूषण निजात्मा का ही शरण समुचित लिया॥५॥
जितना करे जो त्याग उतना मान्य जग में मानिये।
है त्याग में ही महत्ता यों आप पाठक ! जानिये॥
अम्बा तनय के लिए करती त्याग लौकिक है यतः।
होती सदा स्तुति योग्य उसके लिए वह अनुभावतः॥६॥
चरितेश ने उच्छिष्ट कीसी तरह विश्वविभूति को।
तज कर गुणों के लिए की स्वीकार सागर रीति को॥
पढ़ सुन जिसे सब लोग समझे त्याग के गुण को महा।
इसलिए गुणसुन्दर कथानक यह यहां मैंने कहा॥७॥

—: कुसुमलताच्छन्द :—

हिसार में श्रेणिक का जीवन चरित यथोचित पढ़ा गया।
गुणसुन्दर मुनि का सुनाम उस में आया जब एक नया॥
सती सुजानी श्राविका वहां बोली- क्या परिचय इनका।
इस पर मैंने बतलाया वृत्तान्त मनोहर यह उनका॥८॥

-:कवि की मंगल कामना:-

भू पर सदा सुभिक्ष हो न हो रोग या सोग ।
राजा धर्म धुरीण हो सुखी रहें सब लोग ॥
मन में श्री भगवान को स्मरण करे दिन रात ।
लक्ष्य एक समभाव का बना रहे अवदात ॥
कायरता तज हों दृढ़ाध्यवसायी सब बन्धु ।
बनें ताकि यह सुगमतर जो कि घोर जगदन्धु ॥
नाना जन नाना भजन जिस को जो रुच जाय ।
याद एक उसकी भली जहां न भोग सुहाय ॥
हुनर अनेकानेक हैं किन्तु हुनर वह ठीक ।
बात जहां इन्सान की होवे नहीं अलीक ॥
काम कोप मद मोह पर जय पावे अभिराम ।
व्यर्थ न खोवे जन्म को भजे वीर का नाम ॥

इति शुभं भूयात्

——(::)——

ॐ

❀ श्री वीतरागायनमः ❀

जैन धर्म शिक्षावली

चौथा भाग

पाठ १

स्तुति

(पं० दौलतरामजी कृत)

दोहा

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्द रस लीन।
सो जिनेन्द्र जयवन्त नित, अरि रज रहस विहीन॥

❀ पद्धरि छन्द ❀

जय वीतराग विज्ञान पूर,
जय मोह-तिमिर-को हरन सूर।
जय ज्ञान अनन्तानन्त धार,
दृग सुख-वीरज-मंडित अपार॥१॥

जय परम शान्ति मुद्रा समेत,
भविजन को निज अनुभूति हेत ।
भवि-भागन-वश जोगे वशाय,
तुम धुनि व्है सुनि विभ्रम नशाय ॥२॥
तुम गुण चिन्तित निज पर विवेक,
प्रगटै, विघटे आपद अनेक ।
तुम जग-भूषण दूषण वियुक्त,
सब महिमा युक्त विकल्प मुक्त ॥३॥
अविरुद्ध शुद्ध चेतन स्वरूप,
परमात्म परम पावन अनूप ।
शुभ अशुभ विभाव अभाव कीन,
स्वाभाविक परणतिमय अछीन ॥४॥
अष्टादश दोष विमुक्त धीर,
स्व चतुष्टय मय राजत गम्भीर ।
मुनि गणधरादि सेवत महन्त,
नव केवल लब्धि रमा धरन्त ॥
तुम शासन सेय अमेय जीव,
शिव गये जाहि जैहैं सदीव ।
भवसागर में दुख क्षार-वारि,
तारन को और न आप टारि ॥६॥

यह लखि निज दुख गद हरन काज,
तुम ही निमित्त कारण इलाज।
जाने तातें मैं शरण आय,
उचरों निज दुख जो चिर लहाय ॥७॥

मैं भ्रम्यो अपनपो विसरि आप,
अपनाये विधि फल पुण्य पाप।
निज को पर को करता पिछान,
पर में अनिष्टता इष्ट ठान ॥८॥

आकुलित भयो अज्ञान धारि,
ज्यों मृग मृग-तृष्णा जान वारि।
तन परिणति में आपो चितार,
कबहुँ न अनुभवो स्वपदसार ॥९॥

तुमको बिन जाने जो कलेश,
पाये सो तुम जानत जिनेश।
पशु नारक नर सुरगति मझार,
भव धर धर मर्यो अनन्त बार ॥१०॥

अब काल लब्धि बलतें दयाल,
तुम दर्शन पाय भयो खुशाल।
मन शान्त भयो मिट सकल द्वन्द,
चाख्यो स्वातम रस दुख निकन्द ॥११॥

तातै अब ऐसी करहु नाथ,
बिछुरै न कभी तुम चरण साथ।
तुम गुणगण को नहिं छेव देव,
जगतारण को तुम विरद एव ॥१२॥
आतम के अहित विषय कषाय,
इनमे मेरी परिणति न जाय।
मैं रहों आप में आप लीन,
सो करो होहुँ ज्यों निजाधीन ॥१३॥
मेरे न चाह कछु और ईश,
रत्नत्रय निधि दीजे मुनीश।
मुझ कारज के कारण सु आप,
शिव करहु हरहु मम मोह ताप ॥१४॥
शशि शान्ति करत तप हरन हेत,
स्वयमेव तथा तुम कुशल देत।
पीवत पीयूष ज्यों रोग जाय,
त्यों तुम अनुभव तें भव नशाय ॥१५॥
त्रिभुवन तिहुँ काल मझार कोय,
नहिं तुम बिन निज सुखदाय होय।
मो उर यह निश्चय भयो आज,
भव जलधि उतारन तुम जहाज ॥१६॥

दोहा—तुम गुण-गणमणि गण पति, गणत न पावहिं पार।
'दौल' स्वल्प मति किमि कहै, नमों त्रियोग सभार॥

प्रश्नावली

१—यह स्तुति किसकी बनाई हुई है ?
२—स्तुति से तुम क्या समझते हो ? इस स्तुति को कब और क्यों पढ़ते हो ?
३—नीचे लिखे छन्द सुनाओः—
(क) "अभ्यो अपन पो" से लेकर "मरो अनन्त बार"।
(ख) आतम के अहित…अन्त तक।
(ग) आदि के चार छन्द पढ़ कर सुनाओ।

—❀—

पाठ २

धीर-वीर चन्द्रगुप्त

बौद्धों के ग्रन्थ महावंश से प्रकट है कि मगध देश में बसने वाले शाक्य घराने के कुछ राजा अन्य राजाओं के आक्रमण से पीड़ित होकर हिमाचल पर्वत पर जा बसे। वहाँ एक नगर मयूर की गर्दन के समान रच कर इसका नाम 'मयूर नगर' रखा। वहाँ के रहने वाले मौर्य कहलाने लगे।

इन्हीं मौर्य राजकुमारों में एक चन्द्रगुप्त नाम का राजकुमार भी था। उसकी माता मौर्याख्य देश के

क्षत्रियों की राजकुमारी थी। राजा दुष्ट था, इसलिए चन्द्रगुप्त की माता पटना चली गई। वहाँ उसने वीर पुत्र को जन्म दिया और उसका पालन पोषण किया। राजकुमार चन्द्रगुप्त बड़े पराक्रमी और बुद्धिमान् थे। वह शास्त्र और शस्त्र विद्या में निपुण हो गये। चाणक्य नाम के एक ब्राह्मण ने चन्द्रगुप्त को पढ़ाकर प्रवीण किया।

उसी समय मगध में महापद्मानन्द का राज्य था। जिससे चाणक्य को सन्तोष न था। वह राजा को हटाकर चन्द्रगुप्त को राजगद्दी पर बिठाना चाहता था। उन दिनों भारत पर यूनान के सम्राट् सिकन्दर महान् का आक्रमण हो रहा था और उसने उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त एवं पंजाब पर अपना अधिकार जमा लिया था। चन्द्रगुप्त ने यूनानियों की वीरता की प्रशंसा सुनी थी। चाणक्य की सम्मति से वह सिकन्दर महान् की सेना में बेधड़क चला आया और उन विदेशियों की सेना में भरती हो गया।

चन्द्रगुप्त को यूनानी सेना में रहते अभी बहुत समय नहीं बीता था कि उसका क्षत्रिय तेज भड़क उठा। भारतीय क्षत्रियों का लहू उसकी नसों में खौल रहा था। वह स्वाभिमान खोकर अपना जीवन मलीन

नहीं करना चाहता था। एक दिन बातों ही बातों में सिकन्दर से उसकी बिगड़ गई। सिकन्दर का साथ छोड़ कर वह कहीं चल दिया। अब चन्द्रगुप्त के भाग्य का सितारा चमका, चाणक्य के सहयोग से उसने नन्द राजा को हरा दिया। चन्द्रगुप्त मगध का अधिपति हो गया, और उसने अपना राज्य सारे भारत में फैला दिया। राजा नन्द की पुत्री का विवाह चन्द्रगुप्त से हुआ।

चन्द्रगुप्त ने यूनानी राजा सैल्युकस को भी बड़ी वीरता से हराया। सैल्युकस ने अपनी पुत्री चन्द्रगुप्त को विवाह दी तथा काबुल, कन्धार व ईरान के प्रदेश भी भेंट किये। चन्द्रगुप्त ने भारत के बाहर के राजाओं को भी अपने प्रभाव से वश मे कर लिया। प्रजा उसके राज्य में राम-राज्य के सुख भोगने लगी। धर्म और सत्य की बढ़वारी हुई।

चन्द्रगुप्त जैन धर्म का दृढ़ श्रद्धानी था। सदैव गृहस्थ का धर्म पालता था। उसने पशुओं की रक्षा के लिये भी अस्पताल खुलवाये थे। वह बड़ा दानी तथा जीव-दया प्रचारक था। एक बार चन्द्रगुप्त ने जैन गुरु श्री भद्रबाहु स्वामी का उपदेश सुना। उसे वैराग्य हो गया और अपने पुत्र बिन्दुसार को राज्य देकर वह साधु होगया।

दक्षिण भारत के श्रवण बेलगोल-नामक पवित्र स्थान पर इसने गुरु का समाधि-मरण किया, उनकी खूब सेवा की, गुरु तो स्वर्ग पधारे। पीछे चन्द्रगुप्त ने भी जन्म भर तप किया और स्वर्ग पाया।

चन्द्रगुप्त ने २२ वर्ष राज्य किया। इसका समय सन् ईस्वी ३२२ पूर्व से २९८ पूर्व तक रहा। चन्द्रगुप्त संसार में आदर्श सम्राट् हुआ। उसकी शासन पद्धति अत्यन्त उत्तम थी। उसके पास एक बड़ी भारी सेना थी। देश में हर एक को सुख था। जनता की आर्थिक दशा बड़ी अच्छी थी। बाहर विदेशों से भी यात्री आते थे। इसके दरबार में मेगस्थनीज़-नाम का यूनानी राजदूत रहता था, उसने चन्द्रगुप्त के राज्य का हाल लिखा है। बालको! तुम भी चन्द्रगुप्त के समान धीरता और वीरता से काम लो। यदि ऐसा करोगे तो सफलता का मुकुट तुम्हारे सिर पर सोहेगा।

प्रश्नावली

१—चन्द्रगुप्त किस वंश मे उत्पन्न हुए थे और बताओ इनके वंश का यह नाम किस प्रकार पड़ गया?

२—चन्द्रगुप्त के गुरु कौन थे और वे क्या चाहते थे?

३—चन्द्रगुप्त कौन २ सी विद्याओं में निपुण थे? और उन्होंने

मगध का राज्य किस प्रकार प्राप्त करके अपना विवाह किस के साथ किया था?

४—चन्द्रगुप्त ने अपना राज्य किस प्रकार चलाया और क्यों कर अपनी प्रजा का पालन किया?

५—चन्द्रगुप्त ने अपना अन्तिम काल किस प्रकार सफल किया?

६—मेगस्थनीज कौन था, उसके बारे में तुम क्या जानते हो?

—※—

पाठ ३

अष्ट मूल गुण

मूल जड़ को कहते हैं। जैसे जड़ के बिना पेड़ नहीं ठहर सकता, उसी प्रकार कुछ नियम ऐसे होते हैं कि जिनका पालन किए बिना मनुष्य धर्म-मार्ग पर नहीं चल सकता। इसलिए धर्मपालन के सबसे पहले मुख्य नियमों को मूल गुण कहते हैं।

जिन मुख्य नियमों को पहले पालन किये बिना मनुष्य श्रावक नहीं कहला सकता, वे नियम श्रावक के मूल गुण कहलाते हैं। वे मूल गुण आठ हैं।

(१) मद्य त्याग, (२) मांस त्याग, (३) मधु त्याग, (४) अहिंसा, (५) सत्य, (६) अचौर्य, (७) ब्रह्मचर्य और (८) परिग्रह-परिमाण।

(१) मद्य-त्याग—शराब वगैरह नशीली चीजों के सेवन का त्याग मद्य त्याग है। शराब अनेक पदार्थों के सड़ाने से पैदा होती है। सड़ाने से उसमें अनेक कीड़े पैदा होते और मरते रहते हैं। जीव-हिंसा के बिना शराब किसी प्रकार तैयार नहीं हो सकती। इसलिए शराब पीने से जीव हिंसा का पाप लगता है। शराब पीने से मनुष्य पागल-सा हो जाता है, उसे बुरे भले का ज्ञान नहीं रहता। शराबी के मुख में कुत्ते पेशाब कर जाते हैं। इसी प्रकार शराबी की और भी दुर्गति होती है। इसलिये शराब नहीं पीनी चाहिये। तथा भंग, गांजा, अफीम, कोकीन, चरस, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट-आदि और भी नशीली चीजों का सेवन कदापि नहीं करना चाहिए।

(२) मांस त्याग—मांस खाने का त्याग करना मांस-त्याग कहलाता है। मांस त्रस जीवों के घात से उत्पन्न होता है। उसमें अनेक जीव पैदा होते और मरते रहते हैं। मांस के छूने मात्र से ही जीव मर जाते हैं। इसलिये जो मांस खाता है, वह बड़ी हिंसा करता है। मांस खाने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। मांस खाने वालों के परिणाम क्रूर हो

जाते हैं। मांस खाने से शरीर पुष्ट नहीं होता। इसलिए भी सभी स्त्री-पुरुषों को मांस छोड़ना ही उचित है।

(३) मधु-त्याग—शहद खाने का त्याग मधु-त्याग है। शहद मक्खियों का उगाल (वमन) होता है। मधु में हर समय सूक्ष्म-त्रस जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। मधु, मक्खियों के छत्ते को निचोड़ कर निकाला जाता है। छत्ते में छोटी मक्खियाँ रहती हैं। छत्ते को निचोड़ते समय वे सब मर जाती हैं और शहद में उन सबका निचोड़ आ जाता है इसलिए ऐसी अपवित्र हिंसा की खान, घृणा करने वाली चीज का त्याग करना ही उचित है।

(४) अहिंसा-अणुव्रत—जान-बूझकर इरादा करके जन्तुओं की हत्या करने से बचना अहिंसा अणुव्रत है। किसी भी मानव को धर्म के नाम से पशुओं की बलि न करनी चाहिए। न शिकार के लिए मारना चाहिए। न ऐसा शौक चमड़े, रेशम व हिंसाकारी वस्तुओं के व्यवहार का करना चाहिए जिससे जन्तुओं का अधिक घात हो। खेती, व्यापार, शिल्प, राज्य प्रबन्ध सम्बन्धी हिंसा गृहस्थों से छूट नहीं सकती।

इसी आरम्भी हिंसा कहते हैं जीव दया के लिए पानी छानकर पीना चाहिये। दोहरे मोटे साफ कपड़े से छान कर पीना चाहिये। बिना छाना पानी पीने से बहुत त्रस जीवों की हिंसा होती है। जीव दया के लिए रात्रि को भोजन न करने का भी जहाँ तक हो सके अभ्यास करना चाहिए। रात्रि को मच्छर अधिक उड़ते हैं। सू॰ के प्रकाश में भोजन करने से भोजन पाचक भी होता है।

(५) सत्य अणुव्रत—पीड़ाकारी वचन कभी नहीं कहने चाहिएँ, झूठ बोलने से दूसरों को कष्ट पहुँचता है। झूठ बालकर अपना मतलब निकालना तथा धनादि कमाना पाप है। असत्य हिंसा का ही अंग है।

(६) अचौर्य अणुव्रत—बिना दी हुई वस्तु रागवश उठा लेना चोरी है। मनुष्य को सत्य व्यवहार करना चाहिए। चोरी करने से दूसरे के प्राणों को कष्ट पहुँचता है। वह भी हिंसा का भेद है।

(७) ब्रह्मचर्य अणुव्रत—ब्रह्मचर्य बड़ा गुण है जब तक विवाह न हो पूर्ण ब्रह्मचर्य पालना उचित है। विवाह होने पर अपनी पत्नी से सन्तोष रखना उचित है। पर स्त्री का त्याग होना चाहिए।

(८) परिग्रह परिमाण व्रत — गृहस्थ को जितनी इच्छा व जरूरत हो उतनी सम्पत्ति का परिमाण कर लेना चाहिए। जब उतना धन हो जावे तब सन्तोष से अपना जीवन धर्म-ध्यान व परोपकार में बिताना चाहिए।

नोट—किन्हीं आचार्यों ने मद्य, मांस, मधु और पाँच उदम्बर के त्याग को ही अष्टमूल गुण कहा है।

पांच उदम्बर यह हैं—(१) बड़फल (२) पीपलफल (३) पाकर (पिलखन) (४) गूलर (५) कठूमर (अंजीर) इनमें त्रस जीव पाये जाते हैं। इनमें से कभी किसी फल में साफ दिखाई नहीं पड़ते हैं, तो भी उनके पैदा होने की सामग्री है। इस कारण जीव दया के लिये उनका त्याग उचित है।

मद्य, मांस, मधु इन तीनों को मकार कहते हैं, क्योंकि इन तीनों का पहला अक्षर 'म' है।

प्रश्नावली

१—मूल गुण किसे कहते है ? और इनका पालन कौन करता है ? यह भी बताओ कि इन गुणों का नाम 'मूलगुण' क्यों पड़ा ?

२—मूलगुण कितने होते हैं ? नाम बताओ।

३—मद्य, मांस व मधु सेवन में क्या बुराई है ? अहिंसाणुव्रत का धारी इन वस्तुओं का सेवन करेगा या नहीं ?

४—अहिंसाणुव्रत से क्या अभिप्राय है ? खेती व्यापार-आदि करने से हिंसा होती है या नहीं ? तुम्हारी समझ में खेती व्यापार करने वाला गृहस्थी अहिंसाणुव्रत धारण कर सकता है या नहीं ?

५—क्या मूलगुण को अन्य रूप से बतलाया गया है ? यदि बतलाया है तो इसका क्या कारण है ?

—॥—

पाठ ४

अभक्ष्य

(१) जिन पदार्थों के खाने से त्रस जीवों का घात होता है जैसे—बड़, पीपल आदि पांच उदम्बर फल । मिस (कमल-डंडी), घीघा अन्न, गले सड़े फल जिनमें त्रस जीव पैदा हो जावें तथा मांस, मधु, द्विदल और चलित रस ।

नोट—द्विदल कच्चे दूध, कच्चे दही और कच्चे दूध की जमी हुई वस्तुएँ, उड़द, मूंग, चना आदि द्विदल वस्तु (जिसके दो टुकड़े बरावर २ हो जाते हैं) को मिलाकर खाना ।

चलित रस—वह पदार्थ जिनका स्वाद बिगड़ गया हो, जो मर्यादा से रहित हो गए हों, जैसे बदबूदार घी, सुरसली वाला आटा तथा बहुत दिनों की वनी हुई मिठाई, मुरब्बा, अचार-आदि ।

(२) जिन पदार्थों को खाने से अनन्त स्थावर जीवों का घात होता हो जैसे—आलू, अरवी, मूली, गाजर, लहसन, अदरक, प्याज, शकरकन्द, कचालू, तुच्छ फल (जिसमें बीज न पड़े हों व जो बहुत छोटे हों और बड़े हो सकते हों ।)

(३) जो पदार्थ प्रमाद तथा काम विकार के बढ़ाने वाले हों जैसे—शराब, कोकीन, चरस, तम्बाकू आदि नशीली चीजें, माजून आदि ।

(४) अनिष्ट—पदार्थ अर्थात् ऐसे पदार्थ जो खाने योग्य तो हों, परन्तु शरीर की हानि पहुँचावें, जैसे खाँसी दमा रोग वाले को मिठाई खाना, बुखार वाले को घी खाना, अधपका कच्चा देर से पचने वाला अपनी प्रकृति विरुद्ध भोजन करना ।

(५) अनुपसेव्य—पदार्थ जिनको अपने देश-समाज तथा धर्म वाले बुरा समझें।

इसके सिवाय मक्खन, चमड़े के कुप्पे व तराजू आदि में रखे हुए तथा छुवे हुए घी, हींग, सिरका आदि पदार्थ भी अभक्ष हैं ।

प्रश्नावली

१—अभक्ष्य से तुम क्या समझते हो ? और यह कितने प्रकार का होता है ? बताओ।

२—द्विदल किसे कहते है ? दही में डाले हुए उड़द के बड़े द्विदल हैं या नहीं ?

३—चलित रस किसे कहते हैं ? बहुत दिनों की बनी मिठाई, पुराना अचार और एक महीने का पिसा हुआ आटा चलित रस है या नहीं और क्यों ?

४—बताओ अभक्ष्य खाने से क्या हानि है ?

५—अनिष्ट और अनुपसेव्य किसे कहते हैं ? और कौन से पदार्थ अनिष्ट और अनुपसेव्य की श्रेणी में गिने जा सकते हैं।

—❀—

पाठ ५

दरश दिखायो है

❀ सवैया ❀

[१]

त्याग जग राग, ले वैराग, पाग निज रस,
आतम में लीन होय, आसन लगायो है।
देख वीतराग रूप शान्ति स्वरूप छवि,
ध्यान की अनूपता से मन हर्षायो है ॥

आप के बताये हित मग पर पग रख,
जगत के जीवन ने लाभ अति पायो है।
धन धन वीर महावीर जिनराज आज,
मम अहोभाग्य तुम दरश दिखायो है॥

[२]

दिया उपदेश दया धर्म का हितकर,
हिंसा में पाप महापाप बतलायो है।
तज के कषाय अरु विषयों की वासना को,
आतम कल्याण करो मग यह सुझायो है॥
पर से ममत छोड़ निज से स्नेह जोड़,
आतम में लीन निजाधीन पद पायो है।
धन धन ऐसे महावीर जिनराज आज,
मम अहोभाग्य तुम दरश दिखायो है।

(ज्योतिप्रसाद)

प्रश्नावली

१—इस कविता के रचयिता कौन हैं, उनके सम्बन्ध में तुम क्या जानते हो?

२—भगवान् महावीर का उपदेश संक्षेप से अपने शब्दों में वर्णन करो?

३—आत्महित का मार्ग क्या है?

४—वीतराग शान्त छवि से क्या समझते हो?

—❀—

पाठ ६

कर्म

प्यारे बालको ! तुम नित्य प्रति संसार में देखते हो, कोई सवेरे से शाम तक कठिन परिश्रम करता है, फिर भी उसे सफलता प्राप्त नहीं होती । कोई थोड़े ही परिश्रम से अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर लेता है । कोई-कोई थोड़े परिश्रम करने से विद्या सम्पादन कर लेते हैं और कोई-कोई घोर परिश्रम करने पर भी मूर्ख बने रहते हैं । कितने ही लोग धन उपार्जन के लिये दिन रात नहीं गिनते, फिर भी दरिद्रता उनका पीछा नहीं छोड़ती । स्वामी और सेवक में से सेवक ही अधिक परिश्रम करता है और यही निर्धन होता है, ऐसी-ऐसी बातों पर विचार करने से विदित होता है कि जहां छोटे से छोटे और बड़े से बड़े कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिये परिश्रम की आवश्यकता है, वहां साथ ही किसी और शक्ति विशेष की भी आवश्यकता है । वह शक्ति कर्म है, जिसे लोग भाग्य कहा करते हैं । जब कर्म परिश्रम के अनुकूल होता है, तभी कार्य में सफलता प्राप्त होती है । देखो दो छात्र साथ पढ़ते हैं, समान परिश्रम करते हैं, उनमें से एक

परीक्षा के समय बीमार हो जाता है, परीक्षा देने नहीं पाता। दूसरा परीक्षा देकर पास हो जाता है यह सब कर्म का माहात्म्य है। पहले विद्यार्थी ने क्या कुछ कम परिश्रम किया था।

यह भी ध्यान रहे कि यदि अकेले 'कर्म' के भरोसे निठल्ले बैठे रहोगे और हाथ पैर न हिलाओगे तो सफलता नहीं मिलेगी। सफलता तो प्रयत्न से मिलती है, किन्तु उसके लिए कर्म की अनुकूलता होनी चाहिये। कर्म-कर्म कहते सभी हैं, परन्तु कर्म के मर्म को कोई नहीं जानते। आओ तुम्हें संक्षेप में इस पाठ में कर्म का कुछ रहस्य समझावें।

कर्म—उन पुद्गल परमाणुओं को कहते है जो आत्मा का असली स्वभाव प्रकट नहीं होने देते। जैसे बादल सूर्य के सामने आकर उसके प्रकाश को ढक देते हैं उसी प्रकार बहुत से पुद्गल परमाणु (छोटे २ टुकड़े) जो इस लोक में सब जगह भरे हुए हैं, आत्मा में क्रोधादि कषायों के पैदा होने से खिच कर आत्मा के प्रदेशों से मिलकर आत्मा के स्वभाव को ढक देते हैं। कषायों के सम्बन्ध से उन पुद्गल परमाणुओं में दुःख देने की शक्ति भी हो जाती है। इन्हीं पुद्गल परमाणुओं को कर्म कहते हैं।

कर्म आठ हैं (१) ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु (६) नाम (७) गोत्र और (८) अन्तराय।

१ ज्ञानावरण—कर्म उसे कहते हैं जो आत्मा के ज्ञान गुण को प्रकट न होने दे। जैसे प्रतिमा पर पर्दा डाल दिया जावे, तो वह प्रतिमा को ढके रहता है। उसे प्रगट नहीं होने देता। इसी प्रकार ज्ञानावरणी कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को ढके रहता है प्रकट नहीं होने देता। जैसे मोहन अपना पाठ खूब परिश्रम से याद करता है, परन्तु उसे याद नहीं होता, इससे मोहन के ज्ञानावरण कर्म का उदय समझना चाहिये। ईर्षा से सच्चे उपदेश की प्रशंसा न करना, अपने ज्ञान को छुपाना अर्थात् दूसरों के पूछने पर न बताना। दूसरों को इस भाव से कि पढ़ कर मेरे बराबर हो जायेगा, नहीं पढ़ाना। दूसरों के पढ़ने मे विघ्न डालना, उनकी पुस्तके छुपा देना, बिगाड़ देना, दूसरों को सत्य उपदेश देने तथा सुनने से रोकना, सच्चे उपदेश को दोष लगाना, गुरु और विद्वानों की निन्दा करना, पढ़ने में आलस्य करना। इत्यादि कार्यो से ज्ञानावरण कर्म बधता है। जितना जितना ज्ञानावरण कर्म हटता जाता है—ज्ञान चमकता जाता है।

२ दर्शनावरण कर्म—उसे कहते हैं जो आत्मा के दर्शन गुण को प्रकट न होने दे जैसे एक राजा का दरबान पहरे पर बैठा हुआ है वह किसी को भी अन्दर जाकर राजा के दर्शन नहीं करने देता, सबको बाहर से ही रोक देता है। जैसे सोहन मन्दिर में दर्शन करने के लिये गया परन्तु मन्दिर का ताला लगा पाया। इससे समझना चाहिए कि सोहन के दर्शनावरण कर्म का उदय है।

३ वेदनीय कर्म—उसे कहते हैं जो आत्मा के लिये सुख दुःख की सामग्री का सम्बन्ध मिलावे। इस कर्म के उदय से संसारी जीवों को ऐसी चीजों का मिलाप होता है जिनके कारण वह सुख दुःख महसूस करते हैं। जैसे शहद लपेटी तलवार की धार चाटने से सुख दुःख दोनों होते है अर्थात् शहद मीठा लगता है इससे तो सुख होता है परन्तु तलवार की धार से जीभ कट जाती है इससे दुःख होता है। इस प्रकार वेदनीय कर्म सुख और दुःख दोनो देता है। जैसे प्रकाशचन्द ने लड्डू खाया अच्छा लगा और पैर में कांटा गड़ गया दुःख हुआ। दोनों ही हालतों में वेदनीय कर्म का उदय समझना चाहिये।

वेदनीय कर्म के दो भेद है—(१) सातावेदनीय

(२) असाता वेदनीय।

सातावेदनीय कर्म—उसे कहते हैं जिसके उदय से सुख देने वाली वस्तुएँ मिलें।

असाता वेदनीय कर्म—उसे कहते हैं जिसके उदय से दुःख देने वाली वस्तुएँ मिलें।

सब जीवों पर दया करना, चार प्रकार का दान देना, पूजन करना, व्रत पालन करना, क्षमा धारण करना, लोभ नहीं करना, सन्तोष धारण करना, समता भाव से दुःख सह लेना इत्यादि कार्यों से सातावेदनीय (सुख देने वाला कर्म) का बन्ध होता है।

अपने आपको या दूसरे को दुःख देना, शोक में डालना, पछतावा करना-कराना, पीटना, रोना-रुलाना तथा रो-रो कर ऐसा विलाप करना कि सुनने वाले का दिल धड़क उठे। इस प्रकार के कार्यों से असाता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

४ मोहनीय कर्म—जिसके उदय से यह आत्मा अपने आपको भूल जावे और अपने से जुदी चीजों में लुभा जावे। जैसे शराब पीने वाला शराब पीकर अपने आपको भूल जाता है उसे भले बुरे का ज्ञान नहीं रहता और न वह भाई, बहन, स्त्री, पुत्रादि को पहचान सकता

है, इसी प्रकार मोहनीय कर्म इस जीव को भुला देता है।

जैसे कोई शीतला, पीपल आदि को देव मानता है तथा क्रोध में आकर किसी दूसरे के प्राणों का हरण करता है या लोभ के वश होकर दूसरे को लुटाता है तो समझना चाहिए कि उसके मोहनीय कर्म का उदय हुआ है।

मोहनीय कर्म सब कर्मों का राजा कहलाता है। इसलिए इसी पर विजय प्राप्त करने का उद्यम करना चाहिए।

५. **आयु कर्म**—उसे कहते हैं जो आत्मा को नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव शरीरों में से किसी एक में रोके रक्खे, जैसे एक मनुष्य का पैर काठ में (शिकंजे में) फंसा हुआ है, अब वह काठ उस मनुष्य को उस स्थान पर रोके हुए है। जब तक उसका पैर उस काठ में जकड़ा रहेगा तब तक वह मनुष्य दूसरी जगह नहीं जा सकता। इसी प्रकार आयु कर्म इस जीव को मनुष्य तिर्यंच आदि के शरीर में रोके हुए है। जब तक आयु कर्म रहेगा तब तक वह जीव उसी शरीर में रहेगा। हमारा जीव मनुष्य शरीर में रुका हुआ है। इससे समझना चाहिए कि हमारे मनुष्य आयु कर्म का उदय है।

बहुत आरम्भ करने से, बहुत परिग्रह रखने से

तथा घोर हिंसा करने से नरक आयु का बन्ध होता है अर्थात् ऐसा करने से जीव नरक में जाता है।

छल (कपट), दगा, फरेब करने से जीव के तिर्यंच आयु का बन्ध होता है, अर्थात् ऐसा करने से यह जीव तिर्यंच होता है।

थोड़ा आरम्भ करने से, थोड़ा परिग्रह रखने से, कोमल परिणाम रखने से, परोपकार करने से, दया पालने से मनुष्य आयु का बन्ध होता है। अर्थात् ऐसा करने से यह जीव मनुष्य पैदा होता है।

व्रत उपवास आदि करने से, शान्तिपूर्वक भूख प्यास, गर्मी-सर्दी आदि के दुःख सहने से, सत्य धर्म का प्रचार करने से, सत्य धर्म की प्रभावना करने इत्यादिक और शुभ कारणों से यह जीव देव होता है।

६ नाम कर्म—उसे कहते हैं जिसके उदय से इस जीव के अच्छे या बुरे शरीर और उसके अंगोपांग की रचना हो। जैसे कोई चित्रकार (तस्वीर बनाने वाला) अनेक प्रकार के चित्र बनाता है, कोई मनुष्य का, कोई स्त्री का, कोई घोड़े का, कोई हाथी का।

किसी का हाथ लम्बा, किसी का छोटा, कोई कुबड़ा कोई बौना, कोई रूपवान, कोई भद्दा। इस प्रकार नाम कर्म भी इसी जीव को कभी सुन्दर, कभी चपटी नाक

वाला, कभी लम्बे दांत वाला, कभी कुबड़ा, कभी काला, कभी सुरीली आवाज वाला, कभी मीठी आवाज वाला, अनेक रूप परिणमाता है। हमारा शरीर, नाक, कान, आँख, हाथ, पाँव आदि सब अंगोपांग नाम कर्म के उदय से ही बने हुए हैं।

इस कर्म के दो भेद हैं अशुभनाम कर्म और शुभ नाम कर्म। कुटिलता से, घमंड करने से, आपस में लड़ाई-झगड़ा कलह करने से, झूठे देवों को पूजने से, किसी की चुगली करने से, दूसरों का बुरा सोचने से तथा दूसरों की नकल करने से, अनेक अशुभ कार्यों से अशुभ नाम कर्म का बन्ध होता है।

सरलता से, आपस में प्रेम रखने से, धर्मात्मा गुणीजनों को देखकर खुश होने से, दूसरों का भला चाहने इत्यादि और शुभ कारणों से शुभ नाम कर्म का बन्ध होता है।

७ गोत्र कर्म—उसे कहते हैं जो इस जीव को ऊँच कुल या नीच कुल में पैदा करे—जैसे कुम्हार छोटे बड़े सब प्रकार के बर्तन बनाता है, उसी प्रकार गोत्र कर्म इस जीव को उच्च या नीच बना देता है। उच्च गोत्र कर्म के उदय से यह जीव अच्छे चारित्र वाले लोकमान्य कुल में जन्म लेता है और नीच गोत्र कर्म के उदय से यह जीव

खोटे-खोटे आचरण वाले लोकनिंद्य कुल में पैदा होता है। जहाँ हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप कर्म करता है।

दूसरों की निंदा करने से, अपनी प्रशंसा करने से, दूसरों के होते हुए भी गुणों को छिपाने से और अपने न होते हुए भी गुणों के प्रकट करने से तथा देव, शास्त्र गुरु का अविनय करने से, अपने जाति, कुल, विद्या, बल, रूप आदि का मान करने से, नीच गोत्र कर्म का बन्ध होता है।

अपनी निंदा, दूसरों की प्रशंसा करने से, अभिमान न करने से, विनयवान् होने से, उच्च गोत्र का बन्ध होता है।

८ **अन्तराय कर्म**—उसे कहते हैं जिसके उदय से किसी जीव के कार्य में विघ्न पड़ जावे। जैसे किसी राजा साहिब ने किसी याचक को कुछ रुपया देने का हुक्म दिया, परन्तु खजांची ने कुछ बीच में गड़बड़ अथवा कोई बहाना करके वह रुपया नहीं दिया, अर्थात् उस याचक को रुपया मिलने में खजांची साहब विघ्न-रूप हो गए। ठीक इसी प्रकार अन्तराय कर्म इस जीव के दान, लाभ, भोग, (जो वस्तु एक बार काम में आवे जैसे आहार, पानी), उपभोग (जो वस्तु एक बार काम में आकर फिर भी काम में आवे जैसे वस्त्र, मकान,

सवारी आदि) और बल इन पाँचों के होने में विघ्न डालता है।

जैसे किसी ने दान देने के लिये १०००) रु० का नोट उठा कर रखा, कोई उसे चुरा कर ले गया या जैसे कोई रोटी खाने लगा तो अकस्मात् बन्दर आकर हाथ से रोटी छीन ले गया, तो ऐसी हालत में अन्तराय कर्म का उदय समझना चाहिए।

किसी को लाभ होता हो न होने देना, बालकों को विद्या न पढ़ाना, अपने आधीन नौकरों को धर्म सेवन न करने देना, दान देते हुए को रोकना, दूसरों की भोग उपभोग की सामग्री बिगाड़ देना, ऐसे कार्यों के करने से जीव के अन्तराय कर्म का बन्ध होता है।

प्रश्नावली

१—दुनिया में ऐसी कौन सी शक्ति है जिसके सामने किया हुआ परिश्रम भी व्यर्थ हो जाता है ?

२—'परिश्रम' व 'कर्म' इन दोनों से तुम क्या समझते हो ? क्या भाग्य (कर्म) के भरोसे बैठे रहने से हमारे इच्छित काय पूर्ण हो सकते हैं ? यदि नहीं तो क्यों ?

३—कर्म किसे कहते है ? और ये कितने होते हैं ? नाम बताओ।

४—असाता वेदनीय, चरित्र मोहनीय, शुभ नाम कर्म और ऊँच गोत्र किन-किन कारणों से बँधते है ?

५—सब से बड़ा कर्म कौन सा है ? ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी कर्म का क्या कार्य है ?

६—बताओ तुम्हें मनुष्य शरीर मे रोकने वाला कौनसा कर्म है ? और कौन से कार्य करने से तुम्हें मनुष्यगति मिलती है ?

७—अन्तराय कर्म किसे कहते है ? एक लड़की के माता पिता ने जबरदस्ती अपनी लड़की को पाठशाला से उठा लिया तो बताओ उनके माता पिता को कौन सा कर्मबन्ध हुआ ?

८—बताओ नीचे लिखो को किन-किन कर्मों का उदय है ।

(क) श्याम ने वर्ष भर तक खूब कठिन परिश्रम किया परन्तु परीक्षा मे उत्तीर्ण नहीं हुआ ।

(ख) मोहन नित्य प्रति दिन दुखी जीवों को करुणा बुद्धि से रोटी, वस्त्र आदि का दान देता है, परन्तु लोग फिर भी उसकी निन्दा करते हैं-?

(ग) यद्यपि राम के यहाँ नित्य प्रति अच्छे अच्छे स्वादिष्ट फल खाने को आते है पर डाक्टर ने उसे खाने से मना किया हुआ है ।

(घ) सोहन बड़ा आलसी है, तमाम दिन सोता ही रहता है ।

(ङ) गोविन्द बड़ा मालदार है, हम कई बार उससे औषधालय तथा कन्या पाठशाला के लिये चन्दा मांगने गये, परन्तु वह इतना कंजूस है कि उसके हाथ से एक पैसा भी नहीं छूटा ।

(च) मोहन की आँखों में ऐसा दर्द हुआ कि अन्त में विचारा अन्धा ही हो गया।

९—समझाकर बताओ कि नीचे लिखों को किन-किन कर्म का बन्ध हुआ:—

(क) लड़के के फेल हो जाने पर श्याम ने अध्यापकों को बड़ी गालियाँ दीं और पाठशाला को ताला लगवा कर छोड़ा।

(ख) पाठशाला से आते हुए कुछ छात्रों को एक शराबी ने बड़ी गालियाँ दीं। उनकी पुस्तकें फाड़ीं, किसी की आँख फोड़ दी, किसी की टांग तोड़ दी।

(ग) राम कैसे धर्मात्मा आदमी हैं, नित्य प्रति मन्दिर में शास्त्र पढ़ते हैं, कुछ वेतन नहीं लेते, पर फिर भी लोग मन्दिर से बाहर निकलते ही उनकी निन्दा किया करते हैं और बुरे से बुरा लांछन लगाने को तत्पर रहते हैं।

(घ) सोहन बड़ा मानी है। आज त्यागीजी महाराज और हम एक छात्र की सहायता के लिये गये, बात तक न सुनी, तेवड़ी में बल डाल लिया और झट से हमें बाहर खड़ा कर घर में घुस गया।

(ङ) सुभद्रा सवेरे सात बजे से आठ बजे तक मन्दिर में बैठी रहती है, जो कोई भी लड़की या स्त्री आती है, किसी को आलोचना पाठ व भक्तामर सुनाती है, किसी को किसी व्रत की कथा सुनाती है और किसी से भी पैसा तक नहीं लेती।

(च) क्या कहने हैं राम के! बड़ा उद्दण्ड है। मन्दिर में आता है वहाँ भी चपके नहीं रहता। किसी की निन्दा तो किसी को गाली। महा मानी। जो मिल जाय उसी को धमकाना। किसी की पूजा में विघ्न डालना, तो किसी को स्वाध्याय न करने देना। निराले ही ढंग का आदमी है।

—※—

पाठ ७

भजन (रे मन !)

(१)

रे मन ! भज-भज दीनदयाल,
जाको नाम लेत इक छिन में।
कटे कोटि अघ जाल,
रे मन ! भज भज दीनदयाल॥

(२)

परम ब्रह्म परमेश्वर स्वामी,
देखे होत निहाल।
सुमरन करत परम सुख पावत,
सेवत भाजे काल।
रे मन ! भज-भज दीनदयाल॥

(३)

इन्द्र फनीन्द्र चक्रधर गावें,
जाको नाम रसाल।
जाको नाम ज्ञान प्रकाशै,
नाशै मिथ्या जाल।
रे मन! भज-भज दीनदयाल॥

(४)

जाके नाम समान नहीं कुछ,
ऊरध मध्य पताल।
सोई नाम जपो नित 'द्यानत'
छांड़ि विषय विकराल।
रे मन! भज-भज दीनदयाल॥

प्रश्नावली

१—दीनदयाल से तुम क्या समझते हो? और बताओ दीनदयाल कौन हैं?

२—परमात्मा का नाम जपने से क्या लाभ है?

३—बताओ इस भजन के बनाने वाले कौन हैं?

४—इस भजन का तीसरा छन्द कण्ठस्थ सुनाओ?

५—इस पद को पढ़कर सुनाओ और इसका अर्थ भी समझाओ?

—❀—

पाठ ८

जम्बूकुमार

तीर्थंकर महावीर स्वामी के समय की बात है। मगध देश में राजा श्रेणिक राज्य करता था। उस समय के राजाओं मे श्रेणिक बहुत प्रसिद्ध और पराक्रमी राजा था। राजगृही उसकी राजधानी थी। वहीं पर उसका राज्य सेठ रहता था। उसका नाम जिनदत्त था। जम्बूकुमार इसी राज्य सेठ का पुत्र था।

जम्बूकुमार ने जब होश सम्भाला तो उसे ऋषिगिरि जैन आश्रम में पढ़ने के लिए भेज दिया गया। जहाँ जम्बूकुमार ने एक ब्रह्मचारी का जीवन बिताया था और अपने गुरुओं को आज्ञानुसार शास्त्र, विज्ञान, कला-कौशल और अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा पाई थी। इसी प्रकार तपोधन गुरुओं की सङ्गति में रहते हुए युवावस्था तक पहुँचते २ जम्बुकुमार शस्त्र-शास्त्र में निपुण होगया। गुरुजन ने उसको अपने आश्रम से विदा किया। वह विनय-पूर्वक गुरुजन का आशीर्वाद लेकर घर आया। माता-पिता अपने पुत्र को सब विद्याओं में निपुण देखकर फूले न समाये।

तपोवन में रहने से जम्बूकुमार का स्वभाव बड़ा दयालु और सत्यनिष्ठ हो गया था, उसके मन को दुनियाँ-दारी की थोथी बातें नहीं रिझा पाती थीं। सत्य और न्याय के लिए वह अपना सब कुछ देने के लिए तैयार रहता था। इन गुणों के साथ-साथ जम्बुकुमार देखने में बड़ा सुन्दर और रूपवान था। उसके रूप और गुणों की चर्चा सारी राजगृही में होती थी।

राज्य सेठ ने देखा कि उसका पुत्र विवाह के योग्य हो गया है, उसको उसका विवाह करने की चिन्ता हुई। चार सेठों की पुत्रियों के साथ जम्बुकुमार का सम्बन्ध निश्चित किया गया।

राजा श्रेणिक को खबर मिली कि रत्नचूल नामक विद्याधर राजा के विरुद्ध हो गया है उस शत्रु को वश में करने की चिन्ता हुई। एक दिन सभा में राजा श्रेणिक ने कहा कि 'कौन योद्धा ऐसा है जो शत्रु को वश में कर सके।' सभा में सेठ कुमार जम्बुकुमार भी बैठा था। वह झट से उठकर खड़ा हो गया और कहा—'मैं वश में कर ले आऊँगा।' राजा ने आज्ञा दे दी। मंत्रियों की राय से राजा श्रेणिक ने जम्बुकुमार को सेना लेकर रत्नचूल को वश में करने के लिए भेजा।

जम्बुकुमार ने अपने रणकौशल से उस राजा को जीत लिया। वैश्यपुत्र होते हुए भी उस वीर ने उस क्षत्रिय की वीरता को परास्त कर दिया। राजा श्रेणिक जम्बुकुमार की इस विजय पर बड़े प्रसन्न हुए और कुमार का बड़ा सम्मान किया।

जब जम्बुकुमार विजय का डंका बजाते हुए राजगृही में प्रवेश कर रहे थे, तब नगर के बाहर वन में श्री सुधर्माचार्य का उपदेश हो रहा था। जम्बुकुमार भी सुनने बैठ गए। उपदेश सुन कर कुमार को संसार से वैराग्य हो गया। कुमार ने यह ठान ली कि घर जाकर हम अब विवाह नहीं करेंगे और कल ही आकर साधु हो जायेंगे, आत्म कल्याण करेंगे।

इधर माता-पिता जम्बुकुमार की वीरता के समाचार सुन कर बहुत प्रसन्न हुए। पुत्र ने अवसर पाकर पिता को अपने दीक्षा लेने का विचार कह दिया और विवाह करने से इन्कार कर दिया। यह खबर जब उन लड़कियों को पहुँची, जिनके साथ जम्बुकुमार का सम्बन्ध हुआ था, तो उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि 'हम तो जम्बुकुमार को छोड़कर और किसी के साथ विवाह नहीं करेंगी।' लड़कियों की ऐसी हठ होने पर माता-पिता के अति आग्रह वश वे चारों बहुएं रात्रि को

जम्बुकुमार को अपनी रसीली-रसीली बातों से मोहित करने लगीं। कुमार वैराग्य भरी बातों से ऐसा उत्तर देते थे कि वे मन में अपनी हार मान जाती थीं।

सवेरा होते ही जम्बुकुमार अपने दृढ़-संकल्प वश घर से चल पड़े। पीछे-पीछे माता-पिता, चारों स्त्रियाँ व एक विद्युत्चर चोर जो चोरी करने आया था और कुमार और उनकी स्त्रियों की सब वार्तालाप सुन रहा था, चल पड़े। कुमार ने सुधर्माचार्य के पास केशलोंच कर साधुव्रत ग्रहण किया। माता-पिता, चारों स्त्रियों ने व विद्युत्चर चोर ने भी दीक्षा धारण की। अब जम्बुकुमार दिल लगा कर आत्म ध्यान करने लगे और शीघ्र ही केवल ज्ञान को प्राप्त किया। ६२ वर्ष के पीछे श्री जम्बुकुमार ने मुक्ति प्राप्त की। केवलज्ञान के पीछे जम्बुकुमार ने बहुत वर्षो तक संसार का बड़ा उपकार किया। मथुरा चौरासी का स्थान श्री जम्बुकुमार का निर्वाणक्षेत्र प्रसिद्ध है।

बालको ! तुम भी जम्बुकुमार के जीवन से शिक्षा ग्रहण करो। प्रतिज्ञा कर लो कि जब तक तुम खूब लिख-पढ़कर होशियार न हो जाओ विवाह नहीं करोगे। पढ़ते हुए तुम पूरे ब्रह्मचर्य से रहोगे और व्यायाम

करके शरीर को पुष्ट रक्खोगे। यदि तुम जम्बुकुमार के समान वीर सैनिक बनोगे तो अपने देश की सच्ची सेवा कर सकोगे तथा अपना आत्म-कल्याण कर सकोगे। भावना करो तुम भी प्रत्येक जम्बुकुमार हो और माता-पिता का मुख उज्ज्वल करो।

प्रश्नावली

१—जम्बुकुमार किन के पुत्र थे? इन्होंने कहाँ तक अध्ययन किया था और इन का स्वभाव कैसा था?

२—जम्बुकुमार की वीरता के कार्य वर्णन करो।

३—जम्बुकुमार को कहाँ और क्यों वैराग्य हो गया था।

४—चारो स्त्रियाँ कौन थीं, जो जम्बुकुमार के गृह त्याग के समय पीछे पीछे गई थीं, जम्बुकुमार के वैराग्य होने के पश्चात् उन स्त्रियों ने क्या किया?

५—जम्बुकुमार को कहाँ पर निर्वाण हुआ था?

६—जम्बुकुमार की जीवनी से तुम्हें क्या शिक्षा मिलती है।

पाठ ६

पञ्च परमेष्ठी

जो महान् आत्मायें 'परमे' अर्थात् उच्च स्वरूप में परम समता भाव में तिष्ठती हैं, वे परमेष्ठी कहलाती हैं। अध्यात्म विकास में सर्वोत्कृष्ट, मोक्ष पद पर पहुँची हुई आत्मायें ही परमेष्ठी मानी गई हैं।

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये पंच परमेष्ठी हैं अर्थात् परम इष्ट हैं इनका ध्यान करने से तथा इनका स्मरण करने से भावों की शुद्धि और वैराग्य-उत्पत्ति होती है। पापों का नाश होता है।

अरहंत परमेष्ठी

जिन महान् आत्माओं ने अष्ट कर्मों में से आत्मा के शुद्ध स्वभाव को भ्रष्ट करने वाले ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अंतराय इन चारों घातिया कर्मों को नष्ट कर दिया है और इनके नष्ट होने पर जिनकी आत्मा में अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य यह चार गुण प्रकट हो गये हैं वे 'अरहन्त परमेष्ठी' कहलाते हैं। अरहन्त परमेष्ठी परमौदारिक शरीर के धारी जीवन मुक्त परमात्मा होते हैं। जन्म से ही उनका शरीर अत्यन्त सुन्दर, सुडौल, परम सुगन्धिमय,

वज्रमयी, प्रसव रहित, अतुल बलशाली, मल-मूत्र रहित होता है, इनका रुधिर सफेद दूध सरीखा होता है, इनके शरीर में १००८ शुभ लक्षण होते हैं। जन्म से ही ये तीन ज्ञान के धारी होते हैं, और प्यारे हित के वचन बोलते हैं।

अरहन्त परमेष्ठी के जन्म, मरण, जरा, भूख, प्यास, आश्चर्य, पीड़ा, खेद, रोग, शोक, भय, मद, मोह, निद्रा, चिन्ता, स्वेद (पसीना) राग, द्वेष ये १८ दोष नहीं होते। उन में चौंतीस अतिशय, अष्ट प्रातिहार्य तथा अनंत चतुष्टय रूप छियालीस गुण पाये जाते हैं। भगवान् को जब केवलज्ञान हो जाता है तो तीन लोक के चराचर सब ही पदार्थ भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल सम्बन्धी सब ही पर्यायों समेत उनके ज्ञान में झलकते हैं। उन पर कोई उपसर्ग नहीं आता, जहाँ जहाँ उनका बिहार होता है दूर-दूर में से रोग, मरी, दुर्भिक्ष आदि का अभाव हो जाता है, इत्यादिक और भी विचित्र और परम आश्चर्यकारी घटनायें होती हैं। इन्द्रदेव आदि आकर उनके चरणों में नत मस्तक होते हैं। अरहन्त परमेष्ठी ही वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी सच्चे देव होते हैं। अन्तरंग के शत्रु काम, क्रोध, मद, लोभ, राग, द्वेष आदि पर पूर्व विजय प्राप्त करने वाले और अहिंसा

एवं शान्ति के अक्षय, असीम सागर हो श्री अरहन्त भगवान् कहलाते हैं।

इन्हीं अरहन्त भगवान् से भव्य जीवों को धर्मोपदेश मिलता है। जिस सभा मंडप में भगवान् का उपदेश होता है उसे समवसरण कहते हैं। वहाँ केवल मनुष्य ही नहीं पशु पक्षी तक भी पहुँच कर अपना कल्याण कर लेते हैं। भगवान् का उपदेश इस प्रकार ध्वनित होता है कि सब प्राणी अपनी २ भाषा में उसे समझ लेते हैं। यह प्रभु के उपदेश की एक विशेषता है।

जैन मन्दिर में इन्हीं अरहन्त भगवान् की परमशांत मुद्रा तथा परम राज्य भाव की उद्योतक प्रतिमायें विराजमान होती हैं जिनका दर्शन पूजन जैन लोग किया करते हैं इनका पूजन केवल अपने परिणामों की शुद्धि के निमित्त ही किया जाता है किसी भय से या किसी आशा से मान बड़ाई के लिये या किसी फल-प्राप्ति की इच्छा से नहीं किया जाता। भगवान् के गुण का स्मरण हमारे मन को पापरूपी कीच से साफ कर देता है। अरहन्त की पूजा गुण पूजा है। अहिंसा, सत्य, क्षमा आदि आध्यात्मिक गुणों का विकास ही गुणपूजा का का कारण है। सूर्य कमल को खिलाने के लिये कमल के पास नहीं आता, सूर्य उदय होते ही कमल स्वयं खिल

उठते हैं। कमलों के विकास में सूर्य प्रबल निमित्त कारण है, साक्षात् कर्त्ता नहीं है। इसी प्रकार अरहन्त आदि महान् आत्माओं का स्मरण, गुण गान संसारी आत्माओं के उत्थान में निमित्त कारण बनता है, सत्पुरुषों के नाम लेने से विचार पवित्र होते हैं। विचार पवित्र होने से अन्य संकल्प नहीं होते। आत्मा में बल, साहस, शक्ति का संचार होता है निज स्वरूप का भान होता है और तब कर्म बन्धन उसी तरह नष्ट हो जाता है जिस तरह लंका में ब्रह्म पाश में बँधे हुए हनुमान के दृढ़ बंधन छिन्न-भिन्न हो गये थे, कब ? जबकि उसे यह भान हुआ कि मैं हनुमान हूँ, मैं इन्हें तोड़ सकता हूँ।

अरहन्त का उपासक सतत् प्रयत्न द्वारा परम्परा से स्वयं अरहन्त पद को प्राप्त कर लेता है, जैन धर्म की यह एक विशेषता है।

सिद्ध परमेष्ठी

ऊपर पढ़ चुके हो कि एक संसारी जीव जब अष्ट कर्मों में से ज्ञानावर्ण, दर्शनावर्ण, मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मों का तपश्चरण द्वारा नाश कर देता है तो जीवन मुक्त अरहन्त परमात्मा हो जाता है। अरहन्त ही सकल परमात्मा तथा साकार परमात्मा हैं। ये ही अरहन्त जब शेष आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय

चार अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर देते हैं तो वे शरीर और संसार के बन्धनों से सदैव के लिये छूट जाते हैं और जिस देह से मुक्ति पाई है उसी देह के आकार ऊर्द्ध गमन स्वभाव से लोक के अन्त तक ऊपर जाते हैं। आगे धर्म द्रव्य का अभाव होने के कारण लोक के शिखर पर ही विराजमान रहते हैं और मोक्ष के शास्वत सुख को भोगते हैं। जन्ममरण के चक्र से सदैव के लिये छुटकारा पाकर अजर-अमर सिद्ध बुद्ध मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त हो 'सिद्धपद' से सम्बोधित होते हैं, फिर कभी लौटकर संसार में आते नहीं। वैसे तो सिद्ध परमेष्ठी अनन्त गुणों के स्वामी होते हैं पर उनमें नीचे लिखे आठ मुख्य गुण होते हैं—क्षायिक-सम्यक्, अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अनन्त-वीर्य और अव्यावाधत्व।

प्रत्येक मुमुक्षु भव्यात्मा भेद विज्ञान के द्वारा अपने शुद्ध चिदानन्दरूप निज स्वभाव को पहचान कर उसमें ही रमण करता है तो वह वीतराग भाव को बढ़ाता हुआ कर्म बन्धनों को काटता हुआ आगे बढ़ता हुआ चला जाता है, ध्यानाग्नि द्वारा कर्ममल को दग्ध कर परमपद मोक्षपद को प्राप्त कर सकता है। सर्व विकारों से तथा शरीरादिक से रहित अमूर्तिक हो, शुद्ध चैतन्य-

मय अविनाशी सिद्ध परमात्मा हो जाता है और अपने निरावरण अनंतदर्शन तथा अनन्तज्ञान स्वरूप को लिये परम ज्ञानानंद में अतिशयमग्न निरतर ही लोक के शिखर स्थित मोक्ष स्थान में प्रकाशमान रहता है।

आचार्य परमेष्ठी

जैनधर्म में आचरण का बड़ा महत्व है, पद-पद पर सदाचार के मार्ग पर ध्यान रखना ही जैन साधु की श्रेष्ठता का प्रमाण है। अस्तु जो पंच आचार का स्वयम् पालन करते हैं, और संघ का नेतृत्व करते हुए दूसरों से पालन कराते हैं वे "आचार्य" कहलाते हैं। आचार्य दीक्षा और शिक्षा का कार्य करते हैं। जैन आचार के अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच मुख्य अंग हैं, आचार्य को इन पाँचों महाव्रतों का प्राण-पण से स्वयम् पालन करना होता है, अन्य भव्य आत्माओं को भी भूल होने पर, उचित प्रायश्चित आदि देकर, सत्पथ पर अग्रसर करना होता है। साधु साध्वी, श्रावक और श्राविका ये चार प्रकार का संघ होता है, इनकी आध्यात्मिक साधना के नेतृत्व का भार आचार्य पर होता है।

आचार्य बड़े तपस्वी होते हैं, वे सर्व प्रकार के भोजन का त्याग करके उपवास करते हैं, भूख से कम भोजन लेते

हैं। भोजन के लिये जाते हुए कड़ी आखड़ी लेकर जाते हैं। किसी को अपनी आखड़ी बताते नहीं, यदि आखड़ी पूरी न हो तो समता भाव के साथ उपवास करते हैं। दूध, दही, घी, मीठा, नमक और तेल इन छहों रसों में से यथाशक्ति एक का या अधिक का त्याग करते हैं, नीरस भोजन करते हैं, एकान्त स्थान में शयनासन करते हैं, शरीर का सुखियापन मिटाने के लिये घोर तपस्या करते हैं। इनके अतिरिक्त लगे हुए दोषों का दंड लेते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय की तथा रत्नत्रय धारकों की विनय करते हैं। संघमें रोगी तथा वृद्ध अशक्त मुनियों की सेवा करते हैं। शास्त्र स्वाध्याय तथा आत्मध्यान में रत रहते हैं। शरीर से ममत्व भाव को हटाते हैं। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दश लक्षण का निर्दोष पालन करते हैं। प्राणी मात्र से समता भाव रखते हैं, जिनेंद्र प्रभु को नमस्कार करते हैं। पंच परमेष्ठी की स्तुति करते हैं, लगे हुवे दोषों का पश्चाताप करते हैं। शास्त्रों का स्वाध्याय करते हैं। और शरीर से ममत्व भाव को त्याग आत्मध्यान आदि कर्मों की निर्जरा हेतु करते हैं। आचार्य सदा काल सम्यग्दर्शन की निर्मलता सम्यग्ज्ञान की वृद्धि तथा सम्यक् चारित्र की विशुद्धता के

लिये प्रयत्नशील रहते हैं। तप की वृद्धि करते हुए अपने आत्मबल को अधिकाधिक विकास में लाते हैं, सदैव ही अपने मन, वचन, काय पर पूरा काबू रखते हैं।

जैनाचार्य बड़े सदाचारी, दृढ़ प्रतिज्ञ, दयालु, निस्पृही, तपस्वी तथा ज्ञानी ध्यानी और पराक्रमी तथा साहसी हुवा करते हैं, परोपकार बुद्धि तथा धर्म भावना को लेकर ही प्राचीन आचार्यों ने कितने जैन-सिद्धांत ग्रन्थों तथा साहित्य का प्राकृत, संस्कृत तथा तामिल आदि भाषाओं में निर्माण किया है जो आज भी जैन शास्त्र भंडारों की शोभा को बढ़ा रहे हैं और कितने ही अन्य जीवों को उन के कल्याण के मार्ग का दिग्दर्शन करा रहे हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी

जो विशेष ज्ञानी मुनिराज स्वयं पढ़ते हैं तथा अन्य शिष्यों को पढ़ाते हैं "उपाध्याय" कहलाते हैं ये ११ अंग तथा १४ पूर्वों के पाठी होते हैं। जिनवाणी का पठन पाठन करते हैं। अनेक शास्त्रों की रचना करते हैं। वास्तव में विद्या वही है जो हमें विषय वासनाओं से मुक्त कर सके, अस्तु विवेकज्ञान की बड़ी आवश्यकता है। भेद विज्ञान के द्वारा जड़ और आत्मा के जुदा २ होने का भान होने पर ही साधक अपना ऊँचा एवं आदर्श जीवन बना सकता है ऐसी आध्यात्मिक विद्या के शिक्षण का भार

उपाध्याय पर है। उपाध्याय महाराज मनुष्य जीवन की अन्तःग्रंथियों को बड़ी सूक्ष्म पद्धति से सुलझाते हैं और अनादिकाल से अज्ञान अंधकार में भटकते हुए भव्य प्राणियों को विवेक का प्रकाश प्रदान करते हैं।

साधु परमेष्ठी

जो मोक्ष पुरुषार्थ का साधन करते हैं उन्हें साधु कहते हैं। उनके पास कुछ भी परिग्रह नहीं होता और न वह कोई आरम्भ करते हैं। वे सदा ज्ञान ध्यान में लीन रहते हैं जो संसार वासनाओं को त्याग कर पाँचों इन्द्रियों को अपने वश मे रखते हैं, ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ों की रक्षा करते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ पर यथाशक्य विजय प्राप्त करते हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप पाँच महाव्रत पालते हैं। पाँच समिति और तीन गुप्तियों की सम्यक्तया आराधना करते हैं। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार इन पंचाचारों के पालन में दिन रात सलग्न रहते हैं वे साधु कहलाते हैं।

जैन साधु मन, वचन, काय से सर्वथा हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पंच पापों के त्यागी होते हैं, उनके पास तिल-तुषमात्र भी परिग्रह नहीं होता है।

जब वह चलते हैं तो प्रमाद रहित चार हाथ प्रमाण आगे प्राशुक भूमि को शोध कर दिन में भूमि पर चलते हैं। सदा हित मित वचन बोलते हैं। दिन में एक बार निर्दोष शुद्ध आहार लेते हैं। अपने पास के ज्ञानोपकरण शास्त्र तथा शुद्धि के उपकरण कमंडलु और पीछी को, भूमि को खूब अच्छी तरह देख भाल कर सावधानी से धरते और उठाते हैं। जीव जन्तु रहित प्राशुक भूमि देख कर अपने मल मूत्रादि को डालते हैं।

पाँचों इन्द्रियों को वश में रखते हैं, उनके इष्ट-अनिष्ट विषयों के प्रति राग-द्वेष नहीं करते, इन्द्रिय विजयी होते हैं। प्राणी मात्र पर समता भाव रखते हैं, जिनेन्द्र प्रभु को वन्दना नमस्कार करते हैं। पंच परमेष्ठी की स्तुति करते हैं। लगे हुए दोषों का पश्चाताप करते हैं, शास्त्रों का पठन पाठन तथा मनन करते हैं। शरीर से ममत्व छोड़ खड़े होकर ध्यान करते है। दिगम्बर जैन साधु स्नान नहीं करते, स्वच्छ भूमि पर, पत्थर की शिला पर या काठ के पाटे आदि पर सोते हैं, नग्न रहते हैं, बालों का अपने हाथ से लोंच करते हैं, दिन में एक बार खड़े होकर पाणिपात्र में ही आहार लेते हैं, दन्त धोवन नहीं करते। इस प्रकार साधु २८ मूल गुणों के धारक होते हैं।

वास्तव में सच्चे गुरु अर्थात् साधु क्षमा गुण से भूषित, दिगम्बर, पृथ्वी के समान अचल, समुद्र के समान गम्भीर, वायु के समान निःपरिग्रही, अग्नि के समान कर्म भस्म करने वाले, आकाश के समान निर्लेप जल के समान स्वच्छ चित्त के धारक एवं मेघ के समान परोपकारी होते हैं। जो साधु परमज्ञानी, परम-ध्यानी तथा दृढ़ वैरागी होते हैं, वे ही सच्चे साधु हैं, वे ही परमपूज्य तथा जगतवन्द्य हैं।

इन पंच परमेष्ठी में से अरहन्त सिद्ध दो परमेष्ठी देवकोटि में आते हैं और अन्तिम तीन आचार्य, उपा-ध्याय, साधु गुरु कोटि में। आचार्य, उपाध्याय, साधु गुरु कोटि में। आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनों अभी साधक ही हैं अतः अपने से नीचे श्रेणी वाले श्रावक आदि साधकों के पूज्य और उच्च श्रेणी के अरहंत आदि देवत्व के पूजक होने से गुरुत्व की कोटि में हैं। इन पंच परमेष्ठी का स्मरण करने से, आराधन करने से पापों का नाश हो जाता है और आत्मिक गुणों का विकास होता है।

छप्पय

प्रथम नमूं अरहन्त, जाहि इन्द्रादिक ध्यावत।
वंदूं सिद्ध महंत, जासु सुमरत सुख पावत॥

आचारज वंदामि, सकल श्रुत ज्ञान प्रकाशत।
वंदत हूँ उवझाय, जास वंदत अघ नाशत॥
जे साधु सकल नर लोक में, नमत तास संकट हरन।
यह परम मंत्र नितप्रति जपो, विघन उलट-मंगल करन

प्रश्नावली

१—परमेष्ठी से आप क्या समझते हैं? परमेष्ठी कितने होते हैं? उनके नाम बताओ।
२—अरहंत परमेष्ठी किन्हें कहते हैं? उन के जो गुण आपको मालूम है अपने सरल शब्दों में बताईये।
३—अरहंत परमेष्ठी मे कौन कौन से १८ दोष नहीं पाये जाते?
४—अरहंत परमेष्ठी की पूजा, वंदना से हमें क्या लाभ होता है?
५—सिद्ध परमेष्ठी किन्हें कहते हैं? उन के मुख्य गुण बताइये।
६—सिद्ध परमेष्ठी और अरहंत परमेष्ठी मे क्या अन्तर है?
७—आचार्य परमेष्ठी और उपाध्याय परमेष्ठी किन्हें कहते हैं? दोनों के गुण बताओ, दोनों मे क्या अन्तर है उनमें से पहले किसको नमस्कार किया जाता है और क्यों?
८—साधु परमेष्ठी किसे कहते है, उन के मुख्य गुण बताओ, आचार्य उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठी में आपस में क्या अन्तर है?
—पंच परमेष्ठी में कौन २ साध्य है और कौन साधक है?
१०—इन पंच परमेष्ठी के स्मरण तथा आराधना से संसारी प्राणियों को कोई लाभ होता है क्या?

पाठ १०

गुरु स्तवन

ते गुरु मेरे उर बसो, तारन तरन जहाज।
आप तिरें पर तार हीं, ऐसे श्री मुनिराज। ते गुरु०।टेक
मोह महारिपु जीत कें, छोड़ दियो घरबार।
होय दिगम्बर बन बसें, आतम शुद्ध विचार ॥१॥ ते०
रोग उरग वपुबिल गिन्यो, भोग भुजंग समान।
कदली तरु संसार है, छांड्यो यह सब जान ॥२॥ ते०
रत्नत्रय निधि उर धरें, अरु निर्ग्रन्थ त्रिकाल।
जीतें काम खबीस को, स्वामी परम दयाल ॥३॥ ते०
धर्म धरें दश लक्षणी, भावें भावना सार।
सहें परिषह बीस दो. चारित्र रत्न भण्डार ॥ ॥४॥ ते०
जेठ तपै रवि आकरो, सूखे सरवर नीर।
शैल शिखर मुनि तप तपें, दाहें नगन शरीर ॥५॥ ते०
पावस रयन डरावनी, बरसे जलधर धार।
तरु तल निवसें साहसी, चाले झंझा बयार ॥६॥ ते०
शीत पड़े कपि मद गले, दाहें सब बन राय।
ताल तरंगनि तट विषै, ठाड़े ध्यान लगाय ॥७॥ ते०
इस विधि दुद्धर तप तपें, तीनों काल मझार।
लागे सहज स्वरूप में, तन से ममता टार ॥८॥ ते०
रंग महल में सोवते, कोमल सेज बिछाय।

ते सोवें निशि भूमि में, पोढ़ें संवर काय ॥ ९ ॥ ते०
गज चढ़ चलते गर्व से, सेना सज चतुरंग ।
निरख-निरख पग वे धरे, पालें करुणा अंग ॥ १० ॥ ते०.
पूरब भोग न चितवै, आगम बांछा नाहि ।
चहुँ गति के दुख से डरें, सुरति लगी शिव माहि ॥ ११ ते०
ये गुरु चरण जहाँ धरे, जग मे तीरथ होय ।
सो रज मम मस्तक चढ़ो, 'भूधर' मांगे सोय ॥ १२ ॥ ते०

प्रश्नावली

१—गुरु स्तवन से तुम क्या समझते हो ? बताओ इसके बनाने वाले कौन है ?
२—वास्तविक गुरु कौन है ? और उनमे क्या-क्या विशेषतायें होनी परमावश्यक है ?
३—परिषह कितनी होती है और इनको कौन और किस लिये सहते हैं ?
४—संसार-सागर से तारने के लिये गुरु किसके समान होते हैं ?
५—दश लक्षण धर्म के नाम बताओ ?
६—बारह भावनाओं के नाम बताओ ?
७—रत्नत्रय किसे कहते हैं ?

—❀—

पाठ ११

गृहस्थों के दैनिक षट् कर्म

गृहस्थी लोग पाप क्रियाओं का सर्वथा त्याग नहीं

कर सकते । गृहस्थ में रहते हुए खाने पीने, धन कमाने, मकान बनाने, विवाह आदि करने के लिए अनेक प्रकार कार्यारम्भ करने पड़ते है, जिनको करते हुए भी हिंसादि के दोष लग ही जाते हैं । इन्हीं के साथ दोषों को दूर करने, पुण्यबन्ध करने तथा अपनी आत्मोन्नति करने के लिए शास्त्रों में गृहस्थ के छः दैनिक कर्त्तव्य बताए गये हैं ।

देवपूजा गुरुपास्ति, स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां, षट् कर्माणि दिने-दिने ॥

अर्थात्—नित्य प्रति जिनेन्द्र देव की पूजा करना, गुरु की भक्ति करना, स्वाध्याय करना, संयम का पालन करना, तप का अभ्यास करना और दान का देना, ये गृहस्थों के छह दैनिक कर्तव्य हैं ।

(१) देवपूजा—श्री अरहन्त तथा सिद्ध भगवान् का पूजन करना । यदि अरहन्त भगवान् साक्षात् मिलें तो उनकी सेवा में जाकर अष्ट द्रव्य से भक्ति सहित पूजन करना चाहिये, अन्यथा उनकी वैसी ही ध्यानाकार शान्तिमय वीतराग प्रतिमा को विराजमान करके उसके द्वारा अरहन्त भगवान् का पूजन करना चाहिये । हमारी आत्मा पर जैसा प्रभाव साक्षात् अरहन्त के दर्शन व पूजन से पड़ता है वैसा ही प्रभाव उनकी ध्यानमय वीतराग प्रतिष्ठित प्रतिमा के दर्शन व पूजन से पड़ता है । प्रत्यक्ष

देखा जाता है कि जैसे चित्र देखने में आते हैं वैसे ही भाव देखने वाले के चित्त में अवश्य पैदा होते हैं। मन्दिर में भगवान् की वीतराग शान्तिमय प्रतिमा के देखने से हृदय आप ही आप वैराग्य भाव से भर जाता है और उनके निर्मल गुण स्मरण हो जाते हैं। उसके भाव शुद्ध होते हैं इसलिए गृहस्थों को चाहिये कि वे नित्य प्रति अष्ट द्रव्य से या किसी एक द्रव्य से भगवान् का पूजन करे। प्रतिमा की स्थापना मात्र भावों को बदलने के लिए है। प्रतिमा से कुछ माँगने की न जरूरत है, न प्रतिमा इसलिए स्थापित ही की जाती है।

देव पूजा से पापों का क्षय और पुण्य का बन्ध होता है तथा मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। दर्शन प्रत्येक बालक-बालिका, स्त्री-पुरुष को नित्य करना चाहिये। पूजन यदि नित्य न हो सके तो कभी-कभी अवश्य करना चाहिये। जहाँ प्रतिमा या मन्दिर का समागम न हो वहाँ परोक्ष ध्यान करके स्तुति पढ़ लेनी चाहिये। तथा एक दो जाप और पाठ करके भोजन करना चाहिये।

(२) गुरुभक्ति—गुरु शब्द का अर्थ यहाँ सच्चे धर्म गुरु अर्थात् मुनि महाराज से समझना चाहिए निर्ग्रन्थ गुरु की सेवा पूजा तथा संगति करना "गुरुभक्ति" कहलाती है। गुरु साक्षात् उपकार करने वाले होते हैं,

वे अपने उपदेश द्वारा गृहस्थों को सदा धर्म कार्य की प्रेरणा दिया करते हैं। गुरु तारण तरण जहाज हैं। आप संसार रूपी समुद्र से पार होते हैं और दूसरे जीवों को भी पार उतारते हैं। इसलिए गृहस्थों को सदा भक्ति पूर्वक गुरु उपासना तथा सेवा करना चाहिये। यदि अपने स्थान में गुरु महाराज न हों तो उनका स्मरण करके मन पवित्र करना चाहिये तथा धर्म के प्रचारक ऐलक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी आदि हों तो उनकी सेवा संगति करके धर्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

३. स्वाध्याय—तत्व बोधक जैन शास्त्रों को विनय-पूर्वक भक्ति सहित समझ समझ कर पढ़ना और दूसरों को सुनाना चाहिए—यदि पढ़ना न आये तो सुनना व धर्मचर्चा करनी चाहिए। जिस-जिस तरह हो सके ज्ञान को बढ़ाना चाहिए। स्वाध्याय एक प्रकार का तप है। इससे बुद्धि का विकास होता है। परिणाम उज्ज्वल होते हैं, अनेक गुणों की प्राप्ति होती है।

४. संयम—पापों से बचने के लिये अपनी क्रियाओं का नियम बाँधना चाहिए। पाँचों इन्द्रियों और मन को वश में करने के लिये नित्य सवेरे ही २४ घन्टे के लिये भोग उपभोग के पदार्थों को अपने काम के योग्य रख के

शेष का त्याग करना चाहिए, जैसे आज हम मीठा भोजन नहीं खायेंगे। सांसारिक गीत नहीं सुनेंगे। वस्त्र इतने काम में लेंगे इत्यादि। तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस इन छः प्रकार के जीवों की रक्षा का भाव रखना और व्यर्थ उनको कष्ट न देना चाहिए। इसलिये गृहस्थों के लिये जरूरी है कि वह नित्य-प्रति संयम पालन का अभ्यास किया करें। संयम एक दुर्लभ वस्तु है। संयम का पालन केवल मनुष्य गति में ही हो सकता है। संयम के बिना मनुष्य जन्म निष्फल होता है। विद्यार्थियों को चाहिए कि वह भावना भावें कि उनके जीवन को एक घड़ी भी संयम के बिना न जावे। संयम पालने के लिये उचित है कि हम बुरी आदतों को छोड़ें। अपना खान पान पहनावा आदि सादा रक्खें। फैशन के दास न बनें। चाय, सोडा, तम्बाकू बीड़ी, चुरट, शराब आदि नशे की चीजें, मसालेदार चाट, खोमचे और बाजार की बनी हुई अशुद्ध मिठाई आदि का सेवन न करें। भावों को बिगाड़ने वाले नाटक, सिनेमा, नाच, स्वांग, तमाशे न देखें तथा विकार पैदा वाले उपन्यास तथा कहानियाँ न पढ़ें।

५. तप—से मतलब नित्य सवेरे व शाम एकान्त में बैठ कर सामायिक करने से है। आत्म-ध्यान की अग्नि

में आत्मा को तपाना तप है। इससे कर्मों का नाश होता है। बड़ी शान्ति मिलती है। आत्म-सुख का स्वाद आता है। आत्म-बल की वृद्धि होती है इसलिए सवेरे-शाम सामायिक अवश्य ही करना चाहिये।

६. दान—अपने और पर के उपकार के लिये फल की इच्छा के बिना प्रेमभाव से धनादि का तथा स्वार्थ का त्याग करना दान कहलाता है। जो दान मुनियों, व्रती, श्रावकों तथा अव्रती सम्यक्त्वी श्रेष्ठ पुरुषों को भक्ति सहित दिया जाता है वह पात्रदान कहलाता है। और जो दान दीन दुखी, भूखे, अपाहज, विधवा अनाथों को करुणाभाव से दिया जाता है, वह करुणादान है।

दान चार प्रकार के हैं—१. आहार दान २. औषधि दान ३. ज्ञान दान ४. अभयदान।

(क) आहारदान—मुनि, त्यागी, श्रावक, ब्रह्मचारी तथा लगड़े लूले, भूखे और अनाथ विधवाओं आदि को भोजन देना आहार दान है।

(ख) औषधि दान—रोगी स्त्री पुरुषों को औषधि देना, उनकी सेवा टहल करना, औषधालय खोलना, औषधिदान है।

(ग) ज्ञानदान—पुस्तकें बाँटना, पाठशालायें खोलना,

व्याख्यान देकर तथा शास्त्र सुनाकर धर्म और कर्तव्य का ज्ञान कराना, असमर्थ विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देना, ज्ञानदान है ।

(घ) अभयदान—जीवों की रक्षा करना, धर्म साधन के लिए स्थान बनवाना, चौकी पहरा लगवा देना, धर्मात्मा पुरुषों को दुःख और संकटों से निकालना, दीन दुखी मनुष्य, पशु, पक्षी भयभीत हों, जान से मारे जाते हों, अथवा सताये जाते हों तो तन, मन, धन से उनके प्राण बचा उनका भय दूर करना अभयदान है । मानवों व पशुओं के भय निवारण के लिए धर्मशाला व पशुशाला बनवाना अभयदान है ।

ऊपर लिखे चारों प्रकार के दानों में से कुछ न कुछ नित्य प्रति करना गृहस्थी का नित्य दैनिक दान कर्म है । सवेरे भोजन करने से पहले आधी रोटी दान के लिए निकाले बिना भोजन न करना चाहिए । गृहस्थों को उचित है कि जो पैदा करें उसका चौथाई भाग या छठा या आठवाँ या कम से कम दसवां भाग दान व धर्म की उन्नति के लिए निकालें, अपना जीवन सादगी से बितावें, विवाह आदि में कम खर्च करें, परोपकार में अधिक धन लगावें ।

प्रश्नावली

१—गृहस्थों के दैनिक कर्त्तव्य कितने होते है और वे इनका पालन किस लिए करते हैं ?

२—'दैनिक कर्म' कितने हैं ? नाम बताओ। बताओ इनका नाम दैनिक कर्म क्यों रक्खा गया ?

३—देव पूजा से क्या अभिप्राय है ? यदि साक्षात् भगवान न मिलें तो उस अवस्था में क्या करना चाहिए ? देवपूजा से क्या लाभ है ?

४—गुरु भक्ति व स्वाध्याय से तुम क्या समझते हो ? बताओ स्वाध्याय करने से क्या लाभ है ?

५—संयम किसे कहते हैं ? और संयम रखना क्यो आवश्यक है ? संक्षेप में बताओ कि कौन से कर्मों का त्याग सयम माना जा सकता है ?

६—बताओ गृहस्थी के दैनिक कर्मों में तप का क्या अर्थ है ?

७—दान किसे कहते है और यह कितने प्रकार का है ?

८—धर्मशाला बनवाना, पाठशाला खुलवाना तथा औषधालय खुलवाना और भिक्षुकों को भोजन देना, ये कौनसे दान हैं ?

—❀—

पाठ १२

श्रावक के पाँच अणुव्रत (अ)

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचों पापों का बुद्धि पूर्वक त्याग करना व्रत कहलाता है।

व्रत के दो भेद हैं **महाव्रत** और **अणुव्रत**। मन-

वचन-काय से पाँचों पापों का बुद्धि पूर्वक सम्पूर्ण त्याग करना **महाव्रत** कहलाता है इनका पालन मुनिराज ही कर सकते हैं।

हिंसादि पाँच पापों का मोटे रूप से एक देश त्याग करना **अणुव्रत** कहलाता है। अणुव्रत पाँच हैं:—

(१) अहिंसाणुव्रत (२) सत्याणुव्रत (३) अचौर्याणुव्रत (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत (५) परिग्रहपरिमाण अणुव्रत।

(क) अहिंसाव्रत— त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग करना अहिंसा अणुव्रत कहलाता है।

दूसरे भाग में तुम पढ़ चुके हो कि प्रमाद के वश होकर अपने या दूसरे के घात करने या दिल दुखाने को हिंसा कहते हैं यह चार प्रकार की होती है।

१. संकल्पीहिंसा—उसे कहते हैं जो इरादे से की जाय, अर्थात् मांस भक्षण के लिये, धर्म के नाम पर बलि चढ़ाने के लिये, शिकार वगैरह का शौक तथा फैशन को पूरा करने के लिए जो जीवों का वध किया जाता है उसे संकल्पी हिंसा कहते हैं।

२. उद्यमीहिंसा—खेती व्यापार करने, कल कारखाने चलाने आदि रोजगार करने में जो हिंसा होती है उसको उद्यमी हिंसा कहते हैं।

३. आरम्भी हिंसा—रसोई बनाना, अन्न को कूटना तथा बुहारी देना, मकान आदि बनवाना, उनको लीपना, पोतना आदि में जो हिंसा होती है उसे आरम्भी हिंसा कहते हैं।

४. विरोधीहिंसा—शत्रु से अपने जान माल तथा अपने देश और धर्म की रक्षा करने के लिये युद्ध आदि करने में जो हिंसा होती है उसे विरोधी हिंसा कहते हैं।

इन चारों हिंसाओं में से श्रावक केवल संकल्पी हिंसा का त्याग कर सकता है, स्थावर जीवों की भी व्यर्थ हिंसा नहीं करता है। यद्यपि बाकी तीन हिंसाओं का सर्वथा त्याग श्रावक गृहस्थी में रहते हुए नहीं कर सकता तो भी उसको सब कार्यों के करने में यत्न और नीति से ही व्यवहार करना चाहिये। इस व्रत का धारी श्रावक कषाय से किसी भी प्राणी को बन्धन मे नहीं डालता, लाठी चाबुक आदि से नहीं मारता। किसी जीव के नाक, कान, पूंछ आदि अङ्गोपांग का छेदन नहीं करता है। किसी जीव पर उसकी शक्ति से अधिक बोझा नहीं लादता अपने आधीन मनुष्यों तथा पशुओं को भूखा प्यासा नहीं रखता है। यदि वह ऐसा करता है तो उसके व्रत में दोष लगता है।

(ख) सत्याणुव्रत—स्थूल झूठ बोलने का त्याग करना सत्याणुव्रत कहलाता है। इस व्रत का पालन करने

वाला स्थूल (मोटा) झूठ न तो आप बोलता है न दूसरों से बुलवाता है और ऐसा सच भी नहीं बोलता है कि जिसके बोलने से किसी जीव का अथवा धर्म का घात होता है। इस व्रत का धारी झूठा उपदेश नहीं देता है। दूसरे के दोष प्रकट नहीं करता है। विश्वासघात नहीं करता है। झूठी गवाही नहीं देता है। झूठे जाली कागज, तमस्सुक, रसीद आदि नहीं बनाता है, जाली हस्ताक्षर मोहर वगैरह नहीं बनाता है।

(ग) अचौर्याणुव्रत--प्रमाद के वश होकर दूसरों को बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करने का त्याग करना अचौर्याणुव्रत है। इस व्रत का धारी किसी की गिरी पड़ी भूली या रक्खी हुई वस्तु को न तो आप लेता है और न उठाकर दूसरों को देता है।

इस वृत का धारी दूसरों को चोरी का उपाय नहीं बताता। चोरी का माल नहीं लेता। राजा के महसूल आदि की (जैसे महसूल चुङ्गी रेलवे टिकट आदि) चोरी नहीं करता। बढ़िया चीजों में घटिया मिलाकर बढ़िया के मोल में नहीं बचता। जैसे दूध में पानी मिलाकर, घी में चर्बी मिलाकर नहीं बेचता। नापने तोलने के गज बांट तराजू वगैरह हीनाधिक (कम या ज्यादा) नहीं रखता। यदि ऐसा करता है तो उसका व्रत दूषित हो जाता है।

(घ) ब्रह्मचर्याणुव्रत—अपनी विवाहिता स्त्री के सिवाय अन्य स्त्रियों से काम सेवन का त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है। इस व्रत का धारी अपनी स्त्री को छोड़कर बाकी स्त्रियों को अपनी पुत्री और बहन के समान समझता है। कभी किसी को बुरी निगाह से नहीं देखता। वह अपने आधीन कुटुम्बीजनों के सिवाय दूसरों के रिस्ते-नाते नहीं करता। वेश्या तथा व्यभिचारिणी (बदचलन) स्त्रियों की संगति नहीं करता और न उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध रखता है। काम के नियत अगों को छोड़कर और अंगों में कुचेष्टायें नहीं करता। अपनी स्त्री से भी काम सेवन की अधिक लालसा नहीं रखता है। यदि वह ऐसा करता है तो उसका व्रत मलिन होता है।

नोटः—स्त्री को भी विवाहित पुरुष में ही सन्तोष धारण करना चाहिए। अपने पति के सिवाय अन्य पुरुषों को पुत्र, भाई तथा पिता के समान समझना चाहिए। ऐसे भाव करने से ही पतिव्रत धर्म रूप ब्रह्मचर्य का पालन होता है। स्त्रियों को भी उन सब कारणों से बचना चाहिये जो कि उनके शीलव्रत को दूषित करने वाले हों।

(ञ) परिग्रह परिमाण अणुव्रत—अपनी इच्छानुसार खेत, मकान, रुपया, पैसा, सोना, चाँदी, गौ, बैल, घोड़ा, अनाज, दासी, दास, वस्त्र, बर्तन वगैरह वस्तुओं का इस प्रकार परिमाण कर लेना कि मैं जन्म भर के लिए इतना रखूंगा, बाकी सबका त्याग कर देना परिग्रह परिमाण अणुव्रत है। इस व्रत का धारी अपने किए हुए परिमाण का उल्लंघन नहीं करता है, किन्तु जितना परिग्रह उसने रखा है, उसमें ही सन्तुष्ट रह अधिक तृष्णा नहीं करता है। जब प्रतिज्ञा पूर्ण हो जाती है, तो संतोष से अपना जीवन धर्म साधन व परोपकार में बिताता है।

प्रश्नावली

१—व्रत किसे कहते है और व्रत के कितने भेद हैं ?

२—अहिंसाणुव्रत किसे कहते हैं ? बताओ हिंसा कितने प्रकार की है ? श्रावक सभी हिंसाओ का त्याग कर सकता है ?

३—सत्याणुव्रत तथा अचौर्याणुव्रत का धारी कौन-कौन से काम को नहीं करेगा ? एक चोर की प्राण रक्षा के लिए झूठी गवाही देना अच्छा है या बुरा ?

४—ब्रह्मचर्याणुव्रत किसे कहते है ? ब्रह्मचर्याणुव्रत के धारी के लिए कौन कार्य त्याज्य हैं ? बताओ इस व्रत का धारी वेश्या नाच देखेगा या नहीं ?

५—परिग्रह परिमाण का क्या अभिप्राय है ?

———

पाठ १३

श्रावक के व्रत व ३ गुणव्रत

गुणव्रत उन्हें कहते है जो अणुव्रतों का उपकार करे और अणुव्रतों का मूल्य गुणन रूप बढ़ा देवे। गुणव्रत तीन होते हैं। १–दिग्व्रत, २–देशव्रत, ३–अनर्थदण्डव्रत।

(क) दिग्व्रत–लोभ के आरम्भ को कम करने के लिए जन्म भर के लिए दशों दिशाओं में आने जाने की हद बांध लेना दिग्व्रत कहलाता है। इस व्रत का धारी इस प्रकार नियम करता है कि मैं जन्म पर्यन्त अमुक दिशा में, अमुक नदी, पर्वत, नगर से आगे नहीं जाऊँगा जैसे–किसी मनुष्य ने पूर्व में कलकत्ता, पश्चिम मे सिन्धु नदी, उत्तर में हिमालय पर्वत और दक्षिण में कन्याकुमारी से आगे नहीं जाने का नियम लिया और फिर उसका भली भांति पालन किया, उसका यह नियम दिग्व्रत कहलाता है।

इस व्रत के धारी को चाहिए कि अपने किये नियम की मर्यादा को भली भाँति याद रक्खे और लोभादिक के वश में होकर उसमें कोई घटा बढ़ी न करे।

(ख) देशव्रत–घड़ी, घण्टा, दिन, पक्ष, महीना, वगैरह नियत समय तक दिग्व्रत में की हुई मर्यादा को और

भी घटा लेना देशव्रत है। जैसे दिग्व्रत में किसी ने यह नियम किया कि जन्म भर वह पूर्व दिशा में कलकत्ते से आगे नहीं जावेगा। अब नियम करता है कि मैं चौमासे में अपने शहर से बाहर कहीं नहीं जाऊँगा। वह किसी दिन यह नियम और भी कर लेवे कि आज मैं मन्दिर में ही रहूँगा, मन्दिर से बाहर कहीं नहीं जाऊँगा, तो यह उसका देशव्रत समझना चाहिए। इस व्रत का धारी मर्यादा से बाहर क्षेत्र में न आप जाता है न किसी दूसरे को भेजता है, न वहाँ से कोई चीज वगैरह मंगवाता है, न भेजता है और न कोई पत्र-व्यवहार करता है। धर्म कार्य के लिए मनाई नहीं है।

याद रक्खो दिग्व्रत जीवन पर्यन्त होता है और देशव्रत कुछ नियत समय के लिए होता है।

(ग) अनर्थदण्डव्रत—बिना प्रयोजन ही जिन कार्यों में पाप का आरम्भ हो, उन कार्यों का त्याग करना अनर्थदण्डव्रत है।

इस व्रत का धारी पांच प्रकार के अनर्थों से अपने को बचाता है।

१. पापोपदेश—वह बिना प्रयोजन किसी को ऐसा कोई कार्य करने का उपदेश नहीं देता जिसमें पाप हो।

२. हिंसादान—हिंसा के औजार तलवार, पिस्तौल, फावड़ा, कुदाल, पींजरा, चूहेदान—आदि किसी दूसरे को यश के लिए मांगे नहीं देता।

३. अपध्यान—दूसरों का बुरा नहीं चाहता है। दूसरों की स्त्री, पुत्र, धन, आजीविका आदि नष्ट होने की इच्छा नहीं करता है। दूसरे मनुष्यों तथा जानवरों की लड़ाई देखकर खुश नहीं होता, किसी की हार-जीत में आनन्द नहीं मानता।

४. दुःश्रुति—परिणामों को बिगाड़ देने वाली कहानी, किस्से, नाविल, स्वांग, तमाशे, नाटक वगैरह की किताबें नहीं पढ़ता और नहीं मंगाता।

५. प्रमादचर्या—बिना प्रयोजन जल नहीं डालता, अग्नि नहीं जलाता, जमीन नहीं खोदता, वृक्ष, पत्ते, फल, फूल आदिक नहीं तोड़ता। इस व्रत के पालन करने वाले को चाहिये कि अपनी जबान से कोई झूठ वचन न कहे। शरीर से कोई कुचेष्टा न करे। व्यर्थ बकवास और फिजूल की दौड़-धूप से बचता रहे और अपनी आवश्यकता से अधिक भोग-उपभोग की सामग्री इकट्ठी न करे। यदि वह ऐसा करता है तो वह अपने नियम को मलिन करता है।

प्रश्नावली

१—गुणव्रत का लक्षण बतलाओ, गुणव्रत कितने होते है नाम लिखो ?

२—दिग्व्रत किसे कहते है। दिग्व्रत तथा देशव्रत में क्या भेद है ? बताओ देशव्रत का धारी अपनी मर्यादा के बाहर किसी दूसरे मनुष्य को भिजवाकर अपना कार्य कर सकता है या नही ? और क्यों ?

३—अनर्थदण्डव्रत किसे कहते है ? वे कौन से अनर्थ है जो इस व्रत के धारी के लिये त्यागने योग्य है ? अनर्थ दण्डव्रती अपना चूहेदान अपने परिवार के मनुष्यों को मांगने से देगा या नहीं ? उत्तर कारण सहित लिखो ?

४—बताओ कोई मनुष्य बिना अणुव्रत के धारण किये गुणव्रत धारण कर सकता है या नहीं ? और गुणव्रत का धारी अणुव्रती है या नहीं ? कारण सहित उत्तर दो ?

पाठ १४

श्रावक के ४ शिक्षाव्रत

शिक्षाव्रत उसे कहते हैं जिनके धारण करने से मुनि व्रत पालन करने की शिक्षा मिले।

शिक्षाव्रत चार हैं—१. सामायिक, २. प्रोषधोपवास ३. भोगोपभोग परिमाण, ४. अतिथि संविभाग।

१. सामायिक शिक्षा—समस्त पाप क्रियाओं को त्याग तथा सब पदार्थों से राग द्वेष छोड़ कर समता भावो के साथ नियत समय तक आत्म ध्यान करने का नाम सामायिक है।

सामायिक करने की विधि—सामायिक करने वाले को चाहिए कि शान्त एकान्त स्थान में जाकर किसी प्राशुक शिला या भूमि पर पट्टी आदि बिछाकर पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके खड़ा होवे और दोनों हाथ जोड़कर मस्तक से लगाकर तीन बार शिरोनति करना (मस्तक झुका कर नमोस्तु करना) ॐनमः सिद्धेभ्यः ॐनमः सिद्धेभ्यः इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए। फिर सीधे खड़े होकर दोनों हाथ सीधे छोड़ देने चाहिएं। फिर पाँव की एड़ियों में चार अंगुल का और सामने अंगूठों में बारह अंगुल का अन्तर रहे, इसी प्रकार मस्तक को भी सीधा और नाशाग्रदृष्टि रखना चाहिए और नौ बार रामोकार मन्त्र का जाप करना चाहिए। इसके बाद उसी प्रकार उत्तर या पूर्व में दोनों घुटने पृथ्वी पर लगाकर और दोनों हाथ जोड़कर मस्तक से लगाकर और मस्तक भूमि में लगाकर अष्टांग नमस्कार करना चाहिए। फिर खड़े होकर काल आदि का प्रमाण कर लेना चाहिए कि मैं छः घड़ी, चार घड़ी या दो घड़ी तक या अमुक समय तक सामायिक करूँगा। उतने काल तक जो परिग्रह शरीर पर है उतना ही ग्रहण है। इत्यादि परिग्रह तथा काल क्षेत्रादि सम्बन्धी प्रतिज्ञा करनी चाहिए। पश्चात् उसी दिशा में बिल्कुल सीधे

दोनों हाथ जोड़ पहले की तरह खड़े होकर नौ या तीन बार णमोकार मन्त्र का जापकर दोनों हाथ जोड़कर तीन आवर्त करे अर्थात् दोनों हाथों को अंजुली बनाकर बांई ओर से दाहिनी ओर को ले जाते हुए तीन चक्कर करे और फिर उस अंजुली को मस्तक से लगाकर मस्तक को झुकाना चाहिए, शेष तीन दिशाओं में भी प्रत्येक में तीन मन्त्र जपकर तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करना चाहिए। इस प्रकार चारों दिशाओं में भी सब मिलाकर बारह मन्त्रों का जाप, बारह आवर्त्त और चार शिरोनति हो जावेंगी पश्चात् जिस दिशा में पहले खड़े होकर नमस्कार किया था, उसी दिशा में चाहे तो मूर्तिवत् स्थिर खड़े रह कर, अथवा पद्मासन या अर्द्ध पद्मासन से स्थिर बैठ सामायिक पाठ पढ़े, णमोकार मन्त्र का जाप दे, भगवत् की शान्तिमय प्रतिमा तथा अपने आत्मस्वरूप का विचार करे। दशलाक्षणी धर्म तथा बारह भावना का चिन्तवन करे इस व्रतधारी श्रावक को चाहिए कि वह सामायिक के काल में अपने मन, वचन, काय को इधर-उधर चलायमान न होने दे। सामायिक को उत्साह के साथ करे। और सामायिक की विधि और पाठ को चित्त की चंचलता से भूल न जावे। सामायिक का काल समाप्त होने पर खड़े होकर पहले की तरह नौ बार णमोकार

मन्त्र को जप उसी दिशा में फिर अष्टांग नमस्कार करे। सामायिक प्रतिमा का धारी प्रातःकाल, दोपहर और सन्ध्या काल में नित्य प्रति सामायिक नियम रूप से किया करता है।

नोट—अध्यापक को चाहिए कि सामायिक की विधि आवर्त, शिरोनति, अष्टांग नमस्कारादि करके छात्रों को भली भांति समझा देवे।

२. प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत—प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को समस्त आरम्भ तथा विषय कषाय और सर्व प्रकार के आहार का त्याग करके १६ प्रहर तक धर्म ध्यान करना प्रोषधोपवास कहलाता है। एक बार भोजन करना 'प्रोषध,' कहलाता है। और सर्वथा भोजन नहीं करना 'उपवास, कहलाता है। दो प्रोषधों के बीच में एक उपवास करना 'प्रोषधोपवास' है, जैसे किसी पुरुष को अष्टमी का प्रोषधोपवास करना है, तो सप्तमी और नवमी को एक बार भोजन करे, और अष्टमी को भोजन का सर्वथा त्याग करे। उसे चाहिए कि प्रोषधोपवास के दिन पाँच पापों का, गृहस्थ के कारोबार का तथा शृङ्गार, इतर, तेल, फुलेल, साबुन, अंजन, मंजन—आदि का और ताश, चौसर, गंजफा—आदि खेलने का सर्वथा त्याग करे और १६ पहर तक अपना समय पूजन,

स्वाध्याय, सामायिक तथा धर्म-चर्चा में व्यतीत करे। यह विधि उत्तम प्रोषधोपवास की है। मध्यम प्रोषधोपवास १२ पहर का और जघन्य ८ पहर का होता है। इस व्रत धारी के श्रावक को चाहिए कि वे सब क्रियायें यत्नाचार के साथ करे और उपवास सम्बन्धी उपयोगी बातों को न भूले। यह भी ध्यान रहे कि उपवास को बेकार समझ कर न करे, हर्ष और आनन्द के साथ करे।

३–भोगोपभोग परिमाणव्रत—भोजन वस्त्रादि भोगोपभोग की वस्तुओं की मर्यादा करके बाकी सबका त्याग करना भोगोपभोग परिमाणव्रत है। जो वस्तुएँ एक बार ही भोगने में आवें उन्हें भोग कहते हैं। जैसे–रोटी, पानी, दूध, मिठाई आदि। और जो चीजें बार-बार भोगने में आवें वह उपभोग कहलाती है। जैसे—वस्त्र, चारपाई, मकान, सवारी आदि। जो वस्तुएँ अभक्ष्य हैं अर्थात् सेवन करने योग्य नहीं हैं उनका जीवन पर्यन्त त्याग करना चाहिए, और जो पदार्थ भक्ष्य हैं अर्थात् सेवन करने योग्य हैं उनका भी त्याग घड़ी, घंटा, दिन, महीना, वर्ष वगैरह की मर्यादा पूर्वक करना चाहिये।

जन्म पर्यन्त त्याग को "यम" कहते हैं और थोड़े समय की मर्यादा को लिए हुए त्याग करना "नियम"

कहलाता है। इस व्रत के धारी को चाहिए कि नित्य प्रति सवेरे उठते ही वह इस प्रकार का नियम कर लेवे कि आज मैं भोगोपभोग की वस्तुएँ इतनी रखूँगा और उनका इतनी बार और इस प्रकार सेवन करूँगा।

इस व्रत का धारी विषयों को अच्छा नहीं समझता, पहले भोगे हुए भोगों को इच्छानुरूप याद नहीं करता। आगामी भोगों की इच्छा भी नहीं करता। वर्तमान भोगों में भी अति लालसा नहीं रखता। इस व्रत के धारी को निम्न लिखित १७ नियम विचारने चाहिए—

(१) भोजन कै बार करूँगा।

(२) छः रसों में से कौनसा छोड़ा।

(३) पानी—भोजन के सिवाय पानी कितनी बार लूँगा।

(४) कुंकुमादि विलेपन—आज तेल, इतर फुलेल आदि लगाऊँगा या नहीं, यदि लगाऊँगा तो कौन से और कितनी बार।

(५) पुष्प—फूल सूँघूँगा या नहीं।

(६) ताम्बूल पान खाऊँगा या नहीं, यदि खाऊँगा तो कितने टुकड़े कै-बार।

(७) गाना बजाना—गाना सुनूँगा या नहीं।

(८) नृत्य करूँगा व देखूँगा या नहीं।

(९) ब्रह्मचर्य पालूँगा या नहीं ।

(१०) स्नान—स्नान कै बार करूँगा ।

(११) वस्त्र—कपड़े कितने काम में लूँगा ।

(१२) आभूषण—जेवर कौन कौन से पहनूँगा ।

(१३) आसन—बैठने के आसन कौन २ से रखूँगा ।

(१४) शय्या—सोने के आसन कौन २ से रखूँगा ।

(१५) वाहन—सवारी कौन २ सी रखूँगा या नहीं ।

(१६) सचित्त वस्तु—हरी सब्जी कौन २ सी खाऊँगा ।

(१७) वस्तु संख्या—कितनी सब वस्तुएँ खाऊँगा या छोड़ूँगा ।

४—अतिथि संविभागव्रत—फल की इच्छा के बिना भक्ति और आदर के साथ धर्म बुद्धि से मुनि, त्यागी तथा अन्य धर्मात्मा पुरुषों को आहार, औषधि, ज्ञान और अभय चार प्रकार का दान देना अतिथि संविभागव्रत कहलाता है। जो भिक्षा के लिए भ्रमण करते हैं, ऐसे साधुओं को अतिथि कहते हैं। अपने कुटुम्ब के लिए बनाये हुए भोजन में से भाग करके देना संविभाग है।

यदि मुनि, त्यागी आदि-दान के पात्र न मिलें तो किसी भी सहधर्मी भाई को आदर-पूर्वक दान देवें अथवा

करुणा बुद्धि से दीन-दुःखी, अपाहिज भिखारियों को भोजन, वस्त्र, औषधि आदि यथाशक्ति दान देवे। श्रावकों को उचित है कि भोजन करने से पहिले कुछ न कुछ दान अवश्य ही करे। यदि और कोई दान न बन सके तो अपने भोजन में से कम से कम एक दो रोटी निकाल कर दुखित भूखे मनुष्यों को तथा पशुओं को दे दें। किसी का आदर सत्कार, विनय करना, योग्य स्थान देना, कुशल पूछना, मीठे वचन बोलना, एक प्रकार का बड़ा दान है। दान नाम त्याग का भी है। खोटे भाव, पर निन्दा, चुगली, विकथा तथा कषायों और अन्याय के धन का त्याग करना भी महादान है। बड़ के बीज की तरह भक्ति सहित पात्र को दिया हुआ थोड़ा भी दान महान् फल को देता है, दानी को इस लोक में यश और परलोक में परम सुख की प्राप्ति होती है। दानी के शत्रु भी मित्र हो जाते हैं। इस व्रत के धारी को चाहिये कि क्रोधित होकर अनादर से दान न देवे। दान देकर दुःखी न हो, हर्ष-भाव के साथ दान देवे, दान देकर गर्व न करे तथा दान से फल की इच्छा न करे।

प्रश्नावली

१—शिक्षाव्रत किसे कहते है और ये कितने होते है ?

२—सामायिक किस प्रकार करनी चाहिये, पूरी तरह बताओ?

३—नीचे लिखे हुओ मे क्या अन्तर है?

उपवास, प्रोषधोपवास, भोग और उपभोग, यम और नियम।

४—भोगोपभोग परिमाणव्रत किसे कहते हैं तथा इस व्रत धारी के लिये विचारने योग्य कम से कम १० नियम लिखो और दस भोग और दस उपभोग वस्तुओं के नाम लिखो?

५—शिक्षाव्रत के अन्तिम भेद का लक्षण लिखकर बताओ कि तुम अतिथि से क्या समझते हो?

६—संविभाग का क्या अभिप्राय है, और दान का क्या महत्व है?

—:०:—

पाठ १५

महावीर स्तुति

धन्य तुम महावीर भगवान्

लिया पुण्य अवतार, जगत का करने को कल्याण ॥धन्य०॥१

बिलबिलाट करते पशुकुल को, देख दयालय प्राण।
परम अहिंसामय सुधर्म की, डाली नींव महान् ॥धन्य०॥२

ऊँच-नीच के भेद-भाव का, बढ़ा देख परिणाम।
सिखलाया सबको स्वाभाविक, समता तत्त्व महान ॥धन्य०३

मिला समवसृत में सुरनर-पशु, सबको सम सम्मान।

समता और उदारता का यह, कैसा सुगम विधान ॥धन्य०॥४
अन्धी श्रद्धा का ही जग मे, देख राज्य बलवान् ।
कहा 'न मानो बिना युक्ति के, कोई वचन प्रमाण' ॥धन्य०॥५

प्रश्नावली

१—इस कविता में किसकी स्तुति की गई ?
२—भगवान् महावीर के उपदेशों को एक संक्षिप्त निबन्ध में लिखो

—:o:—

पाठ १६

भगवान् पार्श्वनाथ

भगवान् महावीर चौवीस तीर्थंकरों में से अन्तिम तीर्थंकर थे। इनसे पहले तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ जी हुए हैं। उनका बालजीवन सत्य धर्म का पाठ सिखाने के लिए अनुपम है।

तीर्थंकर उस मनुष्य को कहते हैं जिसने इन्द्रियों और मन को जीत कर सर्वज्ञ पद पा लिया हो। ज्ञान के द्वारा जो सब ही भटकते हुए जीवों को संसाररूपी महासागर से पार लगाने में सहायक हो। इस प्रकार सब ही तीर्थंकर लोक का सच्चा उपकार करने वाले महान् शिक्षक थे। इनमें सबसे पहले ऋषभदेव हुए। उनके बाद बड़े-बड़े लम्बे चौड़े समयों के बाद क्रमशः

तेईस तीर्थंकर और हुए। इनमें चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीरजी की बाबत बालको ! तुम पहले ही पढ़ चुके हो।

श्री महावीर स्वामी के निर्वाण से ढाई सौ वर्ष पहले श्री पार्श्वनाथजी निर्वाण पधारे। इनके पिता राजा विश्वसेन बनारस में राज्य करते थे। इनकी माता महिपाल नगर के राजा की पुत्री थी। उनका नाम वामादेवी था। राजकुमार पार्श्वनाथ बड़े पुण्यशाली जीव थे। वह बचपन से ही गहन ज्ञान की बातें करते थे। लोग उनके चातुर्य को देखकर दंग रह जाते थे।

एक दिन राजकुमार पार्श्वनाथ वन-विहार के लिए निकले। सखा-साथी उनके साथ थे। घूमते-फिरते वे एक पेड़ के पास से निकले, जिस पर एक सन्यासी उल्टा लटक पंचाग्नि तप कर रहा था। यह उनके नाना थे। राजकुमार उनकी मूढ़ क्रिया को देखकर हँसे और साथियों से बोले देखो, इस मूढ़ सन्यासी को ! यह जीव-हत्या करके स्वर्ग के सुखों की अभिलाषा कर रहा है, जिस लक्कड़ को इसने सुलगा रक्खा है, उसमें नाग नागिनी हैं, यह भी इसको पता नहीं है।

सन्यासी इस बात को सुनकर आग बबूला होगया और बोला—'हाँ-हाँ तू बड़ा ज्ञानी है। छोटे मुँह बड़ी

बातें कहते हुए तुझे डर भी नहीं लगता, तिस पर भी तेरा नाना और सन्यासी। इस मेरी तपस्या को तू हत्या का काम बताता है।'

राजकुमार पार्श्वनाथ ने सन्यासी की इन बातों का बुरा न माना, बल्कि उन्होंने उत्तर में कहा—साधु होकर क्रोध क्यों करते हो ? बुद्धि उम्र के साथ नहीं बिकी है। ज्ञान बिना कोई भी करनी काम की नहीं। तुम्हें अपनी तपस्या का बड़ा घमण्ड है तो जरा इस लक्कड़ को फाड़ कर देखो। दो निरपराध जीवों के प्राण जायेंगे। क्या यही धर्म-कर्म है, सन्यासी बोला तो कुछ नहीं, पर लक्कड़ चीरने पर जुट पड़ा। उसने देखा सचमुच उस लक्कड़ के भीतर साँपों का एक जोड़ा है। वह दंग रह गया, परन्तु अपने बड़प्पन की डींग मारता ही रहा। वे युगल नाग शस्त्र से घायल हो गये, परन्तु उनके परिणामों में भगवान् पार्श्वनाथ के वचनों ने शान्ति उत्पन्न करदी थी, वे समता भाव से मर कर धरणेन्द्र पद्मावती पैदा हुए। एक बार अयोध्या से एक दूत राजा विश्वसेन की सभा में आया। पार्श्वनाथ ने अयोध्या का हाल पूछा तो उसने ऋषभ आदि तीर्थंकरों का चरित्र सुनाया, सुनते ही प्रभु को ध्यान आया और वे वैराग्यवान् हो गये। बिना विवाह कराये ही तीस वर्ष की अवस्था में, साधु दीक्षा लेली

और घोर तप करने लगे।

एक बार कमठ के जीव पूर्व जन्म के बैरी देव ने घोर उपद्रव किया। वृष्टि की, ओले बरसाये, सर्प लिपटाये, परन्तु भगवान् सुमेरु पर्वतवत् ध्यान में स्थिर रहे। युगल नाग के जीवों में से धरणेन्द्र ने सर्प के रूप में छाया की, पद्मावती ने मस्तक पर उठा लिया, उपसर्ग दूर हुआ। भगवान् को केवलज्ञान हुआ। केवलज्ञान होने के बाद भगवान् ने विहार करके धर्मोपदेश दिया। अनेक जीवों का उपकार किया। सौ बरस की आयु में हजारीबाग जिले के सम्मेद शिखर पर्वत से मोक्ष पधारे। इसी कारण इस पर्वत को आज कल पार्श्वनाथ हिल (पहाड़) कहते हैं।

प्रश्नावली

१—तीर्थंकर किसे कहते हैं ? बताओ भगवान् पार्श्वनाथ कौन से तीर्थंकर थे ?

२—सन्यासी कौन था ? और वह क्या कर रहा था ? भगवान् पार्श्वनाथ को किस प्रकार ज्ञात हो गया कि लक्कड़ में नाग और नागिनी है ?

३—भगवान पार्श्वनाथ को वैराग्य क्यों हो गया था ? कमठ कौन था और उसने क्या उपद्रव किया और वह उपद्रव किस प्रकार दूर हुआ ?

४—क्या कारण था जो नाग और नागिनी घायल होकर मरने पर भी धरणेन्द्र और पद्मावती हो गए ?

५—भगवान् पार्श्वनाथ कहाँ से मोक्ष गये थे और उस स्थान का क्या नाम पड़ गया है ?

पाठ १७

सती अंजना सुन्दरी

सती अंजना सुन्दरी महेन्द्रपुर के राजा महेन्द्र व रानी हृदयवेगा को परम प्यारी पुत्री थी। बालकपन में ही वह सब विद्याओं और कलाओं में निपुण हो गई थी। इसको धर्मशास्त्र की शिक्षा भी पूर्ण रूप से दी गई थी। युवती होने पर माता पिता ने उसका सम्बन्ध आदित्यपुर के राजा प्रहलाद, रानी केतुमती के पुत्र पवनकुमार के साथ निश्चय कर दिया।

पवनकुमार ने अंजना के रूप, गुण और शिक्षा की बड़ी प्रशंसा सुनी उससे मिलने की इच्छा से वे एक रात्रि को अपने मित्र के साथ विमान द्वारा महेन्द्रपुर को रवाना हुए। जिस समय वे महेन्द्रपुर पहुँचे, अंजना सुन्दरी अपने महल के ऊपर सखियों के साथ बैठी हुई अपना मनोरंजन कर रही थी। पवनकुमार छिपकर उसकी गुप्त वार्ता सुनने लगे। ये सब सखियां अंजना के सम्बन्ध पर अपना-अपना विचार प्रकट कर रही थीं। अभाग्य से उसकी एक मूर्खा सखी ने पवनकुमार के सम्बन्ध पर कुछ असन्तोष प्रकट किया। अंजना लज्जावश चुप रही। पवनकुमार अपना अपमान समझ बड़े दुखी हुए। उनको अंजना से अरुचि

हो गई । सीधे ही मित्र सहित अपने स्थान को लौट आये और अंजना के साथ विवाह न करने की दिल में ठानली । यह सब समाचार किसी को मालूम न हुए ।

इधर दोनों राजाओं ने विवाह की तिथि निश्चित कर ली । विवाह की सब तय्यारियाँ होने लगीं । पवन-कुमार ने विवाह न करने की बहुतेरी हठ की, परन्तु माता-पिता के आगे उनकी एक न चली । नियत तिथि पर उनका विवाह हो गया । यद्यपि पवनकुमार ने अपने माता-पिता के कहने से अंजना से विवाह कर लिया, परन्तु उनका चित्त उसके विरुद्ध ही रहा । अंजना जब उनके महल में गई तो उसे रूठ जाने का हाल मालूम हुआ । उसे बड़ा दुःख हुआ । दिन रात वह उनको प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रयत्न करती थी, परन्तु उनका भ्रम दूर नहीं हुआ । पवनकुमार ने अंजना की ओर कभी प्रेम से नहीं देखा । इस प्रकार परम सती को उनका नाम रटते-रटते २२ वर्ष हो गये । चिन्ता के कारण उसका शरीर सूख कर पिंजर हो गया ।

एक दिन जिस समय पवनकुमार अपने पिता की आज्ञानुसार लंका के राजा रावण को राजा वरुण के युद्ध में सहायता देने के लिए जाने को तैयार हुए, तो उन्होंने साक्षात् प्रेम की मूर्ति अंजना को दरवाजे पर

पति दर्शन के लिये खड़े हुए देखा। कुमार ने उसकी विनय पर कुछ ध्यान न दिया, किन्तु अपमान भरे शब्दों से उसका और भी तिरस्कार कर दिया और अपनी सेना लेकर युद्ध के लिये चलते बने। सुन्दरी के हृदय पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। इस समय उसे परमात्मा के ध्यान के सिवाय और कोई सहारा न रहा।

चलते चलते पवनकुमार मानसरोवर पर पहुँचे वहाँ उन्होंने अपना डेरा डाल दिया। रात्रि के समय जब टहल रहे थे, तो उन्होंने एक चकवी को चकवे के वियोग में रुदन करते हुए सुना। रुदन सुनकर विचारने लगे। देखो! इस चकवी को अपने प्रिय का एक रात्रि का वियोग होने से इस समय इतना कष्ट हो रहा है तो अंजना को २२ वर्ष के वियोग से न जाने कितना कष्ट हुआ होगा। प्रेम के अश्रु कुमार की आँखों से गिरने लगे, तुरन्त ही गुप्त रीति से अपने मित्र सहित उसी रात्रि को विमान में बैठकर चुपके-चुपके अंजना सुन्दरी के महल में पहुँचे। अंजना कुमार को देखकर फूली न समाई। पति की अनेक प्रकार से विनय और भक्ति करने लगी। कुमार ने अपने अपराधों की क्षमा मांगी। सारी रात महल में अंजना सुन्दरी के साथ बिताई।

सवेरा होते ही कुमार वहाँ से विदा होने लगे तो

सुन्दरी ने कहा—'जान पड़ता है मुझे गर्भ रह गया है कृपा कर आप मुझे अपनी कोई निशानी दे जावें जिससे मेरा अपमान न हो सके।' तब कुमार अपनी अंगूठी सुन्दरी को देकर चले गये। इधर उसके गर्भ के चिन्ह प्रति दिन प्रकट होने लगे। उसकी सासू केतुमती ने यह देखकर उसे दूषित ठहराया। अंजना ने पवनकुमार की दी हुई अंगूठी को दिखाकर उसके भ्रम को बहुतेरा दूर करना चाहा, परन्तु उसने एक न मानी और अंजना सुन्दरी को उसकी सखी बसन्तमाला सहित उसके पिता राजा महेन्द्र के यहाँ भेज दिया।

माता-पिता ने भी अंजना को कलंकित समझ अपने नगर में घुसने नहीं दिया। इस तरह दुखी होकर बेचारी अंजना अपनी सखी बसन्तमाला सहित विलाप करती भयानक वन में एक पर्वत की गुफा में पहुँची। वहाँ दैवयोग से उसे एक बड़े तपस्वी ज्ञानी मुनिराज के दर्शन हुए। अंजना ने बड़ी विनय से उनसे अपनी इस आपत्ति का कारण पूछा। उत्तर मे मुनिराज ने कहा—"पुत्री! तूने पहले जन्म में श्री जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा को बावड़ी के जल में फिकवा कर अनादर किया था, इससे तूने घोर पाप का बन्ध किया। उसी के कारण अब तुझे २२ वर्ष का पति वियोग और अनेक दुःख सहन करने

पड़े। अब घबरा मत, धर्म साधन कर, तेरे कष्ट का अन्त होने ही वाला है। तेरे एक बड़ा पराक्रमी शूरवीर और धर्मात्मा पुत्र होगा।" यह मुनिराज तो यहाँ से विहार कर गये। रात्रि के समय जब अंजना वसन्तमाला सहित गुफा में थी कि एक भयानक सिंह गुफा के द्वार पर आया, उसे देखकर अंजना भयभीत हुई। परन्तु उसकी सखी वसन्तमाला ने बड़े साहस और पराक्रम से सिंह का सामना करके उसे वहाँ से भगा दिया। अब अंजना अपनी सखी सहित धर्म ध्यान पूर्वक उस गुफा में रहने लगी और श्री मुनि सुव्रत भगवान् की प्रतिमा को विराजमान करके नित्य अभिषेक व पूजन करने लगी। वहाँ ही उसने परम प्रतापी जगत् प्रसिद्ध हनुमान को जन्म दिया।

एक दिन अंजना वन में अपने पति को याद कर फूट-फूट कर रो रही थी, उसी समय कारणवश हनुरुहद्वीप का राजा प्रतिसूर्य उधर से जा रहा था, अंजना का विलाप सुनकर अपना विमान उतारा और गुफा में गया। तुरन्त ही अपनी भानजी अंजना को पहचान लिया और उसको हृदय से लगाया। हर प्रकार से शान्ति दे उसे अपने साथ अपने नगर ले गया।

इधर जब पवनकुमार युद्ध मे राजा वरुण को

जीतकर अपने नगर आदित्यपुर में आये तो अंजना को वहाँ न पाकर बड़े दुखी हुए। जब पता चला कि वह अपने पिता के यहाँ महेन्द्रपुर गई है तो वे वहाँ पहुँचे। परन्तु जब वहाँ भी परम सती अंजना के दर्शन न हुए, तो वनों में उसकी खोज में पागलों की तरह घूमने लगे। अब तो राजा महेन्द्र को भी यह हाल जानकर बड़ा दुःख हुआ। दोनों ओर से पवनकुमार और अंजना की खोज में दूत भेजे गये उनमें से एक दूत राजा प्रतिसूर्य के पास पहुँचा और कुमार का सब हाल कह सुनाया। अंजना यह हाल सुन कर मूर्छित हो गई। राजा प्रतिसूर्य ने उसे समझाया और आप आदित्यपुर आये। वहाँ के राजा प्रहलाद को लेकर कुमार की खोज में निकले। खोजते-खोजते कुमार को एक भयानक वन में वृक्ष के नीचे बैठा देखा। कुमार की बड़ी शोचनीय दशा थी। कुमार को देखते ही राजा प्रहलाद के हृदय में प्रेम उमड़ आया, दौड़ कर जल्दी से उसे हृदय से लगा लिया। तथा अंजना के मिलने का व उसके प्रतापी पुत्र होने का सब समाचार कह सुनाया। कुमार यह समाचार सुनकर बहुत प्रसन्न हुए।

वहाँ से चलकर वे सब राजा प्रतिसूर्य के यहाँ हनुरुहद्वीप आये। पवनकुमार अपनी प्राण प्यारी अंजना

से मिले। दोनों ने अपने-अपने दुःख एक दूसरे को सुना कर दिल को शान्त किया और कुछ दिनों तक वहाँ ही रहे। यहाँ से आदित्यपुर में आकर दोनों पति-पत्नि पुत्र सहित आनन्द से समय बिताने लगे। अन्त में अंजना ने आर्यिका बन बड़ी तपस्या की और धर्म-ध्यान पूर्वक मर कर स्वर्ग प्राप्त किया।

प्यारे बालको! सती अंजना के चरित्र से हमें बड़ी शिक्षा मिलती है। देखो कर्मों की गति कैसी विचित्र है। महान् पुरुष भी कर्मों के फल से नहीं बच सकते। यह चरित्र बतलाता है कि जिन शासन की अविनय करने से बड़ा बुरा फल मिलता है। यह चरित्र मनुष्य के आलस्य को छुड़ा कर कर्मवीर बनाता है। यह चरित्र बतलाता है कि विपत्ति में साहस हीन न होकर धर्म पालना करना ही उचित है। यह चरित्र सिखाता है कि एक बार कार्य में सफलता न होने पर भी पुनः उद्योग करके उस कार्य में सफलता प्राप्त करना वीरों का धर्म है। कर्मों का खेल, पतिव्रत की रक्षा और एक अबला के साहस और पराक्रम का सच्चा उदाहरण इस चरित्र में मिलता है।

प्रश्नावली

१—अंजना कौन थी? और किसकी पुत्री थी तथा इसका विवाह किसके साथ हुआ था?

२—पवनकुमार अंजना से क्यों अप्रसन्न हो गये थे ? तथा उनकी यह अप्रसन्नता कब तक बनी रही ?
३—पति की रुष्टावस्था में अंजना ने क्या किया और उसकी क्या हालत हुई ?
४—पवनकुमार मानसरोवर क्यों गये थे ? तथा किस प्रकार उनको अपनी २२ वर्ष की छोड़ी हुई पत्नी की सुध आगई ?
५—सास ने अंजना को क्या कलंक लगाया तथा उसे कहाँ भिजवा दिया ? वन में अंजना ने क्या-क्या कष्ट उठाये तथा किस प्रकार अंजना अपने मामा के घर पहुँची ?
६—बताओ फिर किस प्रकार अंजना और पवनकुमार का संयोग हुआ ?
७—अंजना को अपने पति से २२ वर्ष का लम्बा वियोग क्यों सहना पड़ा था ?
८—अंजना की कहानी से तुम्हें क्या शिक्षा मिलती है ?

पाठ १८

तत्व और पदार्थ

जिनके जानने से हमें अपने आत्मा के सच्चे हित का ज्ञान हो सके, हम अपने आत्मा को पवित्र कर सकें उन बातों को, या वस्तु के स्वभाव को "तत्त्व" कहते हैं। जिसमें तत्त्व पाया जावे उसी को "पदार्थ" कहते हैं। आत्मा की उन्नति को समझाने के लिये सात तत्त्वों को जानना आवश्यक है। वे सात तत्त्व ये हैं—

(१) जीव (२) अजीव (३) आस्रव (४) बन्ध (५) संवर (६) निर्जरा (७) मोक्ष।

(१) जीव—उसे कहते हैं जिसमें चेतना अर्थात् देखने जानने की शक्ति पाई जावे। जीव प्राणों से जीते हैं। प्राण दो प्रकार के होते हैं भावप्राण और द्रव्यप्राण

भावप्राण—ज्ञान और दर्शन, सुख, वीर्यादि आत्मा के गुण हैं।

द्रव्यप्राण—दस होते हैं।

५ इन्द्रियाँ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण।

३ बल—मनोबल, वचनबल, कायबल।

२ आयु और श्वासोच्छ्वास।

नोट—मुक्त जीवों में केवल भावप्राण ज्ञान और दर्शन, सुख, वीर्य आदि ही पूर्ण रूप से पाये जाते हैं, पर संसारी जीवों में किन्हीं अंशों में ज्ञान दर्शन होते हुए भी द्रव्यप्राण भी पाये जाते हैं।

(२) अजीव—उसे कहते हैं जिसमे चेतना न पाई जावे। अजीव के पांच भेद हैं—

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, (इनका स्वरूप तीसरे पाठ में बताया जा चुका है)।

३. आस्रव—रागद्वेष आदि भावों के कारण पुद्गल कर्मों का खिचकर आत्मा की ओर आना आस्रव है। जैसे किसी नाव में छेद हो जाने पर पानी आने लगता है, वैसे ही आत्मा के शुभ अशुभ रूप भाव होने पर पुद्गल कर्म खिचकर आत्मा की ओर आते हैं।

(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) कषाय और (४) योग ही आस्रव के मुख्य कारण हैं।

मिथ्यात्व—राग द्वेष रहित अपनी शुद्ध परम पवित्र आत्मा के अनुभवों में श्रद्धान करने का नाम सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व आत्मा का निज भाव है। इस सम्यक्त्व के विपरीत अर्थात् उल्टे भाव को ही मिथ्यात्व कहते हैं। इस मिथ्यात्वभाव के कारण संसारी जीवों के अनेक संकल्प विकल्प हुआ करते हैं। मिथ्यात्व ही जीव के शान्ति स्वभाव का नाश करता है और इसी से यह जीव के कर्म बन्ध का कारण है। मिथ्यात्व पाँच प्रकार के हैं:—एकान्त मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व और अज्ञान मिथ्यात्व।

अविरति—आत्मा का अपने शुद्ध चिदानन्दमय स्वभाव से विमुख होकर बाहरी विषयों में लवलीन होना अविरति है। पाँचों इन्द्रियों और मन को वश में नहीं

रखना और छः काय के जीवों की रक्षा न करके उनकी हिंसा करना अविरति है। अविरति बारह प्रकार की है।

कषाय—जो आत्मा को कषे अर्थात् दुःख दे, वह कषाय है। जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोकादि ये कषाय पच्चीस होती हैं।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ (चार) ४
अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, (चार) ४
संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ (चार) ४

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद
९
नपुंसकवेद, (कषाय) इस प्रकार १६ कषाय और नो कषाय मिलकर कषाय के कुल पच्चीस भेद होते हैं।

योग—मन, वचन, काय की क्रिया द्वारा आत्मा में हलन चलन होना योग कहलाता है। आत्मा में हलन चलन होने से कर्मों का आस्रव होता है। योग के मन, वचन, काय रूप मुख्य तीन भेद हैं। इसके विशेष भेद १५ होते हैं। ४ मनोयोग, ४ वचन योग, और ७ काययोग।

१. सत्य मनोयोग, २. असत्य मनोयोग, ३. उभय

मनोयोग, ४. अनुभय मनोयोग, ५. सत्य वचनयोग, ६. असत्य वचनयोग, ७. उभय वचनयोग, ८. अनुभय वचनयोग, ९. औदारिक काययोग, १० औदारिक मिश्र काययोग, ११. वैक्रियक काययोग, १२. वैक्रियक मिश्र काययोग, १३. आहारक काययोग, १४. आहारक मिश्र काययोग, १५. कार्माण योग।

नोट—इस प्रकार ५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, २५ कषाय और १५ योग, ये कुल मिलाकर आस्रव के ५७ भेद होते हैं।

४. बन्धतत्व—रागद्वेष के निमित्त से आये हुए शुभ अशुभ पुद्गल कर्मों का आत्मा के साथ जल और दूध की तरह मिलकर एक हो जाना बन्ध तत्व है। जैसे नाव में छेद के द्वारा पानी आकर नाव में इकट्ठा हो जाता है, वैसे ही कर्म आकर आत्मा के साथ बंध जाते हैं। बंध के भी दो भेद हैं। भाव बन्ध और द्रव्य बन्ध। आत्मा के जिन विकार परिणामों से कर्म बन्ध होता है, उन विकार परिणामों को भाव बन्ध कहते हैं। और उस विकारभाव से जो पुद्गल कर्म परमाणु आत्मा के साथ दूध और पानी की तरह एकमेल होकर मिलते हैं उसे द्रव्य बन्ध कहते हैं। बन्ध और आस्रव साथ-साथ एक ही समय होते हैं। आस्रव कारण है, बन्ध कार्य है।

इसलिये जितने आस्रव हैं वे सब ही बन्ध के कारण हैं। बन्ध चार प्रकार का होता है—

(१) प्रकृति बन्ध (२) प्रदेश बन्ध (३) स्थिति बन्ध (४) अनुभाग बन्ध।

(५) **संवरतत्त्व**—आस्रव का न होना अर्थात् आते हुए कर्मों को रोक देना संवर है। जैसे जिस छेद से नाव में पानी आता है उस छेद में डाट लगाकर पानी को आने से रोक दिया जाता है।

संवर के भी दो भेद हैं, भाव संवर, द्रव्य संवर।

भाव संवर—जिन परिणामों से कर्मों का आना रुकता है वे भाव संवर कहलाते हैं और उन्हीं के रोकने से पुद्गल परमाणुओं का कर्मरूप होकर आत्मा की ओर न आना **द्रव्य संवर** है।

संवर बारह भावनाओं के भाने, दश धर्मों का पालन करने और परीषह अर्थात् भिन्न २ प्रकार के कष्ट समता भाव से झेलने आदि से होता है।

संवर के मुख्य कारण ३ गुप्ति, १२ अनुप्रेक्षा (भावना), ५ व्रत, ५ समिति, १० धर्म, २२ परिषहजय, और ५ चारित्र हैं।

(च) व्रत—निश्चय में राग-द्वेषादिक विकल्पों से रहित होने का नाम व्रत है। व्यवहार में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह यह पाँच व्रत कहलाते हैं। इनका वर्णन पहले पढ़ चुके हो। ( )

(छ) समिति—अपने शरीर से दूसरे जीवों को पीड़ा न होने की इच्छा से यत्नाचार रूप प्रवृत्ति करना समिति कहलाता है।

ईर्य्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग ये पाँच समिति हैं।

इनका वर्णन पहले पाठ १६ साधु परमेष्ठी में पढ़ चुके हो ?

(ज) गुप्ति—मन, वचन और काय के व्यापार का वश में करना, काबू में लाना व रोकना गुप्ति है। गुप्ति तीन होती हैं।

१. मनोगुप्ति, २ वचनगुप्ति, ३. कायगुप्ति।

(देखो पाठ १४ आचार्य परमेष्ठी)

(झ) दश धर्म—(१) उत्तम क्षमा (२) उत्तम मार्दव (३) उत्तम आर्जव (४) उत्तम सत्य (५) उत्तम शौच (६) उत्तम संयम (७) उत्तम तप (८) उत्तम त्याग (९) उत्तम आकिंचन्य और (१०) उत्तम ब्रह्मचर्य यह दश धर्म हैं।

(देखो पाठ ११ आचार्य परमेष्ठी)

(ट) अनुप्रेक्षा—बारम्बार विचार करने को अनुप्रेक्षा या भावना कहते हैं। ये भावनायें बारह होती हैं। इन्हें ही बारह भावना कहा करते हैं।

१. अनित्य, २. अशरण, ३. संसार, ४. एकत्व, ५. अन्यत्व, ६. अशुचि, ७. आस्रव, ८. संवर, ९. निर्जरा, १०. लोक, ११. बोधि दुर्लभ, १२. धर्म।

१. अनित्य भावना—ऐसा विचार करना कि धन-धान्यादि जगत् की सब वस्तुएँ विनाशीक हैं इनमे से कोई भी नित्य नहीं हैं।

२. अशरण भावना—ऐसा विचार करना कि जगत् में जीव का कोई शरण नहीं है। कोई किसी को मरने से बचाने वाला नहीं है।

३. संसार भावना—ऐसा चिन्तवन करना कि यह संसार असार है और संसार में कहीं भी सुख नहीं है।

४. एकत्व भावना—ऐसा विचार करना कि यह सदा अकेला ही है, अपने कर्मों के फल को अकेला आप ही भोगता है।

५. अन्यत्व भावना—ऐसा विचार करना कि शरीर जुदा है और मैं जुदा हूँ। जब यह शरीर ही अपना नहीं

है तो फिर संसार का कोई भी पदार्थ मेरा अपना कैसे हो सकता है?

६. अशुचि भावना—ऐसा विचारना कि यह शरीर अत्यन्त अपवित्र और घिनावना है। इसलिए यह ममत्व करने योग्य नहीं है।

७. आस्रव भावना—यह विचारना कि आस्रव से यह जीव संसार में रुलता है, इसलिए जो आस्रव के कारण हैं उनका विचार करके उनसे बचने का ही उपाय करना चाहिए।

८. संवर भावना—ऐसा विचार करना कि संवर से ही अर्थात् आस्रव के रोकने से ही यह जीव ससार से पार हो सकता है और इसलिए संवर के कारणों का विचार करके उनको ग्रहण करना चाहिये।

९. निर्जरा भावना—ऐसा विचार करना कि कर्मों का कुछ झड़ जाना या एक देश क्षय होना, दूर होना निर्जरा है इसलिए निर्जरा के कारणों को जान कर जिस-तिस प्रकार बन्धे हुए कर्मों को दूर करना चाहिये।

१०. लोक भावना—ऊर्द्धलोक, मध्यलोक, पाताललोक इन तीन लोकों के स्वरूप का चिन्तवन करना कि

लोक कितना बड़ा है, उसमें क्या-क्या स्थान है और किस-किस स्थान मे क्या २ रचना है, और वहाँ क्या क्या होता है ऐसा विचार करना लोक भावना है। इस भावना से संसार परिभ्रमण को दशा मालूम होती है और संसार से छूटने और मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा होती है।

११. बोधि दुर्लभ भावना—ऐसा विचार करना कि यह मनुष्य देह बड़ी कठिनाई से प्राप्त होती है। ऐसे अमोलक मनुष्य जन्म को पाकर वृथा ही नहीं खोना चाहिए, किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म को पालन कर अपना जन्म सफल करना चाहिए।

१२. धर्म भावना—धर्म के स्वरूप का चिन्तवन करना तथा धर्म ही इस लोक और परलोक के सुखों को देने वाला है और धर्म ही दुःख से छुड़ाकर मोक्ष के श्रेष्ठ सुख का देने वाला है। ऐसा विचार करना धर्म भावना है।

(ठ) परीषहजय—मुनि महाराज कर्मों की निर्जरा और काय क्लेश करने के लिए जो परीषह अर्थात् पीड़ा समता भावों से स्वयं सहन करते हैं। उनको परीषहजय कहते हैं परीषह बाईस हैं।

(१) क्षुधा (२) तृषा (३) शीत (४) उष्ण (५) दंश मशक (६) नग्न (७) अरति (८) स्त्री (९) चर्या (१०) आसन (११) शय्या (१२) आक्रोश (१३) वध (१४) याचना (१५) अलाभ (१६) रोग (१७) तृणस्पर्श (१८) मल (१९) सत्कार पुरस्कार (२०) प्रज्ञा (२१) अज्ञान (२२) अदर्शन।

१. क्षुधा परीषहजय—भूख-प्यास की तीव्र वेदना होने पर उसके वश न होकर दुःख सह लेने को कहते हैं।

२. तृषा परीषहजय—प्यास की तीव्र वेदना होने पर उसके वश न होकर दुःख सह लेने को कहते हैं।

३. शीत परीषहजय—शीत अर्थात् जाड़े के कष्ट को सहन करने को कहते हैं।

४. उष्णपरीषहजय—उष्णता अर्थात् गर्मी के सन्ताप सहने को कहते हैं।

५. दंशमशक परीषहजय—डांस, मच्छर, बिच्छू, कानखजूरे आदि जीवों के काटने की वेदना को सहन करने को कहते हैं।

६. नग्न परीषहजय—किसी प्रकार के भी वस्त्र न धारण कर नग्न रहने की और लज्जा, ग्लानि तथा किसी प्रकार के भी विकारो को न होने देने को कहते हैं।

७. अरति परीषहजय—संसार के इष्ट अनिष्ट पदार्थों में राग द्वेष न कर समता भाव धारण करने को कहते हैं।

८. स्त्री परीषहजय—ब्रह्मचर्य व्रत भंग करने के लिये स्त्रियों द्वारा अनेक उपद्रव किये जाने पर भी दिल में किसी प्रकार का विकार भाव नहीं करने को कहते हैं।

९. चर्या परीषहजय—किसी प्रकार की सवारी की इच्छा न करके मार्ग के कष्ट को न गिन कर भूमि शोधन करते हुए गमन करने को कहते हैं।

१०. आसन परीषहजय—देर तक एक ही आसन से बैठे रहने का दुःख सहन करने को कहते हैं।

११. शय्या परीषहजय—कंकरीली, पथरीली, कांटों से भरी हुई भूमि में शयन करके दुःखी न होने को कहते हैं।

१२. आक्रोश परीषहजय—दुष्ट मनुष्यों द्वारा कुवचन कहे जाने पर तथा गालियाँ दिये जाने पर भी किंचित्मात्र भी क्रोधित न होकर उत्तम क्षमा धारण करने को कहते हैं।

१३. वध परीषहजय—दुष्ट मनुष्यों द्वारा वध बन्धनादि दुःख दिये जाने पर समता भाव धारण करने को कहते हैं।

१४. याचना परीषहजय—किसी से भी किसी प्रकार की भी याचना न करने (माँगने) को कहते हैं। मुनिराज भूख, प्यास लगने अथवा रोग हो जाने पर भी भोजन औषधादि नहीं माँगते।

१५. अलाभ परीषहजय—अनेक उपवासों के बाद नगर में भोजन के लिये जाने पर भी निर्दोष आहार वगैरह न मिलने पर भी क्लेशित न होने को कहते हैं।

१६. रोग परीषहजय—शरीर मे अनेक रोग हो जाने पर समता भाव के साथ पीड़ा को सहन करते हुए अपने आप रोग दूर करने का उपाय न करने को कहते हैं।

१७. तृणस्पर्श परीषहजय—शरीर में शूल, काँटा, कंकर, फाँस आदि चुभ जाने पर भी दुःखी न होने और उनके निकालने का उपाय न करने को कहते हैं।

१८. मल परीषहजय—शरीर में पसीना आ जाने अथवा धूल मिट्टी लग जाने के कारण शरीर के महा-मलीन हो जाने पर स्नान आदि न करके चित्त निर्मल रखने को कहते हैं।

१६. सत्कार पुरस्कार परीषहजय—किसी के आदर सत्कार अथवा विनय प्रणाम वगैरह न करने पर तथा तिरस्कार किये जाने पर हर्ष विषाद न करके समता भाव धारण करने को कहते हैं।

२०. प्रज्ञा परीषहजय—अधिक विद्वान् अथवा चारित्र वान हो जाने पर भी किसी प्रकार के मान न रखने को कहते हैं।

२१. अज्ञान परीषहजय—बहुत दिनों तक तपश्चरण करने पर भी अवधिज्ञान आदि न होने से अपने आप खेद न करने को और ऐसी दशा मे दूसरों से "अज्ञानी" "मूढ़" आदि मर्म-भेदी वचन सुनकर दुखित न होने को कहते हैं।

२२. अदर्शन परीषहजय—बहुत दिनों तक अधिक तपश्चरण करने पर भी किसी प्रकार के फल की प्राप्ति न होने से सम्यग्दर्शन को दूषित न करने को कहते हैं।

(ड) चारित्र—आत्मस्वरूप में स्थित होना चारित्र है। इसके पाँच भेद हैं—सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापना चारित्र, परिहार विशुद्धि चारित्र, सूक्ष्मसांपराय चारित्र, यथाख्यात चारित्र।

६. **निर्जरा तत्त्व**—आत्मा के साथ बंधे हुए कर्मों का थोड़ा २ करके आत्मा से जुदा होना निर्जरा है। जैसे नाव में छिद्र के द्वारा आकर जो पानी भर गया था, उसको थोड़ा २ करके बाहर निकाल दिया जावे वैसे ही आत्मा के साथ बँधे हुए कर्मों को धीरे धीरे तपश्चरण द्वारा आत्मा से जुदा कर दिया जाता है। आत्मा के जिस परिणाम से पुद्गल कर्म फल देकर नष्ट हो जाते हैं, वह भाव **निर्जरा** है। समय पाकर या तपश्चरण द्वारा कर्म-रूप पुद्गल का आत्मा से झड़ना द्रव्य **निर्जरा** है।

फल देकर अपने समय पर कर्मका आत्मा से जुदा होना **सविपाक निर्जरा** है।

७. **मोक्ष तत्त्व**—सब कर्मों का नष्ट होकर आत्मा के शुद्ध होने का नाम मोक्ष है।

जैसे नाव के अन्दर भरा हुआ सब पानी बिल्कुल निकाल कर नाव को साफ कर दिया जाता है, वैसे ही सब कर्मों के सर्वथा रहित होने पर आत्मा शुद्ध परमात्मा स्वरूप होता है। आत्मा का शुद्ध परिणाम जो सर्व पुद्गल कर्मों के नाश का कारण होता है वह **भाव मोक्ष** है। आत्मा से सर्वथा द्रव्य कर्मों का जो दूर होना है वह द्रव्य **मोक्ष** है।

पदार्थ

इन ही ऊपर बताये हुए सात तत्वों में पुण्य और पाप मिलाने से ही नौ पदार्थ कहलाते हैं।

पुण्य—उसे कहते हैं जिसके उदय से जीवों को सुख देने वाली सामग्री मिले। जैसे किसी को व्यापार में खूब लाभ होना, घर में सुपुत्र का होना, उच्च पद का प्राप्त होना ये सब पुण्य के उदय से होते हैं।

परोपकार करना, दान देना, भगवान का पूजन करना, ज्ञान का प्रचार करना, धर्म का पालन करना आदि शुभ कार्यों से पुण्य का बन्ध होता है।

पाप—जिसके उदय से जीवों को दुख देने वाली चीजें मिलें। जैसे रोगी हो जाना, पुत्र का मर जाना, धन चोरी चला जाना इत्यादि यह सब पाप के उदय से होते हैं।

हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, जुआ खेलना, दूसरों की निन्दा करना, दूसरों का बुरा चाहना आदि बुरे कार्यों से पाप का बन्ध होता है।

प्रश्नावली

१—तत्व किसे कहते हैं और कितने होते हैं? नाम बताओ।

२—(अ) प्राण कितने प्रकार के होते हैं ? बताओ मुक्त जीवों के कौन से प्राण होते है और संसारी जीव के कौन-कौन से प्राण होते हैं ?

(आ) नीचे लिखों मे से कितने और कौन से प्राण पाये जाते है ? स्त्री, देव, नारकी, कुर्सी, इंजन, चिड़िया, वृक्ष, चिंवटी, मक्खी, लड़का, लट ?

३—बताओ सातो तत्वों मे कौन-कौन से तत्व ग्रहण करने के योग्य और कौन से तत्व दूर करने के योग्य हैं ? मोक्ष, संवर निर्जरा, आस्रव, इन तत्व को क्रम वार लिखो और इनका स्वरूप दृष्टान्त सहित समझाओ ?

४—संक्षिप्ततया बताओ कि तीसरे तत्व के कितने और कौन से मुख्य कारण हैं ? मिथ्यात्व और अविरति के लक्षण लिखकर ५ योगों के नाम लिखो ?

५—बन्ध किसे कहते है ? और यह कितने प्रकार के हैं ? बन्ध और आस्रव मे क्या भेद है ?

६—संवर तत्व के मुख्य कारणों को लिखो। अनुप्रेक्षा या भावना मे क्या भेद हैं ? निम्नलिखित के लक्षण लिखो—अन्यत्व भावना, निर्जरा भावना, ससार भावना, लोक भावना, धर्म भावना।

७—चारित्र किसे कहते है ? ये कितने होते है ? नाम लिखो।

८—पदार्थ कितने व कौन-कौन से होते है ? कौन-कौन से काय करने से पुण्य और किन से पाप का बन्ध होता है ?

९—(क) परीषह किसे कहते हैं ? परीषह कितनी है और उनको कौन सहन करते हैं और क्यों ?

(ख) नीचे लिखी परीषहों का स्वरूप बताओः—
आक्रोश परीषह, याचना परीषह, अलाभ परीषह, सत्कार तिरस्कार परीषह, चर्या परीषह।

१०—(क) नीचे लिखे साधुओं ने कौनसी परीषह सही ?
ऋषभदेव स्वामी को आहार के लिये जाने पर भी आहार न मिला, छह महीने तक बराबर अन्तराय रहा।

(ख) आनन्द स्वामी जब वन में ध्यानारूढ़ खड़े थे तो सिंह ने उनके शरीर को विदारा।

(ग) राजा श्रेणिक ने यशोधर स्वामी के गले में मरा हुआ साँप डाल दिया, उसमें चिवटियाँ उनके शरीर पर चढ़ गईं और उन्हें बड़ा कष्ट दिया।

(घ) श्री मानतुङ्गाचार्य को राजा भोज ने जेल मे डलवा दिया ?

(ङ) सन्तकुमार मुनि को कुष्ट हो गया, बड़ी पीड़ा हुई—वैद्य मिलने पर भी उन्होने इलाज की इच्छा प्रकट नही की।

(च) सूर्यमित्र मुनि वायुभूति को सम्बोधन के लिये उसके घर गये। वायुभूति ने उनको बहुत कुछ बुरा भला कहा—उन्होंने सर्व शान्ति से सहन कर लिया।

(छ) एक मुनि कड़ी धूप मे खड़े हैं कई दिन से आहार नहीं लिया है, प्यास के मारे गला सूख रहा है, शरीर पर

पसीने के कारण रेत जम गया है आँख में कुनक गिर पड़ा है—कष्ट बिना खेद सहन कर रहे हैं ?

११—नीचे लिखे कामों से पुण्य होगा या पाप—छात्रों को छात्र-वृत्ति देने से, लगड़े लूले, अपाहिज आदमियों को रोटी खिलाने से, जुआरी तथा शराबी को रुपया पैसा दान देने से मैंढ़ा-तीतर लड़ाने, प्याऊ और सदाव्रत लगाने से, छोटी उम्र या बुढ़ापे में शादी करने-कराने से, विवाह-शादियों में व्यर्थ व्यय करने से, औषधालय तथा कन्या पाठशाला खुलवाने से, टूटे-फूटे मन्दिरों का जीर्णोद्धार करने से, चोरी करने से, शिकार खेलने से. बद-चलनी करने से, सिगरेट बीड़ी पीने से, लड़के-लड़कियों को बेचने से या काज करने से।

—❀—

पाठ १६

विद्यार्थी का कर्त्तव्य

प्यारे बालको ! इस पाठ में हम तुम्हें यह बतलाना चाहते हैं कि एक विद्यार्थी का क्या कर्त्तव्य है, वैसे तो कर्त्तव्य बहुत से होते हैं। परन्तु हम नीचे कुछ मोटे-मोटे कर्त्तव्यों की ओर तुम्हारा ध्यान दिलाना चाहते हैं, जिनका पालन करके तुम अपना जीवन सुधार सकते हो।

स्वास्थ्य

सदा नीरोग रहने का यत्न करो । अपने स्वास्थ्य-रक्षा की ओर अधिक ध्यान दो । यदि किसी का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, तो वह किसी काम का नहीं रहता है । स्वस्थ पुरुष का चित्त प्रसन्न रहता है, उसके शरीर में चुस्ती रहती है । स्वस्थ पुरुष का मन अपने आप काम करने को चाहता है । स्वास्थ्य का ब्रह्मचर्य, व्यायाम, खान-पान की शुद्धि से गहरा सम्बन्ध है ।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य एक प्रकार का तप है । विद्यार्थियों के लिए ब्रह्मचारी रहकर विद्या पढ़ना आवश्यक है । विद्यार्थी होते हुए अपने मन को कभी किसी विषय-वासना की ओर मत जाने दो । सत्य, सन्तोष, क्षमा, दया, प्रेम आदि गुण ब्रह्मचारियों के लिए बड़े ही सुलभ हो जाते हैं । ब्रह्मचर्य के लिए धन की, न समय की और न खास स्थान की ही आवश्यकता है । आवश्यकता है तो एक दृढ़ प्रतिज्ञा की । इसलिए जब तक विद्यार्थी हो ब्रह्मचर्य का नियम लो । उत्तम रीति से उसका पालन करो । फिर तुम कुछ दिनों मे इसके मीठे फल को भी चखोगे । मन में दृढ़ता रखकर बुरे विचार न आने दो । वीर्य का दुरुपयोग न करो, बुरी संगत से बचो । तुम्हारा आत्म-

बल बढ़ेगा। तुम देशोन्नति करने में समर्थ होगे। विद्वानों में तुम्हारा आदर होगा। तुम्हारे पास धन की कमी नहीं रहेगी। अपने धर्म को भली भांति पालन कर सकोगे।

व्यायाम

विद्यार्थियों को बड़ा मानसिक परिश्रम करना पड़ता है। वे यदि कोई व्यायाम न करें तो रात दिन बैठे बैठे उनके हाथ पाँव शिथिल हो जावेंगे। उनका शरीर अस्वस्थ हो जायेगा। व्यायाम करने से शरीर हृष्ट-पुष्ट और बलवान होता है। व्यायाम करने से पाचन शक्ति बढ़ती है, भूख अधिक लगती है। व्यायाम से शरीर में पसीना आता है और पसीने के साथ शरीर का मैल बाहर निकल जाता है। व्यायाम करने से मन तथा शरीर में एक प्रकार की फुर्ती और ताजगी आ जाती है, शरीर नीरोग रहता है। अपने शरीर के अनुसार जो व्यायाम योग्य जान पड़े उसी का अभ्यास करना उचित है। भागना, दौड़ना, कबड्डी खेलना, क्रिकेट, हाकी, फुटबाल आदि खेलों का खेलना लाभदायक है। सवेरे शाम खुले मैदान में सैर करना भी उपयोगी है। इसलिये नियत समय पर किसी न किसी प्रकार का व्यायाम करना विद्यार्थियों का कर्त्तव्य है।

खान-पान तथा रहन-सहन

अपने खान-पान की शुद्धि की ओर अधिक ध्यान दो, इससे शरीर स्वस्थ रहता है, सड़े-गले या अधपके पदार्थ कभी न खाओ। भूख से अधिक मत खाओ। सदा नियत समय पर भोजन करो। शुद्ध छना हुआ जल पीओ। मदिरा, तम्बाकू, बीड़ी आदि मादक पदार्थों का सेवन मत करो।

उदारता

अपने मन को सदा शान्त और प्रसन्न रखो। बुरे भावों को अपने मन में न आने दो। छल कपट से सदा दूर रहो। सरल परिणामी बनो। यदि कोई मनुष्य तुम्हारे साथ कोई उपकार करे तो उसे भूल न जाओ। सदा उदार चित्त बनो। सब के साथ अच्छा व्यवहार करो। किसी से द्वेष मत करो। संकुचित दृष्टि को छोड़ो। सहनशीलता सीखो। यदि किसी दूसरे का तुम से अपराध हो जावे तो उससे अपने अपराध की क्षमा कराओ। अपनी पुस्तक, दवात; कलम आदि चीजों को सदा नियत स्थान पर रक्खो, ऐसा करने से जरूरत पड़ने पर तुम्हारे

चीजें तुरन्त ही मिल जायेंगी, उनके ढूँढने में व्यर्थ ही समय न जाएगा।

विनय

सदा अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन करो। ऐसा करना तुम्हारा परम कर्त्तव्य है। सदा यही प्रयत्न करो कि वे तुम से प्रसन्न रहें। उन्होंने तुम्हारा पालन किया है तुम्हारे लिये बड़े कष्ट उठाये, जितना उनका आदर करो, थोड़ा है। माता-पिता के दूसरे स्थान पर विद्या गुरु हैं। वह ज्ञान देते हैं। भले बुरे को पहचानना सिखाते हैं। गुरु की आज्ञा मानना और उनका आदर करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। पाठशाला जाकर पहले गुरु जी को प्रणाम करो। फिर आदर से अपने स्थान पर बैठो। जो कुछ पूछो, विनय से पूछो और जो कुछ वह कहें ध्यान से सुनो और उसे याद रक्खो। जो विद्यार्थी तुम्हारे से ऊँची कक्षा में हैं, उनको विनय करो। जो नीची कक्षा में हैं उनसे प्रेम करो। अपने सहचारियों का भी यथायोग्य आदर करो। आपस में झगड़ा न करो, सब के साथ मेल रक्खो। खोटे लड़कों की संगति से बचो। तुम्हारे साथियों में जो निर्बल हों उनकी सहायता करो। अपने ऊपर भरोसा रक्खो। सब बड़ों को योग्यतानुसार प्रणाम करो।

मित्रता

अपने मित्र से प्रेम रक्खो। मित्र जीवन भर का साथी होता है। किसी को मित्र बनाने से पहले उसको खब परख कर लेनी चाहिए, नहीं तो फिर पीछे पछताना पड़ता है। यदि मित्र कपटी हो तो उससे सुख के बदले अनेक दुःख मिलते हैं।

समय

बालको! सदा समय की कदर करो। समय एक बहुमूल्य पदार्थ है। बहुत से लड़के अपने समय को आलस्य में खो देते हैं। बहुत से व्यर्थ की बातों में नष्ट कर डालते हैं, यह ठीक नहीं है। जो विद्यार्थी समय पर अपनी पढ़ाई-लिखाई वगैरह का काम नहीं करते है, उनको पीछे पछताना पड़ता है, परीक्षा के समय वे फेल हो जाते हैं इसलिए हर काम समय पर करो। एक समय विभाग बना लो। जिस काम के लिए जो समय रक्खो उसे उस समय में ही कर डालो। धर्म के समय में धर्म का पालन करो। पढ़ने के समय खूब पढ़ो। खेलने के समय खूब उत्साह के साथ खेलो। समय पर पाठशाला जाओ इत्यादि। आज का काम कल पर मत छोड़ो। ऐसा समय विभाग बनाओ कि पहले जरूरी २ कार्य

को करो। एक समय में एक ही काम करो। जिस काम को हाथ में लो उसे पूरा करके छोड़ो, अधूरा न रहने दो। रात्रि को सोते समय विचार लो कोई काम रह तो नहीं गया।

परिश्रम

जो काम तुम्हें करना हो परिश्रम के साथ करो। जो कुछ पढ़ो मन लगाकर पढ़ो। किसी बात को एक बार न समझ सको तो उसे दूसरी बार समझने का यत्न करो। पढ़ने में खूब परिश्रम करो। परिश्रम करने से मोटी बुद्धि वाले भी बड़े विद्वान् हो जाया करते हैं। यदि तुम्हें कोई कार्य कठिन मालूम हो तो उसे घबड़ा कर न छोड़ दो। साहस छोड़कर न बैठ जाओ। परिश्रम करके उस कार्य को पूरा करके छोड़ो। जो भी कार्य करो उसे उत्साह से करो। परिश्रमी और साहसी बालकों का हर समय मान होता है। जो अपने पैरों पर खड़ा रह कर शौर्यता के साथ साहस-पूर्वक कार्य करता है उसी की जय होती है और वही वीर कहलाता है।

आत्म-गौरव

सदा अपने देश, जाति, कुल तथा धर्म मर्यादा का पालन करते रहो। इनकी प्रतिष्ठा रखना ही आत्म-गौरव है। आत्म-गौरव रखने के लिए विद्या, क्षमा, परोपकार,

विनय-आदि गुणों की बड़ी आवश्यकता है। कभी भी कोई कार्य ऐसा न करो कि जिससे तुम्हारे धर्म पर दोष लगे। तुम्हारे देश, तुम्हारी जाति, तुम्हारे कुल तथा तुम्हारी पाठशाला की प्रतिष्ठा भंग हो। जहाँ तक तुम से बन सके उनकी सेवा करो, जिससे उनकी प्रतिष्ठा संसार में सदा उज्ज्वल बनी रहे।

"जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नर-पशु निरा है, और मृतक समान है॥

भावनाएँ

सदा अपने दिल मे यह भावना करो कि मेरी आत्मा में किसी समय भी खोटे भाव न हों। मेरे यह भाव रहें कि जगत के सब जीवों का भला हो, सब ही जीव मेरे समान हैं। गुणवानों को देखकर मेरे हृदय में ऐसी खुशी हो कि जैसे किसी रंक को चिन्तामणि रत्न के मिलने से प्राप्त होती है। मेरी यह अभिलाषा है कि दीन-दुखी जीवों पर मेरे हृदय मे दया उत्पन्न हो। उनको देखकर मेरा चित्त काँप उठे और मेरा यह दृढ़ विचार हो जावे कि जिस तरह भी बने उनके दुख दूर करने का प्रयत्न करूँ।

मेरी यह भावना है जो पाखण्डी तथा अधर्मी हैं, दुष्ट हैं, जो भलाई के बदले बुराई करते हैं, अथवा जो मेरा

आदर तथा सत्कार नहीं करते हैं, मैं उनसे राग करूं न द्वेष। प्यारे बालको! इस सब कथन का सारांश यह है कि सदा अपने मन और शरीर को पवित्र रक्खो। विषय-वासनाओं का त्याग करो। स्वार्थ-बुद्धि को हटाओ। तुम में जो दोष हैं, उन्हें दूर करने का संकल्प करो, तथा गुणों को बढ़ाने में प्रयत्नशील बनो। ऐसा करने से अवश्य ही तुम्हारा जीवन सुन्दर, उदार, सुखी और शान्त बन जावगा।

प्रश्नावली

१—विद्यार्थी किसे कहते है? विद्यार्थी के कौन २ से कर्त्तव्य हैं?

२—स्वास्थ्य किसे कहते हैं और इसको प्राप्त करने के लिये कौन-कौन सी बातों पर तुम ध्यान दोगे?

३—व्यायाम किसे कहते है? और व्यायाम करने से क्या लाभ है? बताओ ऐसे कौन से व्यायाम हैं जो लड़कियों के लिये उचित समझे जा सकते हैं?

४—विनय किसे कहते है? तुम अपने माता-पिता गुरु और सहपाठियों तथा अपने से नीची कक्षाओं के छात्रों के प्रति इस गुण का किस प्रकार पालन करोगे?

५—मित्रता करने से प्रथम क्या खयाल रखना चाहिये? समय का आदर क्यों करना चाहिये और अपना समय किस प्रकार व्यतीत करना चाहिये?

६—संसार में ऐसी कौनसी शक्ति है जिससे मनुष्य प्रत्येक कार्य में सफलता प्राप्त कर सकता है? 'आत्म-गौरव' का क्या अभिप्राय है? तुम्हें अपने दिल में कौनसी भावनायें लानी चाहिये।

पाठ १२

श्रावक की ग्यारह प्रतिमा

श्रावकों के आचरण के लिये ११ दर्जे होते हैं। उन्हें ग्यारह प्रतिमा कहते हैं। श्रावक ऊँचे २ चढ़ता हुआ पहली से दूसरी में, दूसरी से तीसरी मे और इसी तरह ग्यारहवीं प्रतिमा तक चढ़ता है, और उससे चढ़कर साधु या मुनि हो जाता है। अगली २ प्रतिमाओं में *पहले की प्रतिमाओं की क्रिया का पालन भी जरूरी है।*

(१) दर्शन प्रतिमा—निर्मल सम्यग्दर्शन सहित निरतिचार आठ मूलगुणों का पालन करना और सात व्यसनों का अतिचार सहित त्याग करना दर्शन प्रतिमा है।

इस प्रतिमा का धारी दार्शनिक श्रावक कहलाता है। वह जिनेन्द्रदेव, निर्ग्रन्थ गुरु और दयामय धर्म के सिवाय और किसी की मान्यता कभी नहीं करता। जिन धर्म में उसका दृढ़ विश्वास होता है। उसको किसी प्रकार की शंका तथा भय नहीं होता। वह धर्म का साधन करके विषय-सुखों की इच्छा नहीं करता। वह धर्मात्माओं तथा किसी भी दीन-दुखी मनुष्यों तथा पशुओं को रोगी और मलीन देखकर उनसे ग्लानि नहीं करता। मूढ़ता से देखा-देखी कोई अधर्मी क्रिया नहीं करता।

यदि किसी समय कोई धर्म से डिगता हो तो वह उसे सहायता देकर धर्म में दृढ़ करता है और यथाशक्ति उनका उपकार करता है तथा सच्चे ज्ञान का प्रकाश कर धर्म की प्रभावना करता है, धर्मात्माओं के साथ गऊ बच्छे की सी प्रीति करता है।

भूल कर भी अपनी जाति, कुल, धन, बल, रूप, अधिकार, विद्या और तप का गर्व नहीं करता। निरभिमानी और मन्द कषाय रहता है। वह कुगुरु, कुदेव की वन्दना नहीं करता तथा पीपल पूजना, कलम-दवात तथा रुपये पैसे को पूजना आदि लोक-मूढ़ता नहीं करता। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र व इनके भक्त-जनों की प्रशंसा तथा संगति इस प्रकार नहीं करता, जिससे उसके सम्यग्दर्शन में दोष लगे। इस प्रकार सब प्राणियों से प्रेम रखते हुए वह अपने श्रद्धान की रक्षा करता है।

(२) व्रत प्रतिमा—५ अणुव्रत-अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह परिमाण।

३ गुणव्रत—दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत। ४ शिक्षाव्रत—सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण, अतिथि संविभाग। इन बारह व्रतों का निरतिचार पालन करना व्रत प्रतिमा है। इस प्रतिमा का धारी व्रती श्रावक कहलाता है। यह अपने व्रतों में

कोई अतिचार नहीं लगाता ।

(३) सामायिक प्रतिमा—प्रति दिन सवेरे, दोपहर, शाम को छः घड़ी या कम से कम दो घड़ी तक निरतिचार सामायिक करना सामायिक प्रतिमा है ।

(४) प्रोषधप्रतिमा—प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को १६ पहर का अतिचार रहित उपवास करना, और आरम्भ परिग्रह को त्याग करके एकान्त मे बैठकर धर्म ध्यान करना प्रोषध प्रतिमा है । १६ पहर का प्रोषध उत्तम होता है । १२ पहर का मध्यम और ८ पहर का जघन्य प्रोषध कहलाता है ।

(५) सचित्तत्याग प्रतिमा—हरी वनस्पति अर्थात् कच्चे फल, फूल, बीज, पत्ते वगैरह को न खाना सचित्त त्याग प्रतिमा है । जिसमें जीव होते हैं, उसे सचित्त कहते हैं । इसलिए ऐसे पदार्थों का जिनमें जीव न हो खाना सचित्त त्याग प्रतिमा है । इस प्रतिमा का धारी कच्चे जल का भी त्याग करता है, परन्तु वह स्वयं सचित्त पदार्थों को अचित्त बनाकर ग्रहण करता है ।

(६) रात्रि भोजन त्य ग प्रतिमा—मन, वचन, काय से और कृत, कारित, अनुमोदना से रात्रि में हर प्रक.र के आहार का सर्वथा त्याग करना रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा

है। इस प्रतिमा का धारी सूरज छिपने के दो घड़ी पहले से सूरज निकलने के दो घड़ी पीछे तक आहार पानी का सर्वथा त्याग करता है।

(७) ब्रह्मचर्य प्रतिमा—मन, वचन, काय से स्त्री-मात्र का त्याग करना तथा निरतिचार ब्रह्मचर्य पालन करना ब्रह्मचर्य प्रतिमा है।

(८) आरम्भत्याग प्रतिमा—मन, वचन, काय से और कृत, कारित, अनुमोदना से गृह कार्य सम्बन्धी सर्व प्रकार की क्रियाओं का त्याग करना आरम्भ त्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमा का धारी पूजनार्थ स्नान, पूजा व दान कर सकता है।

(९) परिग्रह त्याग प्रतिमा—धन, धान्यादि दस प्रकार के वाह्य परिग्रह को त्याग कर सन्तोष धारण करना परिग्रह त्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमा का धारी अपने लिए कुछ आवश्यक वस्तु रख लेता है। रुपया पैसा पास नहीं रखता। घर का त्याग कर धर्मशाला में रहता है।

(१०) अनुमतित्याग प्रतिमा—गृहस्थाश्रम के किसी भी सांसारिक कार्य का अनुमोदना नहीं करना अर्थात् सलाह नहीं देना अनुमति त्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमा

का धारी भोजन के समय जो कोई भी उसे भोजन के लिए बुलावे उसके यहाँ शुद्ध भोजन कर आता है, परन्तु यह नहीं कहता कि "मेरे लिए अमुक भोजन बना दो।"

(११) उद्दिष्टत्याग प्रतिमा—वन में या मठ में तपश्चरण करते हुए रहना, खंड वस्त्र धारण करना और भिक्षा वृत्ति से योग्य आहार लेना उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमा का धारी अपने निमित्त बनाये हुए भोजन को ग्रहण नहीं करता है। इस प्रतिमा के दो भेद हैं:—

क्षुल्लक और ऐलक

१. **क्षुल्लक**—उचित समय पर अपनी दाढ़ी आदि के केश उस्तरे व कैंची से कतरवाते हैं, लंगोटी और उसके साथ एक ओछी चादर तथा कमडलु और पीछी रखते हैं। ये गृहस्थ के यहाँ बैठकर किसी पात्र में भोजन करते हैं।

२. **ऐलक**—यह केशों का लोंच करते हैं, और केवल लंगोटी धारण करते हैं तथा कमंडलु पीछी रखते हैं। गृहस्थ के यहाँ बैठकर अपने हाथ में ही भोजन करते हैं।

प्रश्नावली

१—प्रतिमा किसे कहते हैं और इसके कितने भेद हैं? नाम बताओ। पहली प्रतिमा के धारी के लिए क्या २ करना और क्या २ न करना जरूरी है?

२—जब दूसरी प्रतिमा में सामायिक व्रत और प्रोषधोपवास व्रत धारण कर लिये जाते हैं तो फिर सामायिक प्रतिमा और प्रोषध प्रतिमा जुदा २ कर क्यों रक्खीं ?

३—प्रतिमा का पालन कौन करते हैं ? एक मनुष्य सचित्त त्याग प्रतिमा का धारी है तो बताओ वह और कौन २ सी प्रतिमाओं का पालन करता है ?

४—सचित्त किसे कहते हैं ? पाँचवीं प्रतिमा का स्वरूप क्या है ? इस प्रतिमा का धारी कच्चा जल पीता है या नहीं ? उत्तर कारण सहित लिखो।

५—छठी प्रतिमा में रात्रि भोजन का निषेध किया गया है, उससे पहली २ प्रतिमाओं का धारी रात्रि को भोजन कर सकता है या नहीं ? यदि नहीं तो फिर इस प्रतिमा में क्या विशेषता है ?

६—बताओ ब्रह्मचारी कौन सी प्रतिमा के धारी है ? और उनके क्या २ नियम है ?

७—आठवीं प्रतिमा का धारी क्या २ काम कर सकता है और क्या नहीं ?

८—नवीं प्रतिमा के धारी का क्या कर्त्तव्य है इस प्रतिमा के धारी घर में रह सकते हैं या नहीं और क्यों ?

९—दशवी प्रतिमा का धारी धार्मिक कार्यों में अपनी अनुमति देगा या नहीं ?

१०—(क) उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा किसे कहते हैं। इस प्रतिमा के लिए भोजन का क्या नियम है ?

(ख) इस प्रतिमा के कितने भेद हैं ? और उनमें क्या अन्तर है ?

पाठ २१

नीति के दोहे

(पं० द्यानतराय जी)

नर को शोभा रूप है, रूप शोभा गुणवान।
गुण की शोभा ज्ञानतैं, ज्ञान छिमातैं जान ॥१॥

चेतन तुम तो चतुर हो, कहा भये मति हीन।
ऐसा नर-भव पाय के, विषयन में चित दीन ॥२॥

निशि का दीपक चन्द्रमा, दिन का दीपक भान।
कुल का दीपक पुत्र है, तिहुँ जग दीपक ज्ञान ॥३॥

घर की शोभा धन महा, धन की शोभा दान।
शोभे दान विवेक सों, छिमा विवेक प्रधान ॥४॥

कला बहत्तर पुरुष की, तामें दो सरदार।
एक जीव की जीविका, दूजे जीव उद्धार ॥५॥

क्रोध समान न शत्रु है, क्षमा समान न मित्र।
निन्दा समान न गिलान है, प्रभु के सम न पवित्र ॥६

रूखा भोजन करज सिर, और कलहिनी नार।
चौथे मैले कापड़े, नरक निशानी चार ॥७॥

उद्यम बिन अरु मांगना, बेटी चलना चार।
सब दुख जिनके मिट गये, तेई सुखी निहार ॥८॥

दाना दुश्मन हू भला, जो पीतम सम्बन्ध ।
बड़े भाग्य ते पाइये, सोना और सुगन्ध ॥९॥

धन जोरे ते ऊँच नहिं, ऊँच दान तें होत ।
सागर नीचे ही रहै, ऊपर मेघ उदोत ॥१०॥

प्रश्नावली

१—'नीति के दोहों' से क्या अभिप्राय है ? और इन दोहों के बनाने वाले कौन थे ?

२—तीनों लोकों में प्रकाश करने वाली कौनसी वस्तु है ? मनुष्य के लिए कितनी कलायें होती हैं और उनमें मुख्य कौन सी होती हैं ?

३—इस संसार में सबसे अधिक शत्रु और मित्र कौन हैं ?

४—संसार में मनुष्य किस प्रकार ऊँचा बन सकता है ?

५—नीति के दोहों में से अपनी पसन्द के ५ दोहे मुखाग्र सुनाओ।

पाठ २२

वीर विमलशाह

वीर विमलशाह पाटन के वीर मन्त्री के पुत्र थे। पिता के दीक्षा लेने पर विमलशाह की माता वीरमती अपने पुत्र को लेकर पिता के घर चली गई। उसके भाई की स्थिति ठीक न थी। विमलशाह अपने मामा के

साथ खेती करता था। वह बहुत पराक्रमी था। उसने बाण विद्या में अच्छी निपुणता प्राप्त करली थी। उनका नैपुण्य और पराक्रम देखकर श्रीदत्त सेठ ने अपनी पुत्री के साथ उनका विवाह कर दिया। विवाह के पश्चात् वीरमती और विमलशाह पुनः पाटन में रहने लगे।

एक बार पाटन में राजा की ओर से वीरोत्सव हो रहा था। विमल ने वहाँ बाण-विद्या के अनेक अद्भुत पराक्रम दिखलाये, तब भीमदेव राजा ने प्रसन्न होकर विमलशाह को दण्डनायक बनाया।

विमलशाह एक सफल सेनापति हुआ। उसने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त करके कीर्ति बढ़ाई थी। यह देखकर राज्याधिकारी बड़े कुढ़ने लगे और उसे मारने के अनेक प्रयत्न किये। विमलशाह के विरुद्ध राजा के भी कान भर दिये गये। एक बार एक सिंह छोड़कर विमलशाह से पकड़ने को कहा गया। विमलशाह ने बड़ी ही वीरता से सिंह को पकड़ कर पिंजरे में बन्द कर दिया।

एक बार मल्लयुद्ध में भी विमलशाह विजयी हुए। तब मन्त्री तथा अधिकारियों ने कहा कि विमलशाह के बाप दादा ने राज्य का ऋण लिया था वह अभी तक अदा नहीं हुआ है। [illegible]

राज्य सभा में से चले गये और चुनौती दी कि राज्य से जो हो सके कर लेवे ।

एक बार चन्द्रावति के उद्धत राजा धंधुक पर भीमदेव को विजय प्राप्त करने की सूझी, परन्तु इसके लिए विमलशाह के सिवाय अन्य कोई वीर दिखाई नहीं दिया, तब राजा भीमदेव ने पुनः विमलशाह को मान-पूर्वक बुलाया और राजा धंधुक के साथ युद्ध करने को कहा ।

वीर विमलशाह ने देशभक्ति से प्रेरित होकर यह कार्य अपने हाथ में लिया और धंधुक पर चढ़ाई कर दी । धंधुक अपने प्राण बचाकर भागा । विमलशाह ने भीमदेव की जय घोषणा की और स्वामी-भक्ति का प्रदर्शन करते हुए सोलंकी राज्य का झण्डा फहरा दिया । उसके पश्चात् विमलशाह चन्द्रावति में ही रहने लगे, और नगर की बहुत सुन्दर रचना की ।

इसके पश्चात् इसी रणवीर ने आबू पर्वत पर अठारह करोड़ तीस लाख रुपया खर्च करके जैन मन्दिर बनवाये जो आज विमलशाह की विमल कीर्ति का स्मरण दिला रहे हैं और जैन समाज का गौरव और यश संसार भर में उज्ज्वल कर रहे हैं ।

इस प्रकार विमलशाह वीर होने के साथ एक बड़े ही महान् धर्मात्मा भी थे। वे सिंह जैसे पराक्रमी और बलवान थे, परन्तु उनमें सिंह जैसी क्रूरता नहीं थी।

प्यारे बालको! तुम भी वीर विमलशाह की भाँति अपने पूर्ण बल और पौरुष को बढ़ाओ और अद्भुत लौकिक तथा पारमार्थिक कामों को करने के लिए अपने को वीर, साहसी बनाओ।

प्रश्नावली

१—वीर विमलशाह कौन थे?

२—उनकी वीरता और पराक्रम के कारनामे सुनाओ?

पाठ २३

वीराङ्गना

सीता, सावित्री, दमयन्ती,
मैना सुन्दरी, द्रौपदि, कुन्ती।
यह सब धर्म-प्राण महिलायें,
जन्मी भारत में गुणवन्ती,।
दुर्गा जीजी लक्ष्मीबाई,
रण मे शस्त्र कला दर्शाई।

अपने बल कौशल के द्वारा,
दुश्मन की छाती दहलाई ॥

तुम हो वीराङ्गिनी सन्तानें,
आगे बढ़ना सीना तानें ॥

तुम में भी वह शौर्य भरा हो,
विश्व तुम्हारा लोहा मानें ॥

उन्नत पथ पर बढ़ते जाना,
संकट से न कभी घबराना ॥

सहनशीलता तथा धैर्य का,
जग में जय झण्डा फहराना ॥

प्रश्नावली

१—सीता, सावित्री, दमयन्ती, मैनासुन्दरी, द्रौपदी तथा कुन्ती के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ?

२—दुर्गा, जीजी और लक्ष्मी बाई कौन थी ? उन्होंने किस युद्ध में क्या २ शस्त्र कला दिखलाई ?

३—इस कविता से तुम्हें क्या शिक्षा मिलती है ?

द्रव्य-संग्रह

टीकाकार—

भुवनेन्द्र "विश्व"

सरल-जैन-ग्रन्थमाला का प्रथम कुसुम।

द्रव्य-संग्रह

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ति-विरचित

टीकाकार—

भुवनेन्द्र "विश्व"

वुढ़वार (ललितपुर) निवासी

प्रकाशक—

सरल-जैनग्रन्थमाला

जवाहरगंज, जबलपुर (सी पी.)

श्रुत-पञ्चमी	प्रथमावृत्ति	जिल्द वाली ।=)
वीर सं० २४६४	सन १९३८	बिना जिल्द ।-)

मुद्रक—सुन्दरलाल इंदुरख्या एम ए, विशारद,

श्री नर्मदा प्रिंटिंग वर्क्स ओमतीपुर जबलपुर।

समर्पण ।

सेवा में,

श्रीमान् पण्डित फूलचन्द्र जी शास्त्री,

अध्यापक, दिगम्बर जैन पाठशाला

मु० डेह, पो० नागौर (मारवाड़)

आपकी असीम कृपा से आज इस माला का प्रथम कुसुम आप के चरण कमलों में सादर समर्पण करने में समर्थ हो सका हूं। आशा है कि आप इस तुच्छ भेंट को स्वीकार करने की कृपा करेंगे।

भवदीय—

अनुज

भुवनेन्द्र "विश्व"

दो शब्द

आज कल आवश्यकता है कि जैन धर्म की पाठ्य पुस्तकें अधिक से अधिक सरल ढंग में प्रकाशित की जावें।

द्रव्यसंग्रह, जिसमें जैनधर्म का मर्म बहुत सरलता से सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य ने बहुत थोड़े शब्दों में भर दिया है, के अनेक विद्वानों द्वारा लिखाकर अनेक प्रकाशकों ने भिन्न २ संस्करण निकाले हैं। इतने पर भी इसको आधुनिक पद्धति से सरल एवं सुपाठ्य बनाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसमें कितनी सफलता मिली है, यह आप सहज ही समझ सकते हैं।

इसका संशोधन समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीमान् पं० दयाचन्द्जी न्यायतीर्थ, सिद्धान्तशास्त्री, प्रधानाध्यापक जैन विद्यालय, सागर और समयसार आदि अनेक ग्रन्थों के प्रख्यात टीकाकार तथा सम्पादक ब्र० शीतलप्रसादजी ने बहुत परिश्रम पूर्वक किया है। प्राकृतगाथाओं का संशोधन श्रीमान् ए० एन. उपाध्ये, प्रोफेसर राजाराम कॉलेज, कोल्हापुर—(शाहापुरी) ने करने की कृपा की है तथा "अर्थसंग्रह" में आये शब्दों की परिभाषायें, श्रीमान् पं० माणिकचंद्रजी न्यायतीर्थ, धर्माध्यापक जैन विद्यालय, सागर ने की है।

आचार्य का जीवनचरित्र, "मा० ग्रन्थमाला" के मंत्री विद्वद्वर पं० नाथूरामजी "प्रेमी" के संकेतानुसार लिखा गया है।

इसके अतिरिक्त पुस्तक को आधुनिक पद्धति से तैयार करने के लिये बा० उग्रसेनजी सेक्रेटरी अ० भा० दि जैन

परिषद् परीक्षा बोर्ड, बड़ौत (मेरठ) ने अनेक पत्रों द्वारा अनेक सम्मतियाँ प्रदान की हैं।

उपर्युक्त श्रीमानों के सहयोग के विना इस पुस्तक का इतना अच्छा संस्करण निकलना कठिन था। इसलिये उक्त सज्जनों का आभार स्वीकार किये विना नहीं रह सकता। इतने पर भी जो त्रुटियाँ रह गई हैं, वे मेरी ही हैं।

उसके लिये आप से क्षमा चाहता हुआ आशा करता हूँ कि मुझे त्रुटियाँ सुझाने की कृपा कीजिये ताकि अग्रिम संस्करण अधिक उपयोगी बन सके।

अक्षयतृतीया	विनीत—
वीर सं० २४६४	भुवनेन्द्र "विश्व" जबलपुर।

विषय सूची ।

			पृष्ठ
१. छह द्रव्यों का वर्णन	...	...	१
२. नौ पदार्थों का वर्णन	...	...	३३
३. मोक्षमार्ग का वर्णन	..	..	४६
४. ग्रन्थ का सारांश ..	..	.	६३
५. अर्थ संग्रह ...	...	..	६७
६. भेद संग्रह ...	...	..	७६
७. प्रश्नपत्र संग्रह ...	...	...	८०

ग्रन्थकर्त्ता का जीवनचरित्र — ग्रन्थ के आरम्भ में

छहों द्रव्यो का चित्र — " " " "

चार्ट व विवरण ।

				पृष्ठ
प्राण विवरण	...	...	...	४
उपयोग	...	..	..	७
पुद्गल के गुण	...	...	...	६
पर्याप्ति विवरण	...	...	...	१५
जीवसमास	...	...	...	१६
द्रव्य ...	...	...	..	२८
भावास्रव	...	...	...	३५
भावसंवर	...	...	...	४१
"ओम्" शब्द सिद्धि...		...	...	५५

शुद्धिपत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
३. त्रिकाले	त्रिकाले	३	८
मनःपर्य्यय	मनःपर्य्यय	७	चार्ट
असंख्यदेशः	असंख्यदेशः वा	११	१२
आकाश अवकाश	आकाश अवकाश	२३	२३
अत्थिकायाहु	अत्थिकाया हु	२७	३
सव्वराहु	सव्वराहू	३०	१८
समाप्त	समाप्तः	३१	२५
भणियंजं	भणियं जं	६	१८
समुद्दात	समुद्घात	८०	३
वंदक	वंदना	८०	४
द्वितीय से	द्वीन्द्रिय से	१४	३
काय से कर्म	काय से कर्म और नोकर्म	३६	१७
का जंपह	मा जंपह	६०	७
व्यवहारनय	निश्चयनय	६४	५
निश्चयनय	व्यवहारनय	६४	८

	सासादन = सम्यक्त्व छोड़कर मिथ्यात्व की तरफ जाना	१८	१

॥ श्री ॥

सिद्धान्त-चक्रवर्ति नेमिचन्द्र आचार्य का

संक्षिप्त जीवनचरित्र।

हमारे चरित्र नायक दिगम्बर सम्प्रदाय के नन्दिसंघ के देशीयगण में हुये हैं। यह गण कर्नाटक में प्रसिद्ध हुवा है और इसमें बड़े २ विद्वान् हो चुके हैं। इस गण के अनेक विद्वान् "सिद्धान्त-चक्रवर्ती" के पद से सुशोभित हुये तथा नेमिचन्द्र को भी यह महान् पद प्राप्त हुवा।

गुणनन्दि के शिष्य विबुधगुणनन्दि, विबुधगुणनन्दि के अभयनन्दि और उनके वीरनन्दि। अभयनन्दि के शिष्य वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि थे। आचार्य, वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि को भी गुरु समान मानते थे। नेमिचंद्र, अभयनन्दि के शिष्य थे। अभयनन्दि, इन्द्रनन्दि, वीरनन्दि, कनकनन्दि और नेमिचन्द्र ये सब प्रायः एकही समय में हुये हैं।

इनका समय शक संवत् की दसवीं शताब्दि का प्रारम्भ सिद्ध होता है। नेमिचन्द्र और चामुण्डराय भी समकालीन थे।

'चामुण्डराय' गंगवंशीय राजा राचमल्ल के प्रधान मन्त्री और सेनापति थे।

श्रवणबेलगोल की संसारप्रसिद्ध बाहुबलि या गोम्मट-स्वामी की प्रतिमा इन्होंने ही प्रतिष्ठित कराई थी और इसी उदारता और धर्म्मानुराग से प्रसन्न होकर राजा 'राचमल्ल' ने इन्हें 'राय" का पद प्रदान किया था। इनका दूसरा नाम "अण्ण" भी था। ये बड़े शूरवीर और पराक्रमी थे। इन्होंने गोविन्दराज आदि अनेक राजाओं को परास्त किया था इस लिये इन्हें समरधुरन्धर, वीरमार्तण्ड, रणरंगसिंह, प्रतिपक्षराक्षस आदि अनेक उपनाम प्राप्त थे। ये जैनधर्म के बड़े श्रद्धालु और विद्वान् थे। इसी कारण आप सम्यक्त्वरत्नाकर और गुणरत्न-

भूषण आदि पदों से विभूषित हुये। चामुण्डराय को आचार्य नेमिचन्द्र से बहुत धार्मिक ज्ञान का लाभ हुवा है। चामुण्डराय के बनाये हुये, चामुण्डराय पुराण, गोम्मटसार की कर्नाटकवृत्ति और चारित्रसार प्रसिद्ध हैं।

आचार्य नेमिचन्द्र के बनाये हुये गोम्मटसार, लब्धिसार और त्रिलोकसार ये तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

त्रिलोकसार आदि के ग्रन्थकर्त्ता नेमिचन्द्र ही इस "द्रव्यसंग्रह" के कर्त्ता मालूम होते हैं। क्योंकि त्रिलोकसार के अन्त में—

इदि णेमिचंदमुणिणा अप्पसुदेणभयणंदिवच्छेण।
रइयो तिलोयसारो खमंतु तं बहुसुदाइरिया॥

अर्थात् अभयनन्दि के शिष्य अल्पज्ञानी नेमिचन्द्र मुनि ने त्रिलोकसार बनाया है। बहुश्रुत धारक आचार्य इसका संशोधन करें।

ठीक यही आशय द्रव्यसंग्रह की अन्तिम गाथा मे स्पष्ट होता है:—

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचंदमुणिणा भणियं जं॥

अर्थात अल्पज्ञानी नेमिचन्द्र मुनि के बनाये द्रव्यसंग्रह का, बहुश्रुतधारक आचार्य संशोधन करें।

इससे मालूम होता है कि दोनों ग्रन्थों के रचयिता एकही आचार्य नेमिचन्द्र हैं।

आचार्य संस्कृत, प्राकृत और कर्नाटकी के प्रखर विद्वान् थे। आपके प्रमुख शिष्य माधवचन्द्र "त्रैविद्य" थे। आपने आचार्य के रचे त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों की टीकायें की हैं। आप भी तीन विद्याओं के स्वामी थे। 'त्रैविद्य" आपका पद था।

आचार्य का विशेष जीवन-परिचय प्राप्त होने पर ही लिखा जा सकता है।

द्रव्यसंग्रह
अजीव
जीव
देव
पुद्गल
धर्म
अधर्म
आकाश
निश्चय
काल
सरल जैन ग्रन्थ माला
जबलपुर
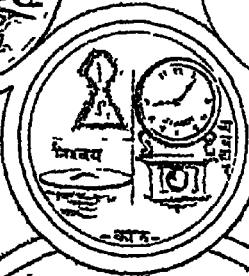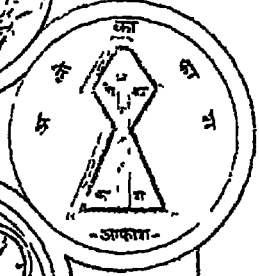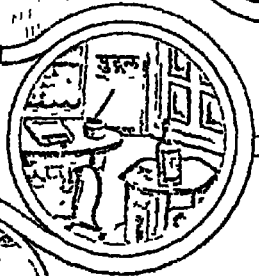
॥ श्री ॥

वीतरागाय नमः

द्रव्यसंग्रह।

टीकाकार का मंगलाचरण

शंकर ब्रह्मा बुद्ध शिव, वे हैं जिन भगवान।
"विश्व" तत्व जिन ज्ञान में, प्रकटत मुकुर समान॥

ग्रन्थकर्त्ता का मंगलाचरण

प्राकृत गाथा

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥१॥

जीवं अजीवं द्रव्यं जिनवरवृषभेण येन निर्दिष्टम्।
देवेन्द्रवृन्दवंद्यं वन्दे तं सर्वदा शिरसा ॥१॥

अन्वयार्थ—(जेण) जिस (जिणवरवसहेण) वृषभ भगवान ने (जीवमजीवं) जीव और अजीव (दव्वं) द्रव्य का (णिद्दिट्ठं) वर्णन किया है, (देविंदविंदवंदं) देवेन्द्रों के समूह* से नमस्कार करने योग्य (तं) उस प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव को मैं 'नेमिचन्द्र आचार्य' (सिरसा) मस्तक नमा कर (वंदे) नमस्कार करता हूं ॥१॥

---

* भवणालयचालीसा वितरदेवाण होंति बत्तीसा।
कप्पामरचउवीसा चंदो सूरो णरो तिरिओ॥

भावार्थ—"जिणवरवसहेण" का अर्थ 'वृषभ जिनेन्द्र द्वारा' होता है अथवा "जिन" का अर्थ मिथ्यात्व और रागादि को जीतने वाला है। इसलिये असयतसम्यग्दृष्टि, श्रावक और मुनि भी 'जिन' कहे जा सकते हैं। इनमें गणधर आदि श्रेष्ठ-जिन अर्थात जिनवर हैं। इनके भी प्रधान तीर्थंकर देव हैं। इसलिये 'जिनवरवृषभ" से चौबीसों तीर्थंकर भी समझे जा सकते है।

जीवद्रव्य के ९ अधिकार

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥२॥

जीवः उपयोगमयः अमूर्त्तिः कर्त्ता स्वदेहपरिमाणः ।
भोक्ता संसारस्थः सिद्धः सः विस्रसा ऊर्ध्वगतिः ॥२॥

अन्वयार्थः—(सो) वह जीव (जीवो) इन्द्रिय आदि प्राणों से जीता है. (उवओगमओ) उपयोगमय है, (अमुत्ति) अमूर्त्तिक है, (कत्ता) कर्त्ता है, (सदेहपरिमाणो) नामकर्म के उदय से मिले अपने छोटे या बड़े शरीर के बराबर रहता है, (भोत्ता) भोक्ता है, (संसारत्थो) संसार में रहने वाला है. (सिद्धो) सिद्ध है और (विस्ससोड्ढगई) अग्नि की शिखा-लौ के समान स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करता है ॥ २ ॥

अर्थः—भवनवासीदेवों के ४०, व्यन्तरदेवों के ३२, कल्पवासीदेवों के २४, ज्योतिषीदेवों के १ चन्द्रमा, १ सूर्य, मनुष्यों का १ चक्रवर्ती और तिर्यञ्चों का १ सिंह (४०+३२+२४+२+१+१=१००) इस प्रकार सौ इन्द्र होते हैं।

भावार्थः—१ जीवत्व, २ उपयोगमयत्व, ३ अमूर्तित्व, ४ कर्तृत्व, ५ स्वदेहपरिमाणत्व, ६ भोक्तृत्व, ७ संसारित्व, ८ सिद्धत्व और ९ विस्रसा ऊर्ध्वगमनत्व ये जीव के ९ अधिकार हैं।.

१. जीवाधिकार।

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउ आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्स ॥३॥

३. त्रिकाले चतुःप्राणा इन्द्रियं बलं आयुः आनप्राणः च।
व्यवहारात् सः जीवः निश्चयनयतः तु चेतना यस्य ॥३॥

अन्वयार्थः—(जस्स) जिसके (ववहारा) व्यवहारनय से (तिक्काले) भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में (इंदिय) इन्द्रिय, (बलं) बल, (आउ) आयु (य) और (आणपाणो) श्वासोच्छ्वास ये (चदुपाणा) चार प्राण होते हैं (दु) और (णिच्चयणयदो) निश्चयनय से जिसके (चेदणा) चेतना है (सो) वह (जीवो) जीव है ॥३॥

भावार्थः—५ इन्द्रियाँ (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण) ३ बल (मन, वचन, काय), १ आयु और १ श्वासोच्छ्वास ये दस प्राण जिसके हों वह व्यवहारनय* से जीव है और जिसके चेतना (ज्ञान और दर्शन) हो वह निश्चयनय से जीव है।

व्यवहारनय और निश्चयनय। "तत्वार्थं निश्चयो वक्ति, व्यवहारो जनोदितम्।" अर्थात् पदार्थ के असली स्वरूप को

---

* पदार्थ के एक अंश को जानने वाला 'नय' है। इसके दो भेद हैं:—

बताने वाला निश्चयनय है। जैसे मिट्टी के घड़े को मिट्टी का घड़ा कहना। जो लौकिक अर्थात् दूसरे पदार्थ के संयोग से दशा होती है, उसे बतावे वह व्यवहारनय है। जैसे—मिट्टी के घड़े में घी, दूध, पानी आदि रखे जाने पर उसे घी का घड़ा आदि कहना।

व्यवहारनय से जीव के कितने प्राण होते हैं:—

जीव	इन्द्रियां	बल	आयु	श्वासोच्छ्वास	प्राणसंख्या
एकेन्द्रिय	स्पर्शन	काय	,,	,,	४
द्वीन्द्रिय	,, रसना	वचन ,,	,,	,,	६
त्रीन्द्रिय	,, ,, घ्राण	,, ,,	,,	,,	७
चतुरिन्द्रिय	,, ,, ,, चक्षु	,, ,,	,,	,,	८
पञ्चेन्द्रिय सैनी	,, ,, ,, ,, कर्ण	,, ,,	,,	,,	९
असैनी	,, ,, ,, ,, ,,	मन ,, ,,	,,	,,	१०

२. उपयोगाधिकार।

दर्शनोपयोग के भेद।

उवओगो दुवियप्पो दंसण णाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं ॥४॥
उपयोगः द्विविकल्पः दर्शनं ज्ञानं च दर्शनं चतुर्द्धा।
चक्षुः अचक्षुः अवधिः दर्शनं अथ केवलं ज्ञेयम् ॥४॥

अन्वयार्थः—(उवओगो) उपयोग (दुवियप्पो) दो प्रकार का है। (दंसण) दर्शन (च) और (णाणं) ज्ञान। इनमें से (दंसणं) दर्शनोपयोग (चदुधा) चार प्रकार का (णेयं) जानना चाहिये:—

(चक्खु) १ चक्षुदर्शन, (अचक्खू) २ अचक्षुदर्शन, (ओही) ३ अवधिदर्शन (अध) और (केवलं दंसणं) केवलदर्शन ॥४॥

भावार्थः—उपयोग दो प्रकार का है—दर्शन और ज्ञान। दर्शनोपयोग के चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये चार भेद हैं। १ चक्षुदर्शन—चक्षुइन्द्रिय से मूर्त्तिक पदार्थों की सत्तामात्र को जानने वाला। २ अचक्षुदर्शन—चक्षु इन्द्रिय के सिवाय अन्य इन्द्रियों तथा मन से पदार्थों की सत्तामात्र को जानने वाला। ३. अवधिदर्शन—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिये रूपी पदार्थों की सत्तामात्र का जानने वाला। ४. केवलदर्शन—लोक और अलोक के समस्त पदार्थों की सत्तामात्र का जानने वाला।

ज्ञानोपयोग के भेद

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जय केवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च ॥५॥
ज्ञानं अष्टविकल्पं मतिश्रुतावधयः अज्ञानज्ञानानि।
मनःपर्य्ययः केवलं अपि प्रत्यक्षपरोक्षभेदं च ॥५॥

अन्वयार्थः—(णाणं) ज्ञानोपयोग (अट्ठवियप्पं) आठ प्रकार का है। इनमें (मदिसुदओही) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीन (अणाणणाणाणि) अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान कुमति, कुश्रुत और कुअवधि और ज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान—सुमति, सुश्रुत और सुअवधि इस प्रकार छह तथा (मणपज्जय) मनःपर्य्ययज्ञान (अवि) और (केवलं) केवलज्ञान। सब मिलाकर ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं। (च) और यह ज्ञानोपयोग (पच्चक्खपरोक्खभेयं) प्रत्यक्ष तथा परोक्ष भेदवाला भी है।

भावार्थः—कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन ज्ञानोपयोग मिथ्यादृष्टियों के होते हैं। सुमति, सुश्रुत, सुअवधि ये तीन ज्ञानोपयोग सम्यग्दृष्टियों के होते हैं। मनःपर्ययज्ञान विशेष-संयमी मुनियों के होता है और केवलज्ञान अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी के होता है। ज्ञानोपयोग के सब आठ भेद होते हैं।

ज्ञानोपयोग के प्रत्यक्ष* और परोक्ष ये दो भेद भी होते हैं।

उपयोग जीव का स्वरूप है:—

अट्ठ चदुणाणदंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ॥६॥
अष्टचतुर्ज्ञानदर्शने सामान्यं जीवलक्षणं भणितम्।
व्यवहारात् शुद्धनयात् शुद्धं पुनः दर्शनं ज्ञानम् ॥६॥

अन्वयार्थः—(ववहारा) व्यवहारनय से (अट्ठचदुणाणदंसण) आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन (सामण्णं) साधारण (जीवलक्खणं) जीव का लक्षण है। (पुण) और (सुद्धणया) शुद्धनिश्चयनय से (सुद्धं) शुद्ध (दंसणं) दर्शन और (णाणं) ज्ञान ही जीव का लक्षण है ॥६॥

---

* मइसुयपरोक्खणाणं ओही मण होइ वियलपच्चक्खं।
केवलणाणं च तहा अणोवमं होइ सयलपच्चक्खं॥

अर्थः—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो परोक्ष ज्ञान हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान विकलप्रत्यक्ष अथवा देशप्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय और मनकी सहायता से होने वाले ज्ञान को परोक्षज्ञान कहते हैं। इसका एक भेद सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय आदि की सहायता बिना केवल आत्मा की सहायता से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान कहलाता है।

उपयोग
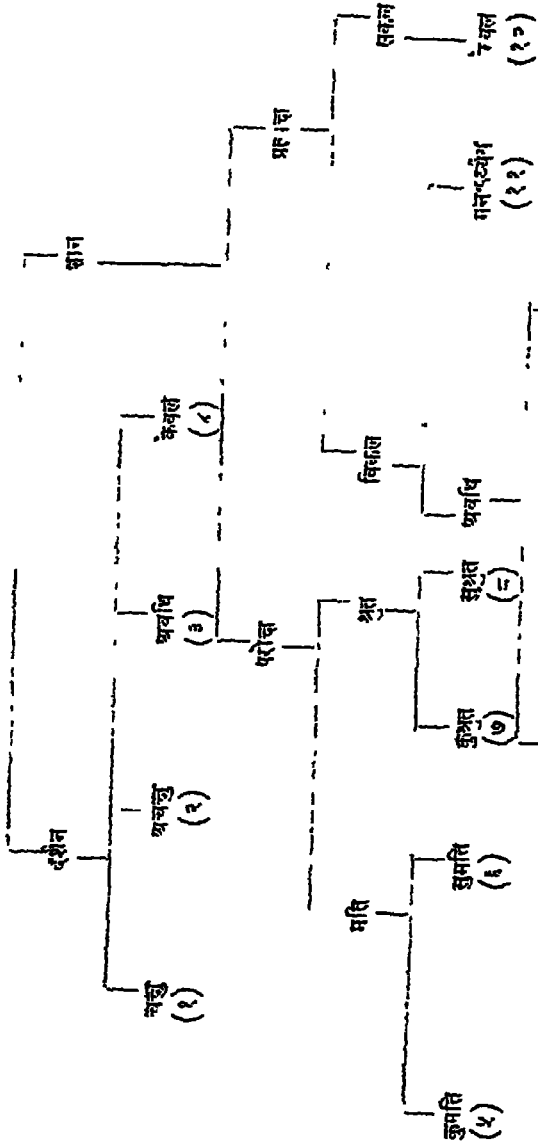
(गाथा ४-५ और ५वीं गाथा की टिप्पणी के अनुसार)

भावार्थः—जीव व्यवहारनय से ज्ञान और दर्शन के भेद करने पर १२ उपयोगवाला है और निश्चयनय से भेद न करने पर हरएक जीव शुद्धदर्शन और शुद्धज्ञान उपयोगवाला है ।

३. अमूर्तित्व अधिकार

वण्णरस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे ।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ॥७॥
वर्णाःरसाः पञ्च गन्धौ द्वौ स्पर्शाः अष्टौ निश्चयात् जीवे ।
नो संति अमूर्त्तिः ततः व्यवहारात् मूर्त्तिः बन्धतः ॥७॥

अन्वयार्थः—(णिच्चया) निश्चयनय से (जीवे) जीवद्रव्य में (वण्णरसपंच) पाँच वर्ण, पाँच रस, (दो गंधा) दो गंध और (अट्ठ) आठ (फासा) स्पर्श (णो) नहीं (संति) होते है (तदो) इस लिये जीव (अमुत्ति) अमूर्त्तिक है और (ववहारा) व्यवहार-नय से (बंधादो) कर्म्मबन्ध के होने से जीव (मुत्ति) मूर्त्तिक है ॥७॥

भावार्थः—निश्चयनय से जीव में वर्ण आदि २० गुण नहीं होते इसलिये वह अमूर्त्तिक है और कर्मबन्ध के कारण व्यवहारनय से जीव मूर्त्तिक है। पुद्गल में २० गुण होते हैं इसलिये वह 'मूर्त्तिक' है ॥७॥

४. कर्तृत्व अधिकार ।

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो ।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥८॥

पुद्गल के २० गुण
वर्ण (५)
रस (५)
गन्ध (२)
स्पर्श (८)
पीला
नीला
काला
लाल
सफेद
सुगंध
दुर्गन्ध
तीखा
कडुआ
कषायला
मीठा
खट्टा
हलका
भारी
रूखा
चिकना
ठंडा
गरम
मुलायम
कठोर
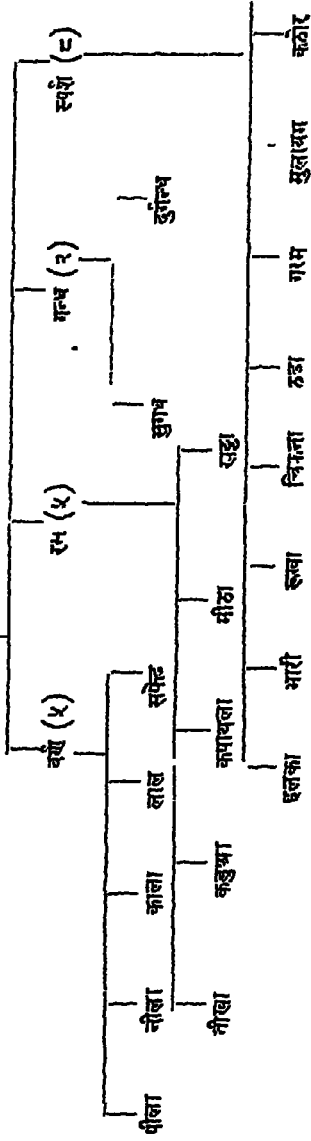
पुद्गलकर्म्मादीनां कर्त्ता व्यवहारतः तु निश्चयतः ।
चेतनकर्म्मणां आत्मा शुद्धनयात् शुद्धभावानाम् ॥८॥

अन्वयार्थः—(ववहारदो) व्यवहारनय से (आदा) आत्मा-जीव (पुग्गलकम्मादीणं) पुद्गलकर्म आदि का (कत्ता) कर्त्ता है। (दु) और (णिच्चयदो) अशुद्धनिश्चयनय से (चेदणकम्माणं) चेतनकर्म्मों का कर्त्ता है तथा (सुद्धणाया) शुद्धनिश्चयनय से (सुद्धभावाणं) शुद्धज्ञान व शुद्धदर्शन स्वरूप चैतन्यादि भावों का कर्त्ता है ॥८॥

भावार्थः—व्यवहारनय से ज्ञानावरण आदि पुद्गलकर्म और शरीर आदि नोकर्मों का करने वाला है। अशुद्धनिश्चय-नय से रागादि चेतनभावों का करने वाला है और शुद्ध-निश्चयनय से शुद्धज्ञान तथा शुद्धदर्शन स्वरूप चैतन्यादिभावों का करने वाला है।

हर एक जीव तीनों अपेक्षाओं से कर्त्ता देखा जा सकता है। मूल स्वभाव की अपेक्षा हर एक जीव शुद्धदर्शन आदि भावों का ही कर्त्ता है।

५. भोक्तृत्व अधिकार।

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि ।
आदा णिच्चयणयदो, चेदणभावं खु आदस्स ॥९॥
व्यवहारात् सुखदुःखं पुद्गलकर्म्मफलं प्रभुङ्क्ते ।
आत्मा निश्चयनयतः चेतनभावं खलु आत्मनः ॥९॥

अन्वयार्थः—(ववहारा) व्यवहारनय से (आदा) जीव

(पुग्गलकम्मफलं) पुद्गलकर्मों के फल (सुहदुक्खं) सुख और दुःख को (पभुंजेदि) भोगने वाला है और (णिच्चयणयदो) निश्चयनय से (खु) नियम पूर्वक (आदस्स) आत्मा के (चेदणभावं) चैतन्यभावों को भोगता है ॥९॥

भावार्थः—'व्यवहारनय' से जीव ज्ञानावरण आदि कर्म्मों के फल रूप सुख दुःख को भोगता है, 'निश्चयनय' से आत्मा के शुद्ध दर्शन और शुद्धज्ञान स्वरूप भावों को भोगता है और अशुद्धनिश्चयनय से सुखदुःखमय भावों को भोगता है ॥९॥

६. स्वदेहपरिमाणत्व अधिकार।

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्चयणयदो असंखदेसो वा ॥१०॥
अणुगुरुदेहप्रमाणः उपसंहारप्रसर्पाभ्यां चेतयिता।
असमुद्घातात् व्यवहारात् निश्चयनयतः असंख्यदेशः ॥१०॥

अन्वयार्थः—(ववहारा) व्यवहारनय से (चेदा) जीव (उवसंहारप्पसप्पदो) शरीरनामकर्म से होने वाले संकोच

---

* जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेहमत्तं पभासयदि ॥

अर्थः—जैसे दूध में डाला हुवा पद्मरागमणि दूध को अपनी कान्ति से प्रकाशमान करता है वैसे ही संसारी जीव अपने शरीर के बराबर ही रहता है। दूध गरम करने पर उबलता है तब दूध के साथ ही पद्मरागमणि की कान्ति भी बढ़ जाती है। इसी तरह पौष्टिक (ताकत बढ़ाने वाला) भोजन करने पर शरीर मोटा हो जाता है और उसके साथ ही आत्मा के प्रदेश भी फैल जाते हैं तथा भोजन रूखा सूखा मिलने पर शरीर दुबला हो जाता है तब जीव के प्रदेश भी सिकुड़ जाते हैं।

और विस्तार गुण के कारण (असमुहदो) समुद्घात ✻ अवस्था को छोड़कर (अणुगुरुदेहपमाणो) अपने छोटे या बड़े शरीर के बराबर रहता है (वा) और (णिच्चयणयदो) निश्चयनय से (असंखदेसो) लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेश वाला है ॥१०॥

भावार्थः—जीव व्यवहारनय से, समुद्घात को छोड़कर अपने छोटे या बड़े शरीर के बराबर है और निश्चयनय से असंख्यात प्रदेशवाले लोकाकाश के बराबर है।

✻ मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स।
णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु॥

अर्थ—मूलशरीर को न छोड़कर आत्मा के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना समुद्घात कहलाता है। इसके सात भेद होते हैं:—

१. **वेदना**—अधिक दुःख की दशा में मूलशरीर को न छोड़कर जीव के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना।

२. **कषाय**—क्रोध आदि तीव्र कषाय के उदय से धारण किये हुये शरीर को न छोड़कर जीव के प्रदेशो का शरीर से बाहर निकलना।

३. **विक्रिया**—विविध क्रिया करने के लिये मूलशरीर को न छोड़कर आत्मा के प्रदेशो का बाहर फैलना।

४. **मारणान्तिक**—जीव मरते समय तुरंत ही शरीर को नहीं छोड़ता किंतु शरीर में रहते हुये ही जन्मस्थान को स्पर्श करने के लिये आत्मा के प्रदेश बाहर निकलते हैं।

५. **तैजस**—यह दो प्रकार का होता है। शुभ और अशुभ। संसार को रोग अथवा दुर्भिक्ष से दुःखी देख कर महामुनि को कृपा उत्पन्न होने पर संसार की पीडा दूर करने के लिये तपस्या के बल से, मूलशरीर को न

७. संसारित्व अधिकार

पुढविजलतेउवाऊवणप्फदी विविहथावरेइंदी।
विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी ॥११॥
पृथिवीजलतेजोवायुवनस्पतयः विविधस्थावरैकेन्द्रियाः।
द्विकत्रिकचतुःपञ्चाक्षाः त्रसजीवाः भवन्ति शंखादयः ॥११॥

अन्वयार्थः—(पुढविजलतेउवाऊवणप्फदी) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति (विविहथावरेइंदी) अनेक प्रकार के स्थावर एकेन्द्रिय जीव होते हैं और (संखादी) शंख आदि (विगतिगचदुपंचक्खा) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय (तसजीवा) त्रसजीव (होंति) होते हैं ॥११॥

छोड़कर दाहिने कंधे से पुरुष के आकारका सफेद पुतला निकलता है और दुःख दूर कर अपने शरीर में प्रवेश करता है वह शुभ तैजस है। अनिष्ट कारक पदार्थों को देखकर मुनियों के हृदय में क्रोध होने पर बायें कंधे से पुरुषाकार सिन्दूर रंग का पुतला निकल कर, जिस पर क्रोध आया हो उसे नष्ट कर देता है; साथही उस मुनि को भी नष्ट कर देता है इसे अशुभतैजस कहते हैं।

६. आहारक—छठे गुणस्थान के किसी परम ऋद्धिधारी मुनि को, तत्त्वसम्बन्धी शंका होने पर उसे तप के बल से, मूलशरीर को न छोड़कर मस्तक से एक हाथ बराबर पुरुषाकार सफेद और शुभ पुतला निकल कर केवली अथवा श्रुतकेवली के पास जाकर उनके चरणों का स्पर्श करते ही अपनी शंका दूर कर अपने स्थान में प्रवेश करता है।

७. केवल—केवलज्ञान उत्पन्न होने पर मूलशरीर को न छोड़कर दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण क्रिया द्वारा केवली के आत्मा के प्रदेशों का फैलना।

भावार्थः—संसारी जीवों के मुख्य दो भेद हैं— स्थावर और त्रस। पृथिवी आदि स्थावर "एकेन्द्रिय जीव" है और द्वितीय से पञ्चेन्द्रिय तक के शंख वगैरह "त्रसजीव" कहलाते है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव विकलत्रय कहे जाते है।

चौदह जीवसमासः‡

समणा अमणा णेया पंचेंदिय णिम्मणा परे सव्वे ।
बादरसुहुमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य ॥ १२ ।
समनस्काःअमनस्काः ज्ञेयाः पञ्चेन्द्रियाः निर्मनस्काः परे सर्वे ।
बादरसूक्ष्मैकेन्द्रिया सर्वे पर्याप्ताः इतरे च ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः—(पंचेदिय) पञ्चेन्द्रियजीव (समणा) मन सहित और (अमणा) मनरहित (णेया) जानने चाहिये और (परे सव्वे) दूसरे सब (णिम्मणा) मनरहित होते हैं। इनमें (एइंदी) एकेन्द्रियजीव (बादरसुहुमा) बादर और सूक्ष्म इस तरह दो प्रकार के होते है और ये (सव्वे) सब (पज्जत्त) पर्याप्त (य) तथा (इदरा) अपर्याप्त होते है ॥१२॥

भावार्थः—पंचेंद्रियजीव के दो भेद हैं—सैनी और असैनी। एकेन्द्रियजीव के भी दो भेद है—बादर और सूक्ष्म। बादर एकेन्द्रिय जीव दूसरों को बाधा देते है और बाधा पाते है। ये किसी पदार्थ के आधार में रहते है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय

‡ जिसके द्वारा अनेक प्रकार के जीवों के भेद ग्रहण किये जावें उसे जीवसमास कहते हैं।

जीव समस्त लोकाकाश में फैले हुये हैं। ये न किसी को बाधा देते हैं और न किसी से बाधा पाते हैं।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव ये सब पर्याप्त † और अपर्याप्त होते हैं ॥१२॥

पर्याप्ति विवरण।

जीव	पर्याप्तियां	संख्या
एकेन्द्रिय	आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास	४
विकलेन्द्रिय और असैनी पंचेन्द्रिय	,, ,, ,, ,, भाषा	५
सैनी पंचेन्द्रिय	,, ,, ,, ,, ,, मन	६

एक अन्तर्मुहूर्त में पर्याप्ति पूर्ण होती है। अपर्याप्तक जीव एक श्वास में १८ बार जीते मरते हैं। नीरोग पुरुष की एक बार नाड़ी फड़कने के समय को श्वास कहते हैं। ४८ मिनिट में ३७७३ श्वास होते हैं।

जीव के अन्य भेद।

मग्गणगुणठाणेहिं य चउदसहिं हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥१३॥

---

† जह पुण्णापुण्णाइं गिहघडवत्थादियाइं दव्वाइं।
तह पुण्णिदरा जीवा पज्जत्तिदरा मुणेयव्वा ॥

अर्थ—जिस प्रकार मकान, घड़ा और वस्त्र आदि द्रव्य पूरे और अधूरे होते हैं उसी प्रकार जीव पर्याप्त और अपर्याप्त होते है।

आहारसरीरिंदियपज्जत्ती आणपाणभासमणो।
चत्तारि पंच छप्पि य इगिविगलासण्णिसण्णीणं ॥

अर्थ—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियाँ होती हैं। एकेन्द्रियजीव को ४, द्वीन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय तक के जीवों को ५ और सैनीपंचेन्द्रियजीवो को छह पर्याप्तियाँ होती है।

चौदह जीवसमास

- त्रस
  - सकल
    - सैनी
      - पर्याप्त (१)
      - अपर्याप्त (२)
    - असैनी
      - पर्याप्त (३)
      - अपर्याप्त (४)
  - विकल
    - द्वीन्द्रिय
      - पर्याप्त (५)
      - अपर्याप्त (६)
    - त्रीन्द्रिय
      - पर्याप्त (७)
      - अपर्याप्त (८)
    - चतुरिन्द्रिय
      - पर्याप्त (९)
      - अपर्याप्त (१०)
- स्थावर
  - बादर
    - पर्याप्त (११)
    - अपर्याप्त (१२)
  - सूक्ष्म
    - पर्याप्त (१३)
    - अपर्याप्त (१४)
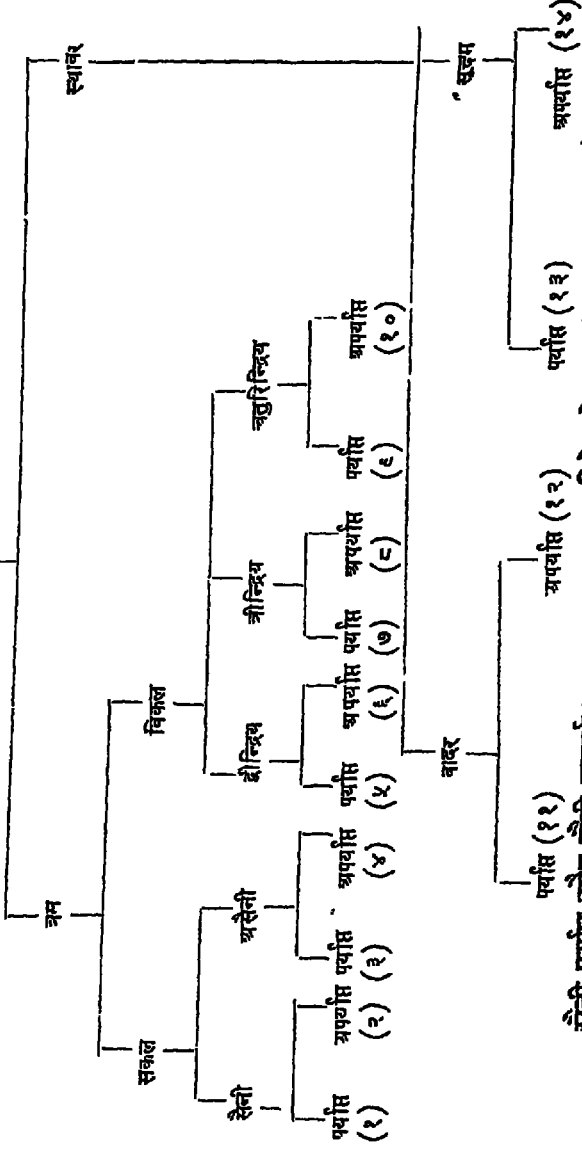
सैनी पर्याप्त और सैनी अपर्याप्त इस तरह कहना चाहिये। ये १४ जीवसमास होते हैं।

मार्गणागुणस्थानैः चतुर्दशभिः भवन्ति तथा अशुद्धनयात् ।
विज्ञेयाः संसारिणः सर्व्वे शुद्धाः खलु शुद्धनयात् ॥१३॥

अन्वयार्थः—(तह) तथा (संसारी) संसारी जीव (असुद्धणया) व्यवहारनय से (चउद्दसहिं) चौदह २ (मग्गणगुण-ठाणेहिं) मार्गणा और गुणस्थानों की अपेक्षा (हवंति) होते हैं (य) और (सुद्धणया) शुद्धनिश्चयनय से (सव्वे) सब जीव (हु) निश्चय (सुद्धा) शुद्ध (विणेया) जानने चाहिये ॥१३॥

भावार्थः—ऊपर की १२वीं गाथा के अनुसार तथा मार्गणा और गुणस्थानों की अपेक्षा भी व्यवहारनय से जीव १४/१४ प्रकार के होते हैं। निश्चयनय से सभी जीव शुद्ध हैं और उनमें कोई भेद नहीं है।

जिनसे अथवा जहाँ जीव तलाश किये जावें उन अवस्थाओं को मार्गणा * कहते हैं। इसके गति आदि के भेद से १४ भेद हैं। जीवों के भावों के उन्नति करते हुये भेदों को गुणस्थान कहते हैं। ये मोह के उदय और योग के निमित्त से होते हैं। गृहस्थों के पहले के ५, साधुओं के छठे से

---

* गइइंदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे॥

अर्थः—१ गति (चार), २ इन्द्रिय (पांच), ३ काय (छह), ४ योग (तीन), ५ वेद (तीन), ६ कषाय (पच्चीस), ७ ज्ञान (आठ), ८ संयम (पांच तथा असंयम व संयमासंयम), ९ दर्शन (चार) १० लेश्या (छह), ११ भव्यत्व (दो), १२ सम्यक्त्व (छह), १३ संज्ञित्व (दो) और १४ आहार (दो) ये चौदह मार्गणायें हैं।

१२वें तक और केवली के अन्त के २ गुणस्थान ‡ होते हैं ।

---

‡ मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य ।
विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्ठ सुहुमो य ॥
उवसंत खीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य ।
चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा ॥

गुणस्थानों के नाम और लक्षण इस प्रकार हैं:—

१. **मिथ्यात्व**—मिथ्यादर्शन के उदय से सच्चे देव शास्त्र गुरु और तत्त्वों का श्रद्धान न होना ।

२. **सासादन**—सम्यक्त्व प्राप्त कर मिथ्यात्वी हो जाना ।

३. **मिश्र**—सम्यक्त्व और मिथ्यात्व मिले परिणाम होना ।

४. **अविरत-सम्यक्त्व**—सम्यक्त्व हो जावे किन्तु किसी प्रकार का व्रत या चारित्र धारण न करे ।

५. **देशसंयत**—सम्यक्त्व सहित एकदेश-चारित्र पालना ।

६. **प्रमत्तसंयत**—अहिंसादि महाव्रतों को पालता है परन्तु प्रमादवान है ।

७. **अप्रमत्तसंयत**—प्रमादरहित होकर महाव्रतों का पालन करता है ।

८. **अपूर्वकरण**—सातवें गुणस्थान से ऊपर अपनी विशुद्धता में अपूर्व रूप से उन्नति करना ।

९. **अनिवृत्तिकरण**—आठवें गुणस्थान से अधिक उन्नति करना ।

१०. **सूक्ष्मसाम्पराय**—(सूक्ष्मकषाय)—सब कषायों का उपशम या क्षय होना, केवल लोभकषाय का सूक्ष्मरूप में रहना ।

११. **उपशान्तकषाय** (उपशान्तमोह)—कषायों का उपशम हो जाना ।

१२. **क्षीणकषाय** (क्षीणमोह)—कषायों का क्षय हो जाना ।

१३. **सयोगकेवली**—केवलज्ञान प्राप्त होगया हो लेकिन योग की प्रवृत्ति हो ।

१४. **अयोगकेवली**—केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद मन, वचन और काय की प्रवृत्ति भी बन्द हो जाती है ।

इसके बाद जीव **सिद्ध** कहलाता है ।

८ व ९ सिद्धत्व व विस्रसा ऊर्ध्वगमनत्व अधिकार

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवयेहिं संजुत्ता ॥१४॥
निष्कर्माणः अष्टगुणाः किञ्चिदूनाः चरमदेहतः सिद्धाः।
लोकाग्रस्थिताः नित्याःउत्पादव्ययाभ्यां संयुक्ताः ॥१४॥

अन्वयार्थः—(णिक्कम्मा) ज्ञानावरण आदि आठ कर्म रहित, (अट्ठगुणा) सम्यक्त्व† आदि आठगुण सहित, (चरमदेहदो) अन्तिम शरीर से (किंचूणा) कुछ कम (णिच्चा) ध्रुव-अविनाशी (उप्पादवयेहिं) उत्पाद और व्यय से (संजुत्ता) सहित जीव (सिद्धा) सिद्ध हैं। यह सिद्धत्व अधिकार है। कर्मरहित जीवों का ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने के कारण (लोयग्गठिदा) तीन लोक के आगे के भाग में स्थित रहते हैं। यह विस्रसा ऊर्ध्वगमनत्व ‡ अधिकार है ॥१४॥

---

† सम्मत्तणाणदंसणवीरियसुहुमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलहुअव्वबाहं अट्ठगुणा हुंति सिद्धाणं॥

अर्थः—मोहनीयकर्म के अभाव से सम्यक्त्व, ज्ञानावरणकर्म के अभाव से ज्ञान, दर्शनावरणकर्म के अभाव से दर्शन, अन्तरायकर्म के अभाव से वीर्य, नामकर्म्म के अभाव से सूक्ष्मत्व, आयुकर्म के अभाव से अवगाहना, गोत्रकर्म्म के अभाव से अगुरुलघु, और वेदनीयकर्म्म के अभाव से अव्याबाध गुण सिद्धों में होते हैं। आठ कर्मों के अभाव से आठ गुण होते हैं।

‡ पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं सव्वदो मुक्को।
उड्ढं गच्छदि सेसा विदिसावज्जं गदिं जंति॥

अर्थः—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध से मुक्त होकर जीव

भावार्थः—सिद्ध भगवान् ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों से रहित और सम्यक्त्व आदि आठ गुणों सहित होते हैं। सिद्ध अथवा मुक्तजीव के, छोड़े हुये पहिले के शरीर से कुछ कम आकार के उनके आत्मा के प्रदेश होते हैं। उनमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य गुण रहते हैं। लोक के अग्रभाग में सिद्धशिला है, उसके ऊपर तनुवातवलय में अनन्तानन्त सिद्ध रहते हैं। लोक के आगे धर्मास्तिकाय न होने के कारण नहीं जा सकते।

अजीवतत्व के भेद

अज्जीवो पुण ग्गेयो पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं ।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु ॥१५॥
अजीवः पुनः ज्ञेयः पुद्गलःधर्म्मः अधर्म्मः आकाशम् ।
कालः पुद्गलः मूर्त्तः रूपादिगुणः अमूर्त्ताःशेषाः तु ॥१५॥

अन्वयार्थ—(पुण) फिर (पुग्गल) पुद्गल, (धम्मो) धर्म्म (अधम्म) अधर्म्म, (आयासं) आकाश और (कालो) काल इनको (अज्जीवो) अजीवद्रव्य (ग्रेओ) जानना चाहिये। इनमें से (पुग्गल) पुद्गलद्रव्य (रूवादिगुणो) रूप आदि गुणवाला है. (मुत्तो) मूर्त्तिक है (दु) और (सेसा) शेष द्रव्य (अमुत्ति) अमूर्तिक है ॥१५॥

ऊपर गमन करता है। संसारी जीव विदिशाओं में न जाकर आकाश के प्रदेशों की पंक्ति के अनुसार बाकी छह दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व-ऊपर, अधः—नीचे) की ओर जाते हैं॥

इति जीवाधिकारः

भावार्थः—अजीव द्रव्य के ५ भेद होते हैं:—१ पुद्गल २ धर्म, ३ अधर्म, ४ आकाश और ५ काल। इनमें पुद्गल द्रव्य मूर्त्तिक + है और शेष द्रव्य अमूर्तिक ० हैं।

पुद्गलद्रव्य की पर्यायें।

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमछाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥१६॥

शब्दः बन्धः सूक्ष्मः स्थूलः संस्थानभेदतमश्छायाः।
उद्योतातपसहिताः पुद्गलद्रव्यस्य पर्यायाः ॥१६॥

अन्वयार्थः—(सद्दो) शब्द (बंधो) बन्ध (सुहुमो) सूक्ष्म (थूलो) स्थूल (संठाणभेदतमछाया) आकार, खंड, अन्धकार, छाया, (उज्जोदादवसहिया) उद्योत और आतप सहित (पुग्गलदव्वस्स) पुद्गलद्रव्य की (पज्जाया) पर्यायें हैं ॥१६॥

भावार्थः—शब्द आदि पुद्गलद्रव्य की दस ÷ पर्यायें हैं।

+ रूवादिगुणो मुत्तो अर्थात् जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण पाये जावें उसे मूर्त्तिक कहते हैं।

० जिस द्रव्य में रूप आदि न हो उसे अमूर्तिक कहते हैं।

÷ १. वीणा आदि का स्वर शब्द, २. लाख और लकड़ी आदि का जुड़ना बन्ध, ३. अनार से सेव वगैरह का छोटा होना सूक्ष्म, ४. बेर से आवला वगैरह का बड़ा होना स्थूल, ५. द्विकोण, त्रिकोण वगैरह आकार, ६. गेहूँ का दलिया आटा वगैरह खंड, ७. दृष्टि को रोकने वाला अन्धकार, ८. धूप में मनुष्य आदि और दर्पण में मुख आदि की छाया,-प्रतिबिम्ब, ९, चन्द्रमा या चन्द्रकान्तमणि का प्रकाश उद्योत, और १०. सूर्य अथवा सूर्यकान्तमणि का प्रकाश आतप, कहलाता है।

धर्मद्रव्य का लक्षण ।

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥१७॥

गतिपरिणतानां धर्म्मः पुद्गलजीवानां गमनसहकारी ।
तोयं यथा मत्स्यानां अगच्छतां नैव सः नयति ॥१७॥

अन्वयार्थः—(गइपरिणयाण) गति में परिणत (पुग्गल-जीवाण) पुद्गल और जीवद्रव्य को (गमणसहयारी) चलने में सहायता देने वाला (धम्मो) धर्म्मद्रव्य है (जह) जैसे (मच्छाणं) मछलियों को (तोयं) पानी चलने में सहायता करता है किन्तु (सो) वह धर्मद्रव्य (अच्छंता) नहीं चलने वालों को (णेव) कभी नहीं (णेई) चलाता है ॥१७॥

भावार्थः—जीव और पुद्गलद्रव्य ही हिलते चलते हैं, दूसरं द्रव्य नहीं। इनके चलने में धर्म्म द्रव्य सहायता करता है, प्रेरणा नहीं करता। पानी मछली को चलने में सहायता करता है लेकिन मछली को चलने के लिये प्रेरणा नहीं करता—जबरदस्ती नहीं चलाता है। अटारी या छत पर चढ़ने के लिये सीढ़ियाँ मदद करती है, प्रेरणा नहीं करतीं।

विशेषः—धर्म और अधर्म शब्द से पुण्य और पाप नहीं समझना चाहिये वल्कि ये दोनों द्रव्य जैनधर्म्म में स्वतन्त्र रूप से माने गये हैं।

अधर्म्मद्रव्य का लक्षण ।

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी ।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥१८॥

स्थानयुतानां अधर्मः पुद्गलजीवानां स्थानसहकारी ।
छाया यथा पथिकानां गच्छतां नैव सः धरति ॥१८॥

अन्वयार्थः—(ठाणजुदाण) ठहरने वाले (पुग्गलजीवाण) पुद्गल और जीव द्रव्यों को (ठाणसहयारी) ठहरने में सहायता करने वाला (अधम्मो) अधर्मद्रव्य है (जह) जैसे (पहियाणं) मुसाफ़िरों को (छाया) छाया ठहरने में सहायता करती है किन्तु (सो) वह अधर्म द्रव्य (गच्छंता) चलने वाले जीव और पुद्गल द्रव्यों को (णेव) कभी नहीं (धरई) ठहराता है ॥१८॥

भावार्थः—ठहरने वाले जीव और पुद्गलद्रव्यों को ठहरने में अधर्म द्रव्य सहायता करता है । यदि मुसाफ़िर ठहरना चाहे तो वृक्ष की छाया ठहरने में सहायता करती है, जो चलना चाहे उसे प्रेरणा कर ठहराती नहीं है ।

आकाशद्रव्य का लक्षण ।

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं ।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥१९॥
अवकाशदानयोग्यं जीवादीनां विजानीहि आकाशम् ।
जैनं लोकाकाशं अलोकाकाशं इति द्विविधम् ॥१९॥

अन्वयार्थः—(जीवादीणं) जीव आदि द्रव्यों को (अवगासदाणजोग्गं) अवकाश देने योग्य (जेण्हं) जिनेन्द्र भगवान का कहा हुवा (आयासं) आकाशद्रव्य (वियाण) जानना चाहिये । यह आकाशद्रव्य (लोगागासं) लोकाकाश और (अल्लोगागासं) अलोकाकाश (इदि) इस तरह (दुविहं) दो प्रकार का है ।

भावार्थः—जीव आदि सभी द्रव्यों को आकाश अवकाश

देता है। आकाशद्रव्य समस्त लोक में व्यापक है। तीन लोक के बाहर कोई द्रव्य नहीं रहता, उसे अलोकाकाश कहते हैं। तीन लोक में सभी द्रव्य रहते है इसलिये उसे लोकाकाश कहते हैं। आकाश द्रव्य अनन्त और अमूर्त्तिक है।

लोकाकाश और अलोकाकाश का लक्षण।

धम्माधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो ॥२०॥
धर्म्माधर्म्मौ कालः पुद्गलजीवाः च सन्ति यावतिके।
आकाशे सः लोकः ततः परतः अलोकः उक्तः ॥२०॥

अन्वयार्थः—(जावदिये) जितने (आयासे) आकाश में (धम्माधम्मा) धर्मद्रव्य और अधर्म्मद्रव्य, (कालो) कालद्रव्य (य) और (पुग्गलजीवा) पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य (संति) है (सो) वह (लोगो) लोकाकाश † है और (तत्तो) लोकाकाश के (परदो) बाहर (अलोगुत्तो) अलोकाकाश कहा गया है ॥२०॥

भावार्थः—जितमें स्थान में सब द्रव्य देखे जावें उसको लोकाकाश कहते हैं और लोकाकाश के बाहर केवल आकाश है इसलिये उसे अलोकाकाश कहते हैं:—

लोक के तीन विभाग हैः—ऊर्ध्व (ऊपर) मध्य (बीच) और अधः (नीचे), इन्हें ही तीन लोक कहते है। यही लोकाकाश कहा जाता है। इसके बाहर अनन्त अलोकाकाश कहलाता है।

---

† यत्र पुण्यपापफललोकनं स लोकः।

अर्थः—जहां पुण्य और पाप का सुख और दुःख रूप फल देखा जावे उसे लोक कहते हैं। यह जीव में देखा जाता है। जीवद्रव्य लोकाकाश में ही

कालद्रव्य का लक्षण व उसके भेदों का स्वरूप ।

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो ।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥२१॥

द्रव्यपरिवर्तनरूपः यः सः कालः भवेत् व्यवहारः ।
परिणामादिलक्ष्यः वर्त्तनालक्षणः च परमार्थः ॥२१॥

अन्वयार्थः—(जो) जो (दव्वपरिवट्टरूवो) द्रव्यों के पलटने में मिनिट, घंटा, दिन, महीना आदि रूप है और (परिणामादी-लक्खो) परिणमन आदि लक्षणों से जाना जाता है (सो) वह (ववहारो कालो) व्यवहारकाल (हवेइ) है (य) और (वट्टण-लक्खो) वर्त्तनालक्षण वाला (परमट्ठो) परमार्थकाल है ॥२१॥

भावार्थः—जो जीवादिक द्रव्यों के परिणमन में सहकारी हो उसे कालद्रव्य कहते हैं। इसके दो भेद हैं:—व्यवहारकाल और परमार्थकाल अथवा निश्चयकाल।

समय, घड़ी, प्रहर, दिन आदि को व्यवहारकाल कहते हैं। कुम्हार के चाक की कीली की तरह पदार्थों के परिणमन में जो सहकारी हो उसे परमार्थ अथवा निश्चयकाल कहते हैं। पदार्थों के पलटने में जो सहकारी है उसे ही वर्त्तना कहते हैं वर्तना ‡ लक्षण वाला कालाणु रूप निश्चयकाल है।

रहता है। अथवा—

लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोकः।

अर्थः—जहां जीव आदि द्रव्य देखे जावें उसे लोक कहते हैं।

‡ प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्त्तना।

अर्थ—द्रव्य में प्रत्येक समय सदमरूप से स्वसत्ता के अनुभव स्वरूप

निश्चयकाल का विशेष लक्षण

लोयायासपदेसे इक्केक्के जे ठिया हु इक्केक्का ।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥२२॥

लोकाकाशप्रदेशे एकैकस्मिन् ये स्थिताःहि एकैकाः ।
रत्नानां राशिः इव ते कालाणवः असंख्यद्रव्याणि ॥२२॥

अन्वयार्थः—(इक्केक्के) एक एक (लोयायासपदेसे) लोकाकाश के प्रदेश पर (जे) जो (इक्केक्का) एक २ (कालाणू) काल के अणु (रयणाणं) रत्नों की (रासीमिव) राशि के समान (हु) अलग २ (ठिया) स्थित हैं (ते) वे कालाणु (असंखदव्वाणि) असंख्यातद्रव्य हैं।

भावार्थः—लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान कालाणु अलग २ स्थित हैं। जैसे रत्नों की राशि (ढेर) लगाने पर हर एक रत्न अलग २ रहता है उसी प्रकार लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक २ कालाणु पृथक् २ है। लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात होने के कारण कालद्रव्य भी असंख्यात द्रव्य है। इन्हीं कालाणुओं के निमित्त से सब द्रव्यों की अवस्था पलटती है।

परिवर्त्तन को **वर्त्तना** कहते हैं। यह **निश्चयकाल** है। जैसे—चावल आग से पक जाता है लेकिन बर्तन में पानी भर कर आग पर रखते ही नहीं पक जाता। धीरे २ एक २ समय बाद पकता जाता है।

"चावल पक गया" इत्यादि **व्यवहारकाल** है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय पर्यायों के पलटने में "वर्त्तना" अन्तरङ्ग कारण है और परिणमन आदि रूप व्यवहारकाल में कारण हैं।

द्रव्यों का उपसंहार और अस्तिकाय

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं ।
उत्तं कालविजुत्तं णायव्वा पंच अत्थिकायादु ॥२३॥
एवं षड्भेदं इदं जीवाजीवप्रभेदतः द्रव्यम् ।
उक्तं कालवियुक्तम् ज्ञातव्याः पञ्च अस्तिकायाः तु ॥२३॥

अन्वयार्थः—(एवं) इस प्रकार (जीवाजीवप्पभेददो) जीव और अजीव के भेदों से (इदं) यह (दव्वं) द्रव्य (छब्भेयं) छह तरह का (उक्तं) कहा गया है (दु) और इनमें से (कालविजुत्तं) कालद्रव्य को छोड़कर (पंच) पाँच (अत्थिकाया) अस्तिकाय (णायव्वा) जानने चाहिये ॥२३॥

भावार्थः—जीव के मुख्य दो भेद हैं—जीव और अजीव। अजीव के पुद्गल, धर्म्म, अधर्म्म, आकाश और काल ये पाँच भेद हैं। कुल छह द्रव्य हुये। इनमें से काल को छोड़कर बाकी पाँच द्रव्य पंचास्तिकाय कहलाते हैं।

अस्तिकाय का लक्षण।

संति जदो तेणेदे अत्थीति भणंति जिणवरा जम्हा ।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य ॥२४॥
सन्ति यतः तेन एते अस्ति इति भणन्ति जिनवराः यस्मात् ।
कायाः इव बहुदेशाः तस्मात् कायाःच अस्तिकायाः च ॥२४॥

अन्वयार्थः—(जदो) क्योंकि (एदे) पाँच अस्तिकाय (संति) हैं (तेण) इसलिये (जिणवरा) जिनेन्द्र भगवान् (अत्थीति) "अस्ति" ऐसा (भणंति) कहते हैं। (य) और (जम्हा) क्योंकि
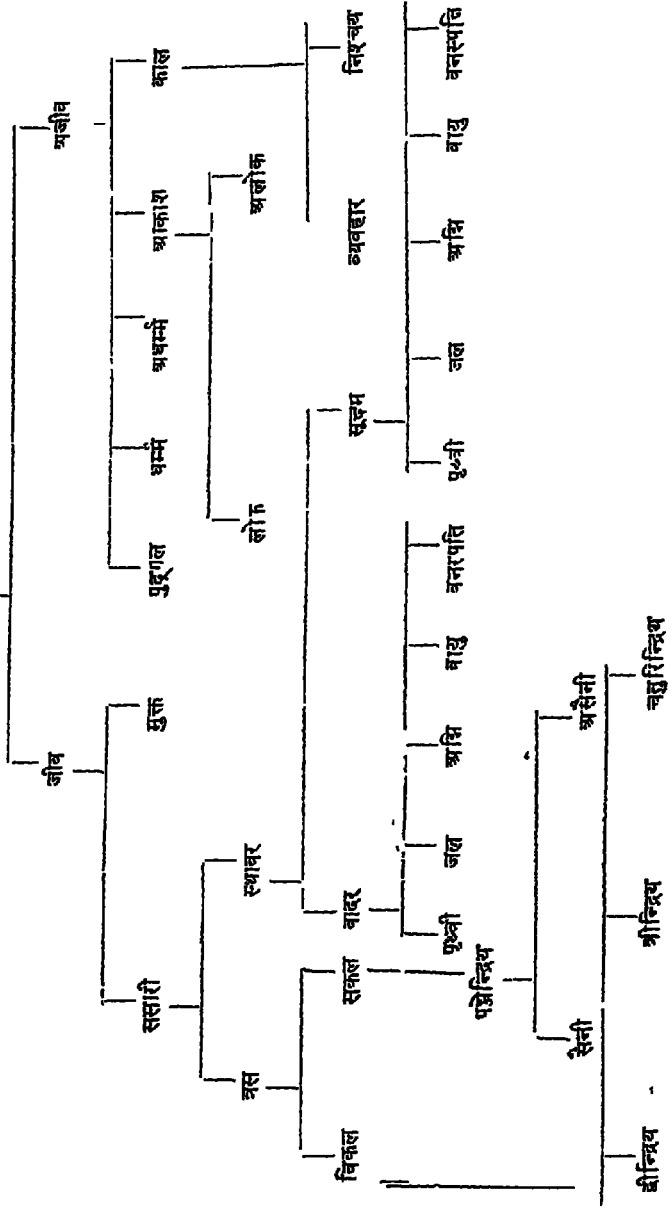
- द्रव्य
  - जीव
    - संसारी
      - त्रस
        - विकल
          - द्वीन्द्रिय
          - त्रीन्द्रिय
          - चतुरिन्द्रिय
        - सकल
          - पञ्चेन्द्रिय
            - सैनी
            - असैनी
      - स्थावर
        - बादर
          - पृथ्वी
          - जल
          - अग्नि
          - वायु
          - वनस्पति
        - सूक्ष्म
          - पृथ्वी
          - जल
          - अग्नि
          - वायु
          - वनस्पति
    - मुक्त
  - अजीव
    - पुद्गल
    - धर्म्म
    - अधर्म्म
    - आकाश
      - लोक
      - अलोक
    - काल
      - व्यवहार
      - निश्चय

(काया इव) काय के समान (बहुदेसा) बहुत प्रदेश वाले हैं (तम्हा) इस लिये (काया) "काय" कहलाते हैं। (य) और मिलकर (अत्थिकाया) "अस्तिकाय" कहे जाते हैं ॥२४॥

भावार्थः—जीव, पुद्गल, धर्म्म, अधर्म्म और आकाश ये पांच द्रव्य हैं, इन्हें "अस्ति" कहा है। काय के समान बहुप्रदेशी हैं, इसलिये इनको "काय" कहते हैं। इस कारण ये पाँचों द्रव्य अस्तिकाय हैं। कालाणु एक एक प्रदेशवाला होता है। इसलिये उसको काय संज्ञा नहीं है। उसमें अस्तिपना है, कायपना नहीं, इसी कारण वह अस्तिकाय में नहीं गिना जाता।

द्रव्यों की प्रदेशसंख्या

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे।
मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥२५॥
भवन्ति असंख्याः जीवे धर्म्माधर्म्मयोः अनन्ताः आकाशे।
मूर्त्ते त्रिविधाः प्रदेशाः कालस्य एकः न तेन सः कायः ॥

अन्वयार्थः—(जीवे) एक जीव में, (धम्माधम्मे) धर्म्म और अधर्म्मद्रव्य में (असंखा) असंख्यात, (आयासे) आकाश में (अणंत) अनन्त और (मुत्ते) पुद्गल में (तिविह) संख्यात, असंख्यात और अनन्त तीनों प्रकार के (पदेसा) प्रदेश (होंति) होते हैं और (कालस्स) कालद्रव्य का (एगो) एक प्रदेश होता है (तेण) इसलिये (सो) वह कालद्रव्य (काओ) कायवान् (ण) नहीं है ॥२५॥

भावार्थः—एक जीव समस्त लोकाकाशमें फैल सकता है। लोकाकाश में असंख्यात प्रदेश होते हैं। इसलिये जीव असंख्यात-प्रदेश वाला है। धर्म्म और अधर्म्मद्रव्य भी समस्त लोकाकाश

में, तिल में तेल के समान फैले हैं इसलिये ये दोनों द्रव्य भी असंख्यात प्रदेश वाले हैं। आकाश में अनन्त प्रदेश होते हैं क्योंकि आकाश लोकाकाश के भी बाहर है, उसकी कोई सीमा नहीं है। पुद्गल द्रव्य के अनन्त परमाणु हैं, परन्तु एक परमाणु अलग भी होता है और दो, चार, बीस, हजार, लाख परमाणु मिलकर छोटा या बड़ा स्कन्ध भी होता है। इसलिये पुद्गल को संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशवाला कहा है। काल के अणु एक २ अलग रहते हैं—वे मिलकर स्कन्ध नहीं होते इस कारण कालद्रव्य कायवान् नहीं है।

विशेषः—धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य लोकाकाश में अनादिकाल से रहते हैं। ये अमूर्त्तिक हैं। इनके प्रदेश एक दूसरे प्रदेशों को रोकते नहीं हैं। जल, राख और बालु आदि मूर्त्तिक पदार्थों में भी विरोध नहीं होता। अनादिकाल से सम्बन्ध रखने वाले अमूर्त्तिक द्रव्यों में कोई विरोध नहीं आ सकता।

पुद्गलपरमाणु कायवान् है।

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ॥२६॥

एकप्रदेशः अपि अणुः नानास्कन्धप्रदेशतः भवति।
बहुदेशः उपचारात् तेन च कायः भणन्ति सर्वज्ञाः ॥२६॥

अन्वयार्थः—(एयपदेसो वि) एकप्रदेश वाला भी (अणू) पुद्गल का परमाणु (णाणाखंधप्पदेसदो) नाना स्कन्धरूप प्रदेश वाला होने के कारण (बहुदेसो) बहुप्रदेशी (होदि) होता है (य) और (तेण) इसलिये (सव्वण्हु) सर्वज्ञदेव पुद्गलपरमाणु

को (उवयारा) व्यवहारनय मे (काओ) कायवान् (भणंति) कहते हैं ॥२६॥

भावार्थः—पुद्गल का एक परमाणु अनेक प्रकार के स्कन्धों के मिलने पर नानास्कन्ध रूप हो सकता है। इसलिये उसे कायवान् कहते हैं किन्तु कालाणु नानास्कन्धरूप नहीं हो सकता इसलिये कालाणु एकप्रदेशी है, कायवान् नहीं।

प्रदेश का लक्षण

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुवहद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥२७॥
यावतिकं आकाशं अविभागिपुद्गलाणवष्टब्धम्।
तं खलु प्रदेशं जानीहि सर्वाणुस्थानदानार्हम् ॥२७॥

अन्वयार्थः—(जावदियं) जितना (आयासं) आकाश (अविभागीपुग्गलाणुवहद्धं) अविभागी पुद्गलपरमाणु द्वारा व्याप्त हो (तं) उसे (खु) ही (सव्वाणुट्ठाणदाणरिह) सब प्रकार के अणुओं को स्थान देने योग्य (पदेसं) प्रदेश (जाणे) जानना चाहिये ॥२७॥

भावार्थः—आकाश के जितने क्षेत्र में पुद्गल का सबसे छोटा टुकडा आजावे उतने क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं। इसी प्रदेश में धर्म्म और अधर्म्म द्रव्य के प्रदेश, काल का अणु और पुद्गल के अनेक अणु, लोहे में आग के समान समा सकते हैं। इसलिये प्रदेश को सब द्रव्यों के अणुओं को स्थान देने योग्य कहा है।

छोटे से छोटा अणु, जिसका विभाग न हो सके उसे परमाणु कहते हैं।

इति अजीवाधिकारः

—: प्रथमोऽधिकारःसमाप्त :—

प्रश्नावली ।

१, 'जिणवरवसहेण' का स्पष्ट अर्थ समझाओ ।

२. सौ इन्द्र कौन २ से है नाम बताओ ।

३. जीव के कितने अधिकार है ? वही जीव संसारी और वही जीव सिद्ध अधिकार में है या कैसे ?

४. जीव के प्राण कितने होते है ? व्यवहार और निश्चयनय से बताओ ।

५. ज्ञानोपयोग के कितने और कौन २ से भेद हैं ?

६. अमूर्त्तिक किसे कहते हैं ? संसारी जीव मूर्त्तिक है या अमूर्त्तिक ?

७. व्यवहार और निश्चयनय से जीव किसका कर्त्ता और भोक्ता है ? रागादि-भावों का भोक्ता है या नहीं ?

८. जीव का देहप्रमाण कितना है, स्पष्ट समझाओ ।

९. पंचेन्द्रियजीव कितने प्रकार के होते है ? जीवसमास, मार्गणा और गुण-स्थान का क्या मतलब है ?

१०. असैनी पंचेन्द्रिय के कितने प्राण और कितनी पर्याप्तिया होती है ?

११. कालद्रव्य का उदाहरण सहित लक्षण बताओ । यह अस्तिकाय क्यों नहीं है ? अस्तिकाय किसे कहते हैं ?

१२. द्रव्यो के प्रदेशो की संख्या बताओ ।

१३. पुद्गल का परमाणु अस्तिकाय क्यों है ?

१४. आकाश किसे कहते है ?

१५। प्रदेश में सब अणुओं को स्थान देने योग्य बताया है । उसे समझाओ ।

आस्रव आदि पदार्थों का वर्णन ।

आसववंधणसंवरणिज्जरमोक्खा मपुरणपावा जे ।
जीवाजीवविसेसा तेवि समासेण पभणामो ॥२८॥
आस्रवबंधनसंवरनिर्जरमोक्षाः सपुण्यपापाः ये ।
जीवाजीवविशेषाः तान् अपि समासेन प्रभणामः ॥२८॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (आसववंधणसंवरणिज्जरमोक्खा) आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, (सपुरणपावा) पुण्य और पाप सहित सात तत्व हैं वे (जीवाजीवविसेसा) जीव और अजीव द्रव्य के भेद हैं (ते वि) उनको भी (समासेण) संक्षेप से (पभणामो) कहते हैं ॥२८॥

भावार्थः—जीव और अजीव द्रव्य में आस्रव आदि पांच तत्व और पुण्य एवं पाप अर्थात् पदार्थ भी शामिल ' हैं।

आत्मा चेतन है और कर्म अचेतन। जीव और कर्म का अनादिकाल से सम्बन्ध है। आस्रव आदि जीव के भी होते हैं, अजीव के भी। जीवास्रव, अजीवास्रव आदि। इसी प्रकार सब समझने चाहिये।

अजीवास्रव आदि से द्रव्यास्रव आदि जानना चाहिये और जीवास्रव आदि से भावास्रव आदि समझना चाहिये। द्रव्यास्रव और भावास्रव आदि द्वारा आगे वर्णन करेंगे।

- जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा मोक्ष ये ७ तत्त्व हैं इनमें पुण्य और पाप मिलाकर ९ पदार्थ कहलाते हैं। मोक्षमार्ग में ये ९ पदार्थ अवश्य जानने योग्य हैं। आस्रव आदि में जीव और अजीव अर्थात् आत्मा और कर्म दोनों का संबंध है। कर्मरहित आत्मा शुद्ध अर्थात् मुक्त कहलाता है।

' जीव और अजीव में छहों द्रव्य सातों तत्त्व और नौ पदार्थ शामिल हैं।

भावास्रव और द्रव्यास्रव का लक्षण।

आसवदि जेण कम्मं परिणामेण्पणो स विएणेओ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥२९॥
आस्रवति येन कर्म्म परिणामेन आत्मनः स विज्ञेयः।
भावास्रवः जिनोक्तः कर्म्मास्रवणं परः भवति ॥२९॥

अन्वयार्थः—(अप्पणो) आत्मा के (जेण) जिस (परिणामेण) परिणाम से (कम्मं) कर्म्म (आसवदि) आता है (सो) वह (जिणुत्तो) जिन भगवान का कहा हुआ (भावासवो) भावास्रव (विएणेओ) जानना चाहिये और (कम्मासवणं) पुद्गलकर्म्मों का आना (परो) द्रव्यास्रव (होदि) होता है ॥२९॥

भावार्थः—जीवों के कर्मबन्ध के कारण को आस्रव कहते है। इसके दो भेद हैं:—द्रव्यास्रव और भावास्रव। आत्मा के जिन रागादि भावों से पुद्गलद्रव्य कमरूप होते हैं, उन भावों को भावास्रव कहते हैं और जो कर्मरूप पुद्गलद्रव्य परिणमन करते हैं, उसे द्रव्यास्रव कहते हैं ॥२९॥

भावास्रवों के नाम और उनके भेद

मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोहादओऽथ विएणेया।
पण पण पणदह तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥३०॥
मिथ्यात्वाविरतिप्रमादयोगक्रोधादयः अथ विज्ञेयाः।
पञ्च पञ्च पञ्चदश त्रय चत्वारः क्रमशः भेदाः तु पूर्वस्य ॥

अन्वयार्थः—(अथ) और (पुव्वस्स) भावास्रव के (मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोहादओ) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोध आदि हैं (दु) और इनके (कमसो)

भावास्रव के भेद

- मिथ्यात्व ५
  - एकान्त १
  - विपरीत २
  - विनय ३
  - संशय ४
  - अज्ञान ५
- अविरति ५
  - हिंसा ६
  - अनृत ७
  - चौर्य ८
  - अब्रह्म ९
  - परिग्रह १०
- प्रमाद १५
  - विकथा ४
    - स्त्री ११
    - भोजन १२
    - राष्ट्र १३
    - राज १४
  - कषाय ४
    - क्रोध १५
    - मान १६
    - माया १७
    - लोभ १८
  - इन्द्रिय ५
    - स्पर्शन १९
    - रसना २०
    - घ्राण २१
    - चक्षु २२
    - श्रोत्र २३
  - निद्रा २४ (१)
  - प्रणय २५ (१)
- योग ३
  - मन २६
  - वचन २७
  - काय २८
- कषाय ४
  - क्रोध २९
  - मान ३०
  - माया ३१
  - लोभ ३२
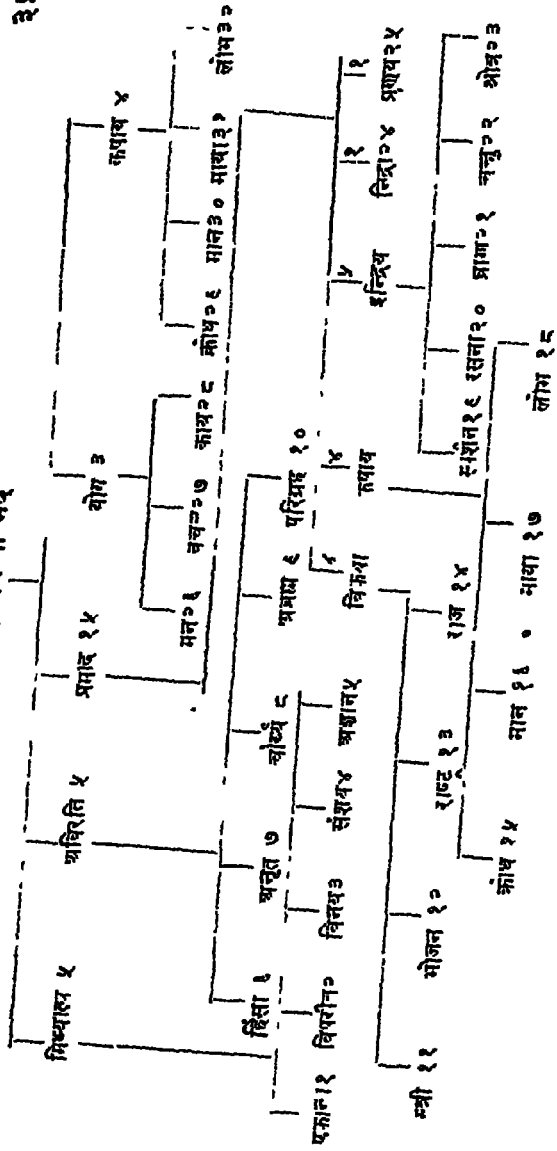
क्रम से (पण पण पणदह तिय चदु) पाँच, पाँच, पन्द्रह, तीन और चार ये ३२ (भेदा) भेद (विणेया) जानने चाहिये ॥२९॥

भावार्थः—५ मिथ्यात्व*, ५ अविरति, १५ प्रमाद†, ३ योग और ४ कषाय इस प्रकार भावास्रव के ३२ भेद होते हैं।

द्रव्यास्रव के भेद।

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेयो जिणक्खादो ॥३१॥
ज्ञानावरणादीनां योग्यं यत् पुद्गलं समास्रवति।
द्रव्यास्रवः सः ज्ञेयः अनेकभेदः जिनाख्यातः ॥३१॥

---

* मिथ्यात्व—पर पदार्थों में राग द्वेष रहित अपनी शुद्ध आत्मा के अनुभवन में श्रद्धान होना सम्यक्त्व है, यही आत्मा का निज भाव है। इसके विपरीत भाव को मिथ्यात्व कहते हैं।

अविरति—हिंसादिक पापों में तथा इन्द्रिय और मन के विषयों में प्रवृत्ति होने को अविरति कहते हैं।

प्रमाद—संज्वलन और नोकषाय के तीव्र उदय से अतिचार रहित चारित्र पालने में उत्साह न होना और स्वरूप की सावधानी न होना प्रमाद है।

योग—मन, वचन और काय से नोकर्म ग्रहण करने की शक्तिविशेष को योग कहते हैं।

कषाय—संज्वलन और नोकषाय के मन्द उदय से उत्पन्न आत्मा के परिणामविशेष को कषाय कहते हैं।

† विकहा तहा कसाया इंदिय णिद्दा तहेव पणओ य।
चदु चदु पणमेगेगं होंति पमादा हु पण्णरस ॥

अर्थ—४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रिय, १ निद्रा और १ स्नेह (४+४+५+१+१=१५) इस प्रकार प्रमाद के पन्द्रह भेद हैं।

अन्वयार्थः—(णाणावरणादीणं) ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्म्मों * के (जोग्गं) होने योग्य (जं) जो (पुग्गलं) कर्माणरूप पुद्गल (समासवदि) आता है (स) वह (अणेयभेयो) अनेक भेद वाला (दव्वासवो) द्रव्यास्रव (णेओ) जानना चाहिये। ऐसा (जिणक्खादो) जिनेन्द्र भगवान ने कहा है ॥३१॥

भावार्थः—ज्ञानावरण आदि आठ कर्म रूप होने योग्य कार्मणवर्गणा के पुद्गलस्कंध जो आते हैं उसे द्रव्यास्रव कहते हैं ॥

---

* आठ कर्म्मों का संक्षेप से लक्षण कहते हैं:—

१. **ज्ञानावरण**—जो जीव के ज्ञान को ढाके। इसके ५ भेद हैं।

२. **दर्शनावरण**—जो जीव के दर्शन को ढाके। इसके ९ भेद हैं।

३. **वेदनीय**—जो सुख और दुःख का अनुभव करावे और सुख दुःख की सामग्री पैदा करे। इसके दो भेद होते हैं।

४. **मोहनीय**—जो चारित्र को न होने दे। इसके मुख्य दो भेद हैं। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। जो जीव के सच्चे श्रद्धान को भ्रष्ट करके मिथ्यात्व पैदा करावे वह **दर्शनमोहनीय** है। इसके ३ भेद हैं। जो जीव के शुद्ध और शान्त चारित्र को बिगाड़ कर कषाय उत्पन्न करावे वह **चारित्रमोहनीय** है। इसके २५ भेद हैं। मोहनीय के कुल २८ भेद हैं।

५. **आयु**—जो जीव को नरक आदि एक भव में रोके रहे। इसके ४ भेद हैं।

६. **नाम**—जो शरीर का अनेक प्रकार का रूप पैदा करावे। इसके ९३ भेद हैं।

७. **गोत्र**—जो ऊँच और नीच अवस्था को प्राप्त करावे। इसके २ भेद हैं।

भावबन्ध और द्रव्यबन्ध का लक्षण ।

वज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो ।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥३२॥
बध्यते कर्म्म येन तु चेतनभावेन भावबन्धः सः ।
कर्म्मात्मप्रदेशानां अन्योन्यप्रवेशनं इतरः ॥३२॥

अन्वयार्थः—(जेण) जिस (चेदणभावेण) चैतन्यभाव से (कम्मं) कर्म्म (वज्झदि) बँधता है (सो) वह परिणाम (भावबंधो) भावबन्ध है (दु) और (कम्मादपदेसाणं) कर्म्म और आत्मा के प्रदेशों का (अण्णोण्णपवेसणं) एक दूसरे में मिलजाना (इदरो) द्रव्यबंध है ॥३२॥

भावार्थः—आत्मा के जिस विकारभाव से जीवात्मा में कर्म का बन्ध होता है उस विकारभाव को भावबन्ध कहते हैं। उस विकारभाव के कारण कर्मरूप पुद्गलपरमाणुओं का आत्मा के प्रदेशों में, दूध और पानी के समान मिल जाना द्रव्यबन्ध है।

बन्ध और उनके कारण ।

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो ।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥३३॥
प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात् तु चतुर्विधिः बन्धः ।
योगात् प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतः भवतः॥३२॥

---

८. अन्तराय—जो अन्तर डाले अथवा विघ्न पैदा करे। इसके ५ भेद हैं।

इस प्रकार आठ कर्मों के (५ + ९ + २ + २८ + ४ + ९३ + २ + ५ = १४८) एक सौ अडतालीस भेद होते हैं। वास्तव में कर्म्मों के अनन्त भेद हैं।

अन्वयार्थः—(बंधो) बन्ध (पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा) प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से (चदुविधो) चार प्रकार का होता है। इनमें (पयडिपदेसा) प्रकृति और प्रदेशबन्ध (जोगा) योग से (दु) और (ठिदिअणुभागा) स्थिति और अनुभागबन्ध (कसायदो) कषाय से (होंति) होते हैं ॥३३॥

भावार्थः—बन्ध के चार भेद हैं:—१ प्रकृति, २ स्थिति, ३ अनुभाग (अनुभव) और ४ प्रदेश। प्रकृति और प्रदेशबन्ध मन, वचन और काय से तथा स्थिति और अनुभाग बन्ध क्रोध आदि कषायों से होते हैं।

१. प्रकृति—कर्म जिस स्वभाव को लिये हुये हैं उसको प्रकृति कहते हैं। जैसेः—ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति पदार्थों को न जानने देना और दर्शनावरण की पदार्थों को न देखने देना आदि। नीम कडुआ और गुड़ मीठा है। इसी प्रकार सब कर्म्मों की प्रकृति जाननी चाहिये।

२. स्थिति—स्वभाव से नियमित काल तक नहीं छूटना, जैसे बकरी आदि के दूध में मीठापन है। मीठापन न छूटना स्थिति है। इसी प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्म्मों का पदार्थों को न जानने देना वगैरह स्वभाव नियमित काल तक न छूटना स्थितिबन्ध है।

३. अनुभाग—बकरी, गाय और भैंस आदि के दूध में तीव्र, मध्यम और मन्द आदि रूप से चिकनाई पाई जाती है। इसी प्रकार कर्म्मपुद्गलों की शक्तिविशेष को अनुभाग अथवा अनुभवबन्ध है। अर्थात् कर्मफलशक्ति को अनुभाग कहते हैं।

४. प्रदेश—आये हुये कर्मपरमाणुओं का आत्मा के

प्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाही होना अर्थात् कर्म्मों की संख्या को प्रदेशबन्ध कहते हैं ।

भावसंवर और द्रव्यसंवर का लक्षण ।

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणा अण्णो ॥३४॥
चेतनपरिणामः यः कर्म्मणः आस्रवनिरोधने हेतुः ।
सः भावसंवरः खलु द्रव्यास्रवरोधनः अन्यः ॥३४॥

अन्वयार्थः—(जो) जो (चेदणपरिणामो) आत्मा का परिणाम (कम्मस्स) कर्म्म के (आसवणिरोहणे) आस्रव के रोकने में (हेऊ) कारण है (सो) वह (खलु) ही (भावसंवरो) भावसंवर है और (दव्वासवरोहणो) द्रव्यास्रव का न होना (अण्णो) द्रव्यसंवर है ॥३४॥

भावार्थः—आत्मा के जिस परिणाम से कर्म आना वन्द हो उसे भावसंवर और द्रव्यास्रव का न होना द्रव्यसंवर है।

भावसंवर के भेद ।

वदसमिदीगुत्तीओ * धम्माणुपिहा परीसहजओ य ।
चारित्तं बहुभेयं ० णायव्वा भावसंवरविसेसा ॥३५॥

---

* "वद" के स्थान में "तव" भी पाठ है । जिसका अर्थ १२ प्रकार के तप होगा ।

० "बहुभेया" भी पाठ है । जिसका अर्थ "बहुत प्रकार के भावसंवर के भेद जानने चाहिये" । तब "बहुभेया भावसंवरविसेसा णायव्वा" ऐसा अन्वय होगा ।

भावसंवर के भेद

- व्रत ५
  - अहिंसा
  - सत्य
  - अस्तेय
  - ब्रह्मचर्य
  - अपरिग्रह
- समिति ५
  - ईर्य्या
  - भाषा
  - एषणा
  - आदाननिक्षेपण
  - उत्सर्ग
- गुप्ति ३
  - मन
  - वचन
  - काय
- धर्म्म १०
  - उत्तम क्षमा
  - मार्दव
  - आर्जव
  - शौच
  - सत्य
  - संयम
  - तप
  - त्याग
  - आकिंचन्य
  - ब्रह्मचर्य
- अनुप्रेक्षा १२
  - अनित्य
  - अशरण
  - संसार
  - एकत्व
  - अन्यत्व
  - अशुचि
  - आस्रव
  - संवर
  - निर्जरा
  - लोक
  - बोधिदुर्लभ
  - धर्म
- परीषहजय २२
  - क्षुधा
  - तृषा
  - शीत
  - उष्ण
  - दंशमशक
  - नाग्न्य
  - अरति
  - स्त्री
  - चर्या
  - निषद्या
  - शय्या
  - आक्रोश
  - वध
  - याचना
  - अलाभ
  - रोग
  - तृणस्पर्श
  - मल
  - सत्कारपुरस्कार
  - अज्ञान
  - प्रज्ञा
  - अदर्शन
- चारित्र ५
  - सामायिक
  - छेदोपस्थापना
  - परिहारविशुद्धि
  - सूक्ष्मसाम्पराय
  - यथाख्यात

५+५+३+१०+१२+२२+५=६२ भेद हैं ।

५ व्रत के स्थान पर १२ तप रखने से ६९ भेद हो जायेंगे ।
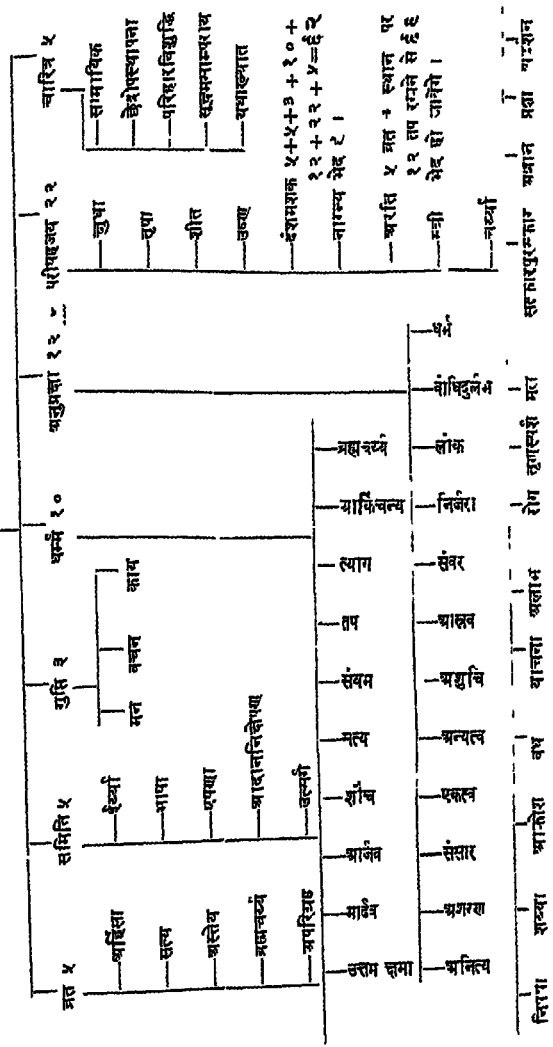
व्रतसमितिगुप्तयः धर्मानुप्रेक्षाः परीषहजयः च ।
चारित्रं बहुभेदं ज्ञातव्याः भावसंवरविशेषाः ॥३५॥

अन्वयार्थः—(वदसमिदीगुत्तीओ) व्रत, समिति, गुप्ति, (धम्माणुपिहा) धर्म्म, अनुप्रेक्षा, (परीसहजओ) परीषहजय (य) और (बहुभेयं) बहुत भेदवाला (चारित्तं) चारित्र ये (भावसंवर-विसेसा) भावसंवर के भेद (णायव्वा) जानने चाहिये ॥३५॥

भावार्थः—व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म्म, अनुप्रेक्षा (भावना), परीषहजय और चारित्र ये भावसंवर के भेद हैं।

व्रत—रागद्वेषादि विकल्पों से रहित होना व्रत है।

समिति—अपने शरीर से अन्य जीवों को पीडा न होने की इच्छा से यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करना समिति है।

गुप्ति—मन, वचन और काय को वश में करना गुप्ति है।

धर्म्म—जो संसार के दुःखों से छुडाकर उत्तम सुख में पहुंचावे उसे धर्म्म कहते हैं।

अनुप्रेक्षा (भावना)—बार २ विचार करने को अनुप्रेक्षा कहते हैं।

परीषहजय—रागद्वेष और कलुषतारहित होकर क्षुधा आदि २२ परीषहों को मुनि महराज सहन करते हैं। इसे परीषहजय कहते हैं।

चारित्र—आत्मा के स्वरूप में स्थित होना चारित्र है। इन सबके भेद चार्ट में दिये गये हैं॥

निर्जरा का लक्षण और उसके भेद

जहकालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण ।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ॥३६॥
यथाकालं तपसा च भुक्तरसं कर्मपुद्गलं येन ।
भावेन सडति ज्ञेया तस्सडनं चेति निर्जरा द्विविधा ॥३६॥

अन्वयार्थः—(जहकालेण) समय आने पर (य) और (तवेण) तप के द्वारा (भुत्तरस) सुख दुःख रूप जिसका फल भोगा जा चुका है ऐसा (कम्मपुग्गलं) कर्मरूप पुद्गल (जेण) जिस (भावेण) भाव से (सडदि) सड़ जाता है उसे भाव-निर्जरा (णेया) जाननी चाहिये (च) और (तस्सडनं) कर्मों का झरना द्रव्यनिर्जरा है (इदि) इस प्रकार (णिज्जरा) निर्जरा (दुविहा) दो प्रकार की होती है ॥३६॥

भावार्थः—निर्जरा के दो भेद हैः- १ द्रव्य और २ भाव। जिन भावों से कर्म छूटते हैं उनको भावनिर्जरा कहते हैं। भावनिर्जरा के भी दो भेद हैः—सविपाक और अविपाक। कर्मों की स्थिति पूरी होने पर अर्थात् फल देकर आत्मा से कर्मों का छूटना सविपाक निर्जरा है। तपश्चरण से कर्मों का छूटना अविपाक निर्जरा है॥ कर्मों का क्रमपूर्वक छूट जाना द्रव्यनिर्जरा है॥

मोक्ष के भेद और लक्षण।

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।
णेओ स भावमोक्खो दव्वविमोक्खो य कम्मपुधभावो ॥३७॥
सर्वस्य कर्मणः यः क्षयहेतुः आत्मनः हि परिणामः।
ज्ञेयः सः भावमोक्षः द्रव्यविमोक्षः च कर्मपृथग्भावः ॥३७॥

अन्वयार्थः—(जो) जे (अप्पणो) आत्मा का (परिणामो) परिणाम (सव्वस्स) समस्त (कम्मणो) कर्मों के (खयहेदू) क्षय होने में कारण है (स हु) उसे ही (भावमोक्खो) भावमोक्ष (णेओ) जानना चाहिये (य) और (कम्मपुधभावो) आत्मा से द्रव्यकर्मों का पृथक् हो जाना (दव्वविमोक्खो) द्रव्यमोक्ष है ॥३७॥

भावार्थः— मोक्ष † के दो भेद हैं:—भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष। आत्मा का जो परिणाम कर्म्मों के क्षय होने में कारण हो उसे भावमोक्ष कहते है और समस्त कर्म्मों का क्षय हो जाना द्रव्यमोक्ष है।

पुण्य और पाप का लक्षण।

सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।
सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च ॥३८॥
शुभाशुभभावयुक्ताः पुण्यं पापं भवन्ति खलु जीवाः।
सातं शुभायुः नाम गोत्रं पुण्यं पराणि पापं च ॥३८॥

अन्वयार्थः—(जीवा) जीव (सुहअसुहभावजुत्ता) शुभ और अशुभ भावों से सहित होकर (खलु) ही (पुण्णं) पुण्यरूप और (पावं) पापरूप (हवंति) होते है। (सादं) सातावेदनीय, (सुहाउ) शुभ आयु, (णामं) शुभनाम और (गोदं) शुभगोत्र—उच्चगोत्र ये सब (पुण्णं) पुण्य प्रकृतियाँ हैं और (पराणि) असातावेदनीय,

---

† बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः॥ आत्मा से कर्मबन्ध के कारणो का अभाव और निर्जरा के द्वारा सब कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष है।

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः॥

अर्थः—जैसे बीज के बिलकुल जल जाने पर अंकुर पैदा नहीं होता है वैसे ही कर्म्मरूप बीज के जल जाने पर अर्थात समस्त कर्म्मों का सर्वथा क्षय हो जाने पर ससार रूपी अंकुर पैदा नहीं होता अर्थात् जन्म मरण आदि कुछ नहीं होता है।

अशुभआयु, अशुभनाम और नीचगोत्र तथा चारों घातियाकर्म ये (पाचं) पापप्रकृतियाँ हैं ॥३८॥

भावार्थः—पुण्य और पाप के भी दो भेद हैं:—द्रव्यपुण्य और भावपुण्य तथा द्रव्यपाप और भावपाप । पुण्यप्रकृतियों को द्रव्यपुण्य और शुभ परिणाम सहित जीव को भावपुण्य कहते हैं। इसी प्रकार पापप्रकृतियों को द्रव्यपाप और अशुभ परिणाम सहित जीव को भावपाप कहते हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये ४ घातियाकर्म पापरूप हैं और वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंन्तराय, ये पुण्य और पाप दोनों रूप हैं।

प्रश्नावली

१. आस्रव आदि पदार्थों के नाम बताकर लिखो कि ये जीवरूप हैं या अजीवरूप ?

२ द्रव्यास्रव और भावास्रव में क्या अन्तर है आस्रव के कितने भेद हैं ? और कौन कौन ?

३. प्रकृति आदि बन्धों का लक्षण बताओ । बन्धों के कारण बताओ कि वे किससे होते है ? कषाय से कौनसा बन्ध होता है ?

४. प्रमाद किसे कहते है और उसके भेद बताओ ।

५ भावनिर्जरा के भेदों का स्वरूप बताओ । भावनिर्जरा किसे कहते हैं ?

६. पुण्यकर्म और पापकर्म कौन २ से हैं ?

७. भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष किसे कहते हैं ? मुक्तजीव कहाँ रहते हैं ?

८. जीव पुण्य अथवा पाप सहित कब होता है ?

९. संवर, निर्जरा और मोक्ष तथा तत्व और पदार्थ में क्या अन्तर है ?

१० द्रव्य और भाव का क्या अभिप्राय है ?

११. नौ पदार्थों का संक्षिप्त स्वरूप समझाओ ।

=÷ इति द्वितीयोऽधिकारः ÷=

व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग

सम्मद्दंसण णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्चयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥३९॥
सम्यग्दर्शनं ज्ञानं चरणं मोक्षस्य कारणं जानीहि।
व्यवहारात् निश्चयतः तत्त्रिकमयः निजः आत्मा ॥३९॥

अन्वयार्थः—(ववहारा) व्यवहारनय से (सम्मद्दंसण) सम्यग्दर्शन, (णाणं) सम्यग्ज्ञान और (चरणं) सम्यक्-चारित्र इन्हें (मोक्खस्स) मोक्ष के (कारणं) कारण (जाणे) समझो और (णिच्चयदो) निश्चयनय से (तत्तियमइओ) सम्यग्दर्शन आदि सहित (णिओ) अपना (अप्पा) आत्मा ही मोक्ष का कारण है ॥३९॥

भावार्थः— मोक्षमार्ग ‡ के दो भेद हैं:- व्यवहार और निश्चय। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर व्यवहारमोक्षमार्ग है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप अपना आत्मा ही निश्यमोक्षमार्ग है॥

---

‡ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः—अर्थ—सम्यग्दर्शन आदि तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है। पृथक् २ सम्यग्दर्शन आदि नहीं। जैसे—कोई बीमार केवल दवा का भरोसा करने ज्ञान करने और केवल उसका आचरण—सेवन करने से नीरोग नहीं हो सकता उसी प्रकार केवल सम्यग्दर्शन आदि से मोक्ष नहीं होता।

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः॥
संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञा नह्येकचक्रेण रथः प्रयाति।
अन्धश्च पंगुश्च वने प्रविष्टौ तौ संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ॥

निश्चयमोक्षमार्ग का विशेष कथन ।

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयत्तु अण्णदवियम्हि ।
तह्मा तत्तियमइओ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ॥४०॥
रत्नत्रयं न वर्त्तते आत्मानं मुक्त्वा अन्यद्रव्ये ।
तस्मात् त्रत्रिकमयः भवति खलु मोक्षस्य कारणं आत्मा ॥४०॥

अन्वयार्थः—(अप्पाणं) आत्मा को (मुयत्तु) छोड़कर (अण्णदवियम्हि) दूसरे द्रव्य में (रयणत्तयं) रत्नत्रय (ण) नहीं (वट्टइ) होता है (तह्मा) इसलिये (तत्तियमइओ) रत्नत्रयमहित (आदा) आत्मा (हु) ही (मोक्खस्स) मोक्ष का (कारणं) कारण (होदि) होता है ॥४०॥

भावार्थः—जीव और अजीव ये मुख्य दो द्रव्य हैं। अजीव के पुद्गल आदि ५ भेद हैं। सम्यग्दर्शन आदि गुण केवल जीवद्रव्य में ही रहता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन आदि आत्मा के गुण हैं। इसलिये रत्नत्रयस्वरूप आत्मा ही निश्चयमोक्षमार्ग है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण ।

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु ।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि ॥४१॥

अर्थ—क्रिया रहित ज्ञान निष्फल है और ज्ञानरहित क्रिया निष्फल है। जैसे—दौड़ना हुआ अन्धा जल गया और देखता हुवा लँगड़ा जल गया। यदि अन्धा लँगड़े की, और लँगड़ा अन्धे की सहायता करने लगे तो दोनों दावानल (जगल की आग) से बच सकते हैं। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अर्थात् तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है।

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं रूपं आत्मनः तत् तु ।
दुरभिनिवेशविमुक्तं ज्ञानं सम्यक् खलु भवति सति यस्मिन् ॥४१॥

अन्वयार्थः—(जीवादीसद्दहणं) जीव आदि तत्वों का श्रद्धान करना (सम्मत्तं) सम्यग्दर्शन है और (तं) वह (अप्पणो) आत्मा का (रूवं) स्वरूप है, (जम्हि सदि) जिसके होने पर (हु) ही (दुरभिणिवेसविमुक्कं) विपरीत * अभिप्रायों से रहित (णाणं) ज्ञान (सम्मं) सम्यक्रूप (होदि) होता है ॥४१॥

भावार्थः—सात तत्वों का श्रद्धान करना व्यवहार-सम्यग्दर्शन है। आत्मा का श्रद्धान करना निश्चयसम्यग्दर्शन है। संशयादि रहित सम्यग्ज्ञान है किन्तु वह सम्यग्दर्शन के होने पर ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

सम्यग्ज्ञान का लक्षण ।

संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स ।
गहणं सम्मं णाणं सायारमणेयभेयं च ॥४२॥
संशयविमोहविभ्रमविवर्जितं आत्मपरस्वरूपस्य ।
ग्रहणं सम्यक् ज्ञानं साकारं अनेकभेदं च ॥४२॥

---

* संशय, विपर्य्यय और अनध्यवसाय रूप ज्ञान को दुरभिनिवेश कहते हैं।

संशय—उभयकोटि को स्पर्श करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं। जैसे:—यह सीप है या चांदी।

विमोह, (अनध्यवसाय)—चलते हुये तिनके वगैरह का स्पर्श होने पर "कुछ होगा" ऐसा ज्ञान होना विमोह है।

विभ्रम (विपर्यय-विपरीत)—विपरीत पदार्थ को ही जानना। जैसे:—सीप को चांदी समझना।

अन्वयार्थः— (संसयविमोहविब्भमविवज्जियं) संशय, विमोह और विभ्रमरहित (सायारं) आकार * सहित (अप्प-परसरूवस्स) अपने और पर के स्वरूप का (गहणं) ग्रहण करना (सम्मं) सम्यक् (णाणं) ज्ञान है (च) और वह सम्यग्ज्ञान (अणेय-भेयं) अनेक प्रकार का है ॥४२॥

भावार्थः—संशयादि रहित एवं आकारसहित स्वपर पदार्थों का जानना सम्यग्ज्ञान है।

दर्शनोपयोग का लक्षण।

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समये ॥४३॥
यत् सामान्यं ग्रहणं भावानां नैव कृत्वा आकारम्।
अविशेषयित्वा अर्थान् दर्शनं इति भण्यते समये ॥४३॥

अन्वयार्थः—(अट्ठे) पदार्थों को (अविसेसिदूण) विशेषता न कर और (आयारं) आकार को (णेव) नहीं (कट्टं) ग्रहण कर (भावाणं) पदार्थों का (जं) जो (सामण्णं) सामान्य (गहणं) ग्रहण करना है वह (दंसणं) दर्शन † है। (इदि) ऐसा (समये) शास्त्र में (भण्णए) कहा जाता है ॥४३॥

भावार्थः—पदार्थों के सामान्य ग्रहण करने को दर्शन कहते हैं। इसमें "यह काला है" या "यह घड़ा है" इत्यादि किसी प्रकार का विकल्प पैदा नहीं होता। अथवा आत्मा के उपयोग का पदार्थ की तरफ झुकना दर्शन है।

---

* विकल्प

† विषयविषयिसन्निपाते दर्शनम्—अर्थः—पदार्थ से इन्द्रिय के मिलने पर दर्शन होता है।

दर्शन और ज्ञान की उत्पत्ति होने का नियम

दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा ।
जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोवि ॥४४॥
दर्शनपूर्वं ज्ञानं छद्मस्थानाम् न द्वौ उपयोगौ ।
युगपत् यस्मात् केवलिनाथे युगपत् तु तौ द्वौ अपि ॥४४॥

अन्वयार्थः—(छदुमत्थाणं) अल्पज्ञानियों ‡ के (दंसणपुव्वं) दर्शनपूर्वक (णाणं) ज्ञान होता है (जह्मा) क्योंकि (दुण्णि) दोनों (उवओगा) उपयोग (जुगवं) एक साथ (ण) नहीं होते (तु) परन्तु (केवलिणाहे) केवलज्ञानी के (ते) वे (दो वि) दोनों ही (जुगवं) एक साथ होते हैं ॥४४॥

भावार्थः—अल्पज्ञानियों को पहिले दर्शन होता है, बाद में ज्ञान होता है और सर्वज्ञदेव को दर्शन और ज्ञान दोनों एक साथ होते हैं ॥

व्यवहारचारित्र का लक्षण और भेद

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥४५॥
अशुभात् विनिवृत्तिः शुभे प्रवृत्तिः च जानीहि चारित्रम् ।
व्रतसमितिगुप्तिरूपं व्यवहारनयात् तु जिनभणितम् ॥४५॥

अन्वयार्थः—(असुहादो) अशुभ क्रियाओं से (विणिवित्ती)

---

‡ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान के धारक जीव छद्मस्थ अथवा अल्पज्ञानी कहलाते हैं । केवली भगवान् सर्वज्ञ हैं ।

निवृत्त होना (य) और (सुहे) शुभक्रियाओं में (पवित्ती) प्रवृत्ति करना (ववहारणया) व्यवहारनय से (चारित्तं) चारित्र (जाण) जानना चाहिये (तु) और वह चारित्र (जिणभणियं) जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहा हुवा (वदसमिदिगुत्तिरूवं) व्रत, समिति और गुप्तिस्वरूप है ॥४५॥

भावार्थः—अशुभ क्रियाओं को त्याग कर शुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति करना व्यवहारसम्यक्चारित्र है। वह ५ व्रत, † ५ समिति और ३ गुप्ति के भेद से १३ प्रकार का होता है।

निश्चयचारित्र का लक्षण

बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं ।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ॥४६॥
बहिरभ्यन्तरक्रियारोधः भवकारणप्रणाशार्थम् ।
ज्ञानिनः यत् जिनोक्तम् तत् परमं सम्यक्चारित्रम् ॥४६॥

अन्वयार्थः—(भवकारणप्पणासट्ठं) संसार के कारणों का नाश करने के लिये (णाणिस्स) ज्ञानी का (जं) जो (बहिरब्भंतर-किरियारोहो) बाह्य † और अभ्यन्तर ＊ क्रियाओं का रोकना है (तं) वह (जिणुत्तं) जिनेन्द्र भगवान् का कहा हुआ (परमं) उत्कृष्ट ‡ (सम्मचारित्तं) सम्यक्चारित्र है ॥४६॥

---

† व्रत आदि के नाम ३५ वीं गाथा के चार्ट में देखिये।

† शुभ और अशुभ रूप वचन और कायकी क्रिया बाह्यक्रिया है। ＊ शुभ अथवा अशुभ मन के विकल्प—विचार करना अभ्यन्तरक्रिया कही जाती है।

‡ निश्चय

भावार्थः—ज्ञानी जीव संसार से बचने के लिये मन, वचन और काय से शुभ और अशुभ क्रियाओं को रोकता है, इससे आत्मा अधिक निर्मल बनता है। इसे ही निश्चयसम्यक्‌चारित्र कहते हैं॥

ध्यानाभ्यास करने की प्रेरणा

दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा ।
तह्मा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥४७॥
द्विविधं अपि मोक्षहेतुं ध्यानेन प्राप्नोति यत् मुनिः नियमात् ।
तस्मात् प्रयत्नचित्ताः यूयं ध्यानं समभ्यसत ॥४७॥

अन्वयार्थः—(जं) क्योंकि (मुणी) मुनि (णियमा) नियम से (दुविहं पि) दोनों ही (मोक्खहेउं) मोक्ष के कारणों को (झाणे) ध्यान से (पाउणदि) प्राप्त करता है (तह्मा) इसलिये (जूयं) तुम (पयत्तचित्ता) प्रयत्नशील होकर (झाणं) ध्यान † का (समब्भसह) अभ्यास करो ॥४७॥

भावार्थः—मुनि ,ध्यान से व्यवहार और निश्चय दोनों मोक्षमार्गों को प्राप्त कर लेते हैं। इसलिये तुम्हें भी एकाग्रचित्त होकर ध्यान का अभ्यास करना चाहिये॥

---

† उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्:—

अर्थः—उत्तम (वज्रऋषभनाराच, वज्रनाराच, और नाराच) संहनन वाले का एकाग्रतापूर्वक चिन्ता का रोकना ध्यान है। यह अन्तर्मुहूर्त अर्थात् दो घडी से कुछ कम समय तक रहता है। अन्य क्रियाओं से चित्त को हटाकर एकही क्रिया में रखना एकाग्रचिन्तानिरोध कहलाता है।

ध्यान में लीन होने का उपाय।

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥४८॥
मा मुह्यत मा रज्यत मा द्विष्यत इष्टानिष्टार्थेषु।
स्थिरं इच्छत यदि चित्तं विचित्रध्यानप्रसिद्ध्यै ॥४८॥

अन्वयार्थः— (जइ) अगर (विचित्तझाणप्पसिद्धीए) विचित्त + अर्थात् अनेक प्रकार के ध्यानों को प्राप्त करने के लिये (चित्तं) चित्त को (थिरं) स्थिर करना (इच्छह) चाहते हो तो (इट्ठणिट्ठअत्थेसु) इष्ट ‡ और अनिष्ट † पदार्थों में (मा मुज्झह) मोह मत करो, (मा रज्जह) राग मत करो और (मा दुस्सह) द्वेष मत करो ॥४८॥

भावार्थः—संसारी जीव इष्ट पदार्थों से मोह करते हैं और उन्हीं में अधिक अनुराग करते हैं तथा अनिष्ट पदार्थों से द्वेष करते हैं। उत्तम ध्यान की प्राप्ति के लिये ऐसा नहीं करना चाहिये। संसार के विषयों में राग, और द्वेष मोह करने से जीव संसारी बना रहता है। ध्यान से निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति होती है क्योंकि ध्यान से आत्मा का श्रद्धान व ज्ञान होता है और आत्मा आत्मा में ही लीन रहता है तथा हिंसादि पापों से बचाव भी होता है। इससे व्यवहाररत्नत्रय की प्राप्ति भी ध्यान से होती है। इसलिये ध्यान करना परम आवश्यक है।

+ विचित्त का अर्थ शुभ और अशुभ विकल्प रहित और अनेक प्रकार के पदस्थ ध्यान आदि भी होता है।

‡ पुत्र, स्त्री, धन, माला आदि।

† सर्प, शत्रु, विष कण्टक आदि।

ध्यान करने योग्य मन्त्र

पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह ।
परमेट्ठिवाचयाणं अराणं च गुरूवएसेण ॥४६॥
पञ्चत्रिंशत् षोडश षट् पञ्च चत्वारि द्विकं एकं च जपत ध्यायेत
परमेष्ठिवाचकानां अन्यत् च गुरूपदेशेन ॥४६॥

अन्वयार्थः—(परमेट्ठिवाचयाणं) परमेष्ठीवाचक† (पणतीस) पैंतीस, (सोल) सोलह, (छप्पण) छह, पाँच, (चदु) चार, (दुगं) दो, (च) और एक (च) तथा (गुरूवएसेण) गुरुओं के उपदेश से (अराणं) अन्य मन्त्र भी (जवह) जपो और (झाएह) उनका ध्यान करो ॥४६॥

भावार्थः—ध्यान करते समय परमेष्ठीवाचक मन्त्रों‡ की अथवा गुरुओं की आज्ञा से सिद्धचक्र आदि मंत्रों की जाप देनी चाहिये ॥

---

† अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये पञ्चपरमेष्ठी कहे जाते हैं।

‡ ध्यान करने योग्य मन्त्र —

पैंतीस अक्षरो का मन्त्रः—

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आइरीयाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥ (सर्वपद)

सोलह अक्षरों का मंत्रः—अरहंत सिद्ध आइरिय उवज्झाय साहू ।
(नामपद)

छह अक्षरों के मन्त्रः—अरिहंत सिद्ध, अरहंत सिद्ध, अरहंत सि सा, ओं नमः सिद्धेभ्यः, नमोऽर्हत्सिद्धेभ्यः।

पाच अक्षरो के मन्त्र—अ सि आ उ सा । (आदिपद)

चार अक्षरो के मन्त्रः—अरहंत, असिसाहू, अरिहंत ।

अरहन्तपरमेष्ठी का लक्षण ।

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमइओ ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥५०॥

नष्टचतुर्घातिकर्म्मा दर्शनसुखज्ञानवीर्यमयः ।
शुभदेहस्थः आत्मा शुद्धः अर्हन् विचिन्तनीयः ॥५०॥

अन्वयार्थः—(णट्ठचदुघाइकम्मो) जिसने चारघातियाकर्म्मों को नष्ट कर दिया है, (दंसणसुहणाणवीरियमइओ) अनन्तदर्शन, सुख, ज्ञान और वीर्यसहित है, (सुहदेहत्थो) ऐसा सप्तधातुरहित परमौदारिक शरीर में स्थित और (सुद्धो) अठारह दोष रहित (अप्पा) आत्मा (अरिहो) अरहन्तपरमेष्ठी (विचिंतिज्जो) ध्यान करने योग्य है ॥५०॥

दो अक्षरों के मन्त्रः—सिद्ध, अ आ, ओं ह्रीं ।

एक अक्षर के मन्त्रः—अ, ओम् ।

"ओम्" कैसे बनता है :—

अरहंता असरीरा आयरिया तह उवज्झया मुणिणो ।
पढमक्खरणिप्पण्णो ओंकारो पंचपरमेट्ठी ॥

अर्थः—पाचो परमेष्ठियों के पहिले अक्षरो की सन्धि करने पर 'ओम्' बनता है । यही नीचे बताते हैं:—

अरहन्त	अ	आ	आ	ओ	ओम्
अशरीर (सिद्ध)	अ				
आचार्य्य	आ				
उपाध्याय	उ				
मुनि (सर्वसाधु)	म्				

भावार्थः—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये ४ घातियाकर्म्म हैं। इनको नष्ट कर देने वाले, अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य अर्थात अनन्तचतुष्टय धारण करने वाले, रक्त मांस आदि सात धातुओं से रहित, उत्तम परम औदारिक शरीर धारण करने वाले और जन्म जरा इत्यादि अठारह * दोष रहित देव ही अरहन्तपरमेष्ठी हैं ॥५०॥

सिद्धपरमेष्ठी का लक्षण ।

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा ।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो ॥५१॥
नष्टाष्टकर्म्मदेहः लोकालोकस्य ज्ञायकः द्रष्टा ।
पुरुषाकारः आत्मा सिद्धः ध्यायेत लोकशिखरस्थः ॥५१॥

अन्वयार्थः—(णट्ठट्ठकम्मदेहो) जिसने ज्ञानावरण आदि आठ कर्म रूप शरीर को नष्ट कर दिया है, (लोयालोयस्स) लोक और अलोक को जानने वाला तथा (दट्ठा) देखने वाला है, (पुरिसायारो) देह रहित किन्तु पुरुष के आकार में रहनेवाला

---

* अठारह दोष—

क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम् ।
जरा रुजा च मृत्युश्च खेदः स्वेदो मदोऽरतिः ॥
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश स्मृताः ।
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः ॥

अर्थः—भूख, प्यास, भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, बुढ़ापा, रोग, मरण, खेद, स्वेद, मद, अरति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा और शोक इन अठारह दोषो से रहित आप्त-देव अथवा अरहन्त कहलाते हैं ।

(अप्पा) आत्मा (सिद्धो) सिद्धपरमेष्ठी है। उसका सदा (झाएह) ध्यान करना चाहिये ॥५१॥

भावार्थः—४ घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, और अन्तराय) ४ अघातिया (वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र) इन आठ कर्म्मों को नष्ट करने वाले, तीनलोक और तीनकाल के समस्त पदार्थों को दर्पण के समान—देखने जानने वाले, अन्तिम मनुष्य शरीर के आकार से कम, आत्मा के प्रदेशों का आकार धारण करने वाले और लोक के अग्रभाग में रहने वाले सिद्ध-परमेष्ठी हैं। इनका सदा ध्यान करना चाहिये।

आचार्यपरमेष्ठी का लक्षण।

दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी झेओ ॥५२॥

दर्शनज्ञानप्रधाने वीर्यचारित्रवरतप आचारे।
आत्मानं परं च युनक्ति सः आचार्य्यः मुनिः ध्येयः ॥५२॥

अन्वयार्थः—(दंसणणाणपहाणे) दर्शनाचार और ज्ञानाचार है प्रधान जिनमें ऐसे (वीरियचारित्तवरतवायारे) वीर्याचार, चारित्राचार और तपाचार इन पाँच आचारों में जो (मुणी) मुनि (अप्पं) अपने को (च) और (परं) दूसरे को (जुंजइ) लगाता है (सो) वह (आयरिओ) आचार्यपरमेष्ठी (झेओ) ध्यान करने योग्य है ॥५२॥

भावार्थः—जो साधु दर्शन, ज्ञान, वीर्य, चारित्र और तप इन पाँच आचारों में स्वयं लीन रहते हैं—इनका आचरण करते हैं और दूसरों को भी इनका आचरण कराते हैं उन्हें आचार्य-परमेष्ठी कहते हैं। इनका सदा ध्यान करना चाहिये ॥५२॥

सम्यग्दर्शन में परिणामन करना दर्शनाचार, सम्यग्ज्ञान में लगना ज्ञानाचार, वीतरागचारित्र में लगना चारित्राचार, तप में लगना तपाचार और इन चारों आचारों के करने में अपनी शक्ति नहीं छिपाना वीर्याचार है।

उपाध्यायपरमेष्ठी का लक्षण।

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवएसणे णिरदो।
सो उवझाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥५३॥
यः रत्नत्रययुक्तः नित्यं धर्म्मोपदेशने निरतः।
सः उपाध्यायः आत्मा यतिवरवृषभः नमः तस्मै ॥५३॥

अन्वयार्थः—(जो) जो (रयणत्तयजुत्तो) रत्नत्रय सहित (णिच्चं) नित्य (धम्मोवएसणे) धर्म्मोपदेश करने में (णिरदो) लीन रहता है (सो) वह (जदिवरवसहो) यतियों में श्रेष्ठ (उवझाओ) उपाध्याय परमेष्ठी है। (तस्स) उसको (णमो) नमस्कार है ॥५३॥

भावार्थः—जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सहित है और सदा धर्म्म का उपदेश दिया करते हैं वे उपाध्याय परमेष्ठी है।

साधु का लक्षण

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स ॥५४॥
दर्शनज्ञानसमग्रं मार्गं मोक्षस्य यः हि चारित्रम्।
साधयति नित्यशुद्धं साधुः सः मुनिः नमः तस्मै ॥५४॥

अन्वयार्थः—(जो) जो (मुणी) मुनि (दंसणणाणसमग्गं) दर्शन और ज्ञान सहित (मोक्खस्स) मोक्ष के (मग्गं) मार्गस्वरूप (णिच्चसुद्धं) सदा शुद्ध (चारित्तं) चारित्र को (साधयदि) साधता है (स) वह (साहू) साधुपरमेष्ठी है। (तस्स) उसको (णमो) नमस्कार है ॥५४॥

जो मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को साधते हैं अर्थात् रत्नत्रय धारण करते हैं उन्हे साधु परमेष्ठी * कहते हैं। रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है।

ध्येय, ध्याता और ध्यान का लक्षण

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूण य एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्चयं झाणं ॥५५॥
यत् किञ्चित् अपि चिन्तयन् निरीहवृत्तिः भवति यदा साधुः।
लब्ध्वा च एकत्वं तदा आहुः तत् तस्य निश्चयं ध्यानम् ॥५५॥

अन्वयार्थः—(च) और (जदा) जब (साहू) साधु (एयत्तं) एकाग्रता को प्राप्त कर (जं किंचि वि) जो कुछ भी (चिंतंतो) विचार करता हुवा (णिरीहवित्ती) इच्छारहित होता है (तदा) तब (हु) ही (तस्स) उस साधु का (तं) वह ध्यान (णिच्चयं) निश्चय (झाणं) ध्यान (हवे) होता है ॥५५॥

भावार्थः—जब साधु मन, वचन और काय की क्रियाओं को रोक कर समस्त अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रह से ममत्व

---

* आचार्य, उपाध्याय और साधुपरमेष्ठी ये तीनो गुरु, साधु और मुनि कहलाते हैं। इन तीनों का बाह्य स्वरूप नग्न-दिगम्बर, मोर की पीछी और काठ का कमंडलु है, केवल पदवी का भेद है।

छोड़ देता है उस समय एकाग्रतापूर्वक ध्यान करना ही निश्चय ध्यान है ॥

वस्तु का स्वरूप अरहन्त आदि ध्येय, शुद्ध मन, वचन और काय वाला आत्मा ध्याता तथा "णमो अरहंताणं" आदि का एकाग्रतापूर्वक चिन्तवन करना ध्यान † है।

परमध्यान का लक्षण

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किं वि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं ॥५६॥

मा चेष्टत मा जल्पत मा चिन्तयत किम् अपि येन भवति स्थिरः ।
आत्मा आत्मनि रतः इदं एव परं ध्यानं भवति ॥५६॥

अन्वयार्थः—हे भव्यपुरुषो ! (किं वि) कुछ भी (मा चिट्ठह) चेष्टा मत करो, (मा जंपह) मत बोलो, (मा चिंतह) मत चिन्तवन करो (जेण) जिससे (अप्पा) आत्मा (अप्पम्मि) आत्मा में (रओ) लीन होकर (थिरो) स्थिर (होइ) होता है। इसलिये (इणं एव) यह ही (परं) उत्कृष्ट (झाणं) ध्यान है ॥५६॥

भावार्थः—मन, वचन और काय की क्रियाओं को रोक कर आत्मा का आत्मा में ही लीन होना परम ध्यान है।

---

† गुप्तेन्द्रियमनो ध्याता, ध्येयं वस्तु यथास्थितम् ।
एकाग्रचिन्तनं ध्यानं, फलं संवरनिर्जरौ ॥

अर्थः—ध्याता, ध्येय और ध्यान का लक्षण ऊपर बता दिया है। ध्यान का फल संवर और निर्जरा है।

तप, व्रत और श्रुत में लीन होने के लिये प्रेरणा

तवसुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥५७॥
तपःश्रुतव्रतवान् चेता ध्यानरथधुरन्धरः भवति यस्मात् ।
तस्मात् तत्त्रिकनिरताः तल्लब्ध्यै सदा भवत ॥५७॥

अन्वयार्थः—(जम्हा) क्योंकि (तवसुदवदवं) तप, श्रुत और व्रतों का धारक (चेदा) आत्मा (झाणरहधुरंधरो) ध्यान रूपी रथ की धुरा का धारक (हवे) होता है। (तम्हा) इसलिये (तल्लद्धीए) उस परमध्यान की प्राप्ति के लिये (सदा) निरन्तर (तत्तियणिरदा) तप, श्रुत और व्रत इन तीनों में लीन (होह) होओ ॥५७॥

भावार्थ—तपश्चरण करने वाला, शास्त्रों का ज्ञान रखने वाला और अहिंसा आदि महाव्रतों का पालन करने वाला आत्मा ही उत्कृष्ट ध्यान प्राप्त कर सकता है। इसलिये तप आदि में सदा लीन रहना चाहिये।

ग्रन्थकार का अन्तिम निवेदन

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोसंसचयचुदा सुदपुण्णा ।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचंदमुणिणा भणियंजं ॥५८॥
द्रव्यसंग्रहं इदं मुनिनाथाः दोषसंचयच्युताः श्रुतपूर्णाः ।
शोधयन्तु तनुसुत्रधरेण नेमिचन्द्रमुनिना भणितं यत् ॥५८॥

अन्वयार्थ—(तणुसुत्तधरेण) अल्पज्ञानधारक (णेमिचंद-मुणिणा) नेमिचन्द्र मुनि ने (जं) जो (इणं) यह (दव्वसंगहं)

द्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ (भणियं) कहा है। इसे (दोससंचयचुदा) दोषों के समूह से रहित (मुणिणाहा) मुनिनाथ (सोधयंतु) शुद्ध करें ॥५८॥

भावार्थ—रागादि तथा संशय आदि दोष रहित द्रव्य-श्रुत ÷ और भावश्रुत + के ज्ञाता मुनीश्वर, अल्पज्ञानी नेमिचन्द्र मुनि द्वारा रचित द्रव्यसंग्रह का संशोधन कर पठन-पाठन करें।

÷ वर्तमान परमागमरूप द्रव्यश्रुत + तज्जन्य स्वसंवेदनरूप भावश्रुत।

प्रश्नावली

१ व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप बताओ ।

२. वास्तव में मोक्ष का क्या कारण है ? क्या आत्मा के सिवाय कोई मोक्ष-मार्ग है ?

३. सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ? मनुष्य का सामान्यज्ञान सम्यग्ज्ञान कब होता है ?

४ दर्शन और ज्ञान के उत्पन्न होने का क्या नियम है ? केवली भगवान को दोनों साथ होते हैं या आगे पीछे ?

५. व्यवहारनय की अपेक्षा से चारित्र का क्या लक्षण है ? और व्यवहार-चारित्र के कितने भेद होते हैं ?

६. ध्यान करने से क्या लाभ है ? ध्यान में क्या जपना चाहिये और ध्यान का क्या फल है ?

७. "ओम्" सिद्ध करो। छह चार और दो अक्षर वाले मंत्र बताओ।

८. आचार्य, उपाध्याय और साधुपरमेष्ठी में क्या समानता और असमानता है ?

९. निश्चयध्यान का स्वरूप क्या है और साधु निश्चयध्यान कब प्राप्त करता है ?

१०. उत्कृष्टध्यान का स्वरूप समझाओ।

११. अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी में क्या अन्तर है?

—॥ इति तृतीयोऽधिकारः ॥—

ग्रन्थ का सारांश

प्रथम अधिकार

छह द्रव्यों का वर्णन

आचार्य्य ने पहिली गाथा में ही वर्णन किया है कि द्रव्य के दो भेद हैं— जीव और अजीव। जीव-चेतन और अजीव अचेतन। इनके सिवाय संसार में, किसी सिद्धान्त में और तत्व नहीं प्राप्त हो सकता। सब इन्हीं दोनों में गर्भित हो जाते हैं।

आत्मा चेतन है और कर्म अचेतन। इन दोनों का परस्पर अनादिकाल से सम्बन्ध है। जब तक इनका परस्पर संबंध रहता है तब तक जीव संसारी कहलता है और जब आत्मा कर्मरहित हो जाता है तब वही जीव मुक्त कहलाता है। इसलिये जब तत्वप्रेमियों को जीव और अजीव का भलीभाँति ज्ञान हो जाता है तब उनके लिये संसार में और कुछ जानने के योग्य विषय नहीं रहता है। कर्म्मों के कारण आत्मा का असली स्वभाव प्रकट नहीं हो पाता। इसलिये आत्मा रुपी सूर्य से कर्मरूपी बादलों का हटाना ही आत्मज्ञों का प्रथम धर्म्म है। इसे ही समझाने के लिये आचार्य ने जीव के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है:—

जीवत्व, उपयोगमय, अमूर्त्तिक, कर्त्ता, स्वदेहपरिमाण, भोक्ता, ससारस्थ, सिद्ध और विस्रसा ऊर्ध्वगमन ये जीव के

६ अधिकार हैं। इनसे जीव के वास्तविक (असली) स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। आचार्य इन्हें व्यवहारनय और निश्चयनय से प्रत्येक अधिकार को लिख रहे हैं। व्यवहार का अर्थ उपचार अथवा लोकव्यवहार और निश्चय का अर्थ वास्तविक स्वरूप है। जैसे मिट्टी के घड़े को मिट्टी का कहना व्यवहारनय है और मिट्टी के घड़े में घी, दूध, रस आदि रखे रहने पर उसे घी का घड़ा और दूध का घड़ा आदि कहना निश्चयनय है।

इसलिये जीव निश्चयनय से शुद्ध चेतना स्वरूप है, अनन्तदर्शनज्ञान स्वरूप है, अमूर्त्तिक है, अपने शुद्ध भावों का कर्त्ता है, चैतन्यगुणों का भोक्ता है, लोकाकाश के बराबर असंख्यातप्रदेशी है, शुद्ध है, सिद्ध है, नित्य है, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित है तथा स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

व्यवहारनय से इन्द्रियादि दस प्राणों से जीता है, मतिज्ञान और चक्षुदर्शन आदि यथायोग्य उपयोगों सहित है, कर्म्मों का कर्त्ता है, सुख दुःखरूप कर्मफलों को भोगता है, नामकर्म के उदय से प्राप्त अपने छोटे बड़े शरीर के बराबर है, जीवसमास, मार्गणा और गुणस्थानों की अपेक्षा १४ १४ प्रकार का है, अशुद्ध है, संसारी है और विदिशाओं को छोड़कर गमन करने वाला है।

अजीवद्रव्य के ५ भेद हैं—पुद्गल, धर्म्म, अधर्म्म, आकाश और काल। जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाया जावे उसे पुद्गलद्रव्य कहते हैं। इसके अणु और स्कन्धों की अपेक्षा अनेक भेद होते हैं। जीव और पुद्गलों को चलने में सहायता करने वाला धर्म्मद्रव्य है और ठहरने में सहायता करने वाला अधर्म्मद्रव्य है। जीवादि द्रव्यों को स्थान देने वाला

आकाशद्रव्य है और जीवादि द्रव्यों का वर्तन और परिणमन कराने वाला कालद्रव्य है। इस प्रकार छहों द्रव्यों का संक्षिप्त लक्षण हुआ। कालद्रव्य को छोड़कर शेष पाँचों द्रव्यों को बहु-प्रदेशी होने के कारण अस्तिकाय कहते हैं।

द्वितीय अधिकार।

नौ पदार्थों का वर्णन।

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व होते हैं तथा पुण्य और पाप मिलाकर नौ पदार्थ कहे जाते हैं। इन्हीं का स्वरूप इस अधिकार में है:—

१. **जीव**—जिसमें चैतन्य अर्थात् ज्ञान और दर्शन पाया जावे।

२. **अजीव**—जिसमें ज्ञान और दर्शन नहीं पाया जावे।

३. **आस्रव**—बन्ध के कारण अर्थात् कषायादि के कारण ज्ञानावरण आदि कर्मों का आना।

४. **बन्ध**—रागद्वेषादि भावों के कारण आत्मा और कर्मों का परस्पर एकक्षेत्रावगाही होना।

५. **संवर**—उत्तमक्षमा और अहिंसादि के कारण ज्ञानावरणादि नवीन कर्मों का आस्रव न होना—प्रतिबन्ध करना।

६. **निर्जरा**—विशुद्ध भावों के द्वारा संचित कर्मों का एकदेश क्षय होना।

७. **मोक्ष**—समस्त कर्मों का पूर्ण रूप से क्षय हो जाना।

८. **पुण्य**—शुभ परिणामों से अधिकतर शुभ कर्मप्रकृतियों का आस्रव या बन्ध होना।

९. **पाप**—अशुभ परिणामों से अधिकतर अशुभ कर्म—प्रकृतियों का आस्रव या बन्ध होना।

जीवास्रव, जीवबन्ध, इत्यादि को भावास्रव, भावबन्ध और अजीवास्रव, अजीवबन्ध इत्यादि को द्रव्यास्रव, द्रव्यबन्ध आदि नामों से ग्रन्थ में वर्णन किया है। प्रत्येक पदार्थ के द्रव्य और भाव की अपेक्षा से दो भेद बताये है।

तृतीय अधिकार

मोक्षमार्ग का कथन।

व्यवहारनय से "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र की एकता ही मोक्ष का कारण है और निश्चयनय से सम्यग्दर्शनादि-रत्नत्रय स्वरूप आत्मा ही मोक्ष का प्रधान कारण है। जीवादि सात तत्त्वों का श्रद्धान करना व्यवहारसम्यग्दर्शन है। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। आत्मा का श्रद्धान करना निश्चयसम्यग्दर्शन और आत्मा का ज्ञान करना निश्चयसम्यग्ज्ञान है। सम्यक्‌चारित्र के भी दो भेद हैं—व्यवहार और निश्चय। व्रत, समिति आदि का आचरण करना व्यवहारचारित्र है और यह निश्चयचारित्र का कारण है। आत्मा के स्वरूप में लीन होना निश्चयसम्यक्‌-चारित्र है।

चारित्र प्राप्त करने के लिये ध्यान करना अत्यन्त आवश्यक है। इष्ट पदार्थों से राग और अनिष्ट पदार्थों से द्वेष नहीं करना चाहिये। रागद्वेष और मोह से छूटने के लिये 'ओम्' अथवा "णमो अरहंताणं" आदि अथवा णमोकारमन्त्र इत्यादि का सदा स्मरण करना चाहिये। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन्हें परमेष्ठी कहते हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु इन्हें

गुरु कहते हैं। अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी, भगवान अथवा देव कहे जाते हैं।

मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों का पूर्ण रूप से रोकना ही परमध्यान अथवा उत्कृष्ट ध्यान है और यही मोक्ष का साक्षात् कारण है।

अर्थसंग्रह

अ

अघातिकर्म—जो आत्मा के ज्ञानदर्शनादि गुणों को न घात कर अव्याबाध आदि गुणों को घाते। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म।

अधिकार—प्रकरण, परिच्छेद, अध्याय।

अचक्षुदर्शन—चक्षुइन्द्रिय के सिवाय अन्य इन्द्रियों तथा मन से पदार्थों की सत्तामात्र को जानने वाला।

अजीव—जिसमें चैतन्य (ज्ञान, दर्शन) न हो।

अणु—पुद्गल का सब से छोटा हिस्सा, जिसका दूसरा टुकड़ा न हो सके।

अधर्म्मद्रव्य—जो जीव और पुद्गलों को ठहरने में मदद करे।

अनिष्ट—मन को अप्रसन्न करने वाले पदार्थ।

अनुप्रेक्षा—तत्वों का बारबार विचार करना।

अनुभागबन्ध (अनुभव)—कम अधिक फल देने की योग्यता।

अभ्यन्तरक्रिया—आत्मा के योग और कषायरूप परिणाम होना।

अमनस्क—मनरहित जीव।

अमूर्त्तिक—जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श न पाया जावे।

अरहन्तपरमेष्ठी—ज्ञानावरण आदि चार घातिया कर्म्मों को नष्ट कर

अनन्तज्ञानादि गुणों को धारण करने वाले जिनेन्द्र भगवान् ।

अलोकाकाश—जिसमें केवल आकाशद्रव्य हो ।

अवधिदर्शन—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिये रूपी पदार्थों की सत्तामात्र जानने वाला ।

अवधिज्ञान—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिये रूपी पदार्थों को जानने वाला ।

अविपाकभावनिर्जरा—कर्मों की स्थिति पूरी हुये बिना होने वाली निर्जरा ।

असंख्यदेश—लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेश वाला ।

अस्तिकाय—जो द्रव्य "हैं और कायवान्" अर्थात् बहुप्रदेशी हैं । जैसे—जीव, पुद्गल, धर्म्म, अधर्म्म, आकाश ।

आ

आकाश—जीव आदि सभी द्रव्यों को अवकाश देने वाला ।

आचार्यपरमेष्ठी—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तप इन पांच आचारों में अपने को और दूसरों को लगाने वाला ।

आतप—सूर्य तथा सूर्यकान्तमणि में रहने वाला गुणविशेष ।

आयु—नरक आदि गतियों में रोकने वाला कर्म्म ।

आस्रव—आत्मा में मन, वचन और काय के द्वारा कर्म्म आते हैं इसलिये योग को आस्रव कहते हैं ।

इ

इन्द्रियः—आत्मा के अस्तित्व को बतानेवाला अथवा परोक्षज्ञान उत्पन्न करने का साधन ।

इष्टः—मन को प्रसन्न करने वाला पदार्थ ।

उ

उत्पादः—नवीन पर्याय का उत्पन्न होना ।

उद्योतः—चन्द्रमा, चन्द्रकान्तमणि अथवा अथवा जुगनू आदि का प्रकाश।

उपयोगः—ज्ञान और दर्शन।

उपाध्यायपरमेष्ठीः—जो रत्नत्रय सहित हो और सदा धर्म्मोपदेश देने वाला हो।

ओ

ओम्—अरहन्त आदि पाच परमेष्ठियों के आदि अक्षर से बना हुआ शब्द अर्थात् पञ्चपरमेष्ठी का ज्ञान करने वाला।

क

कर्त्ता—(व्यवहारनय) ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म्मों का बन्ध करने वाला।

,, (निश्चयनय) रागादि भावो का बन्ध करने वाला।

,, (शुद्धनिश्चयनय) शुद्ध चैतन्यभावों का बन्ध करने वाला।

कषाय—क्रोधादि रूप भाव होना।

काय—बहुत प्रदेश वाला।

कालद्रव्य—द्रव्यों के परिणमन में सहायता करने वाला।

केवलदर्शन—लोक और अलोक के समस्त पदार्थों की सत्ता को एक साथ जानने वाला।

केवलज्ञान—तीन लोक और तीन काल के समस्त पदार्थों को एक साथ स्पष्ट जानने वाला।

केवलिनाथ—केवलज्ञान के धारी तथा तीन लोक के स्वामी अरहन्त भगवान्।

ग

गुणस्थान—जिनके द्वारा उदयादि भावों सहित जीव पहिचाने जावें

गुप्ति—मन, वचन और काय की क्रियाओं का रोकना।

घ

घातिकर्म्म—जो आत्मा के ज्ञानदर्शनादि अनुजीवी गुणों का घात करे ।

च

चक्षुदर्शन—चक्षुदन्द्रिय से मूर्तिक पदार्थों की सत्तामात्र को जानने वाला ।

चैतन्य—ज्ञान तथा दर्शन उपयोग ।

छ

छद्मस्थ—क्षायोपशमिक (मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्यय) ज्ञान के धारक संसारी जीव ।

छाया—धूप में मनुष्य आदि की तथा दर्पण में मुख आदि का प्रतिबिम्ब पडना ।

ज

जिन—कर्म शत्रुओं अथवा मिथ्यात्व और रागादि को जीतने वाले ।

जिन—ज्ञानावरण आदि चार घातिया कर्म्मों को नष्ट करने वाले अरहन्त भगवान् ।

जिनवर—अरहन्तो के प्रधान—तीर्थंकर ।

जिनवरवृषभ—तीर्थंकर पदधारी वृषभ भगवान् ।

अथवा

जिन—असंयतसम्यग्दृष्टी आदि सातवें गुणस्थान तक के जीव ।

जिनवर—गणधरदेव ।

जिनवरवृषभ—गणधरों में प्रधान तीर्थंकर ।

जीव—जिसमें चेतना अर्थात् ज्ञान और दर्शन पाये जावें ।

जीवसमास—जिसमें अनेक प्रकार के जीवों का संक्षेपरूप से ग्रहण किया जावे ।

त

तप—इच्छाओं का रोकना।

तम—दृष्टि को रोकने वाला अन्धकार।

त्रस—अपनी इच्छा से चलने फिरने की शक्ति रखने वाले जीव।

द

दर्शन—पदार्थों को आकार रहित सामान्यरूप से जानना।

दिशा—पूर्व आदि दिशायें।

दुरभिनिवेश—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय।

द्रव्य—जो गुण और पर्यायवाला हो अथवा सत्स्वरूप हो।

द्रव्यबंध—कर्म और आत्मा के प्रदेशों का एक क्षेत्र में सम्बन्ध विशेष होना।

द्रव्यमोक्ष—सब कर्मों का आत्मा से पृथक हो जाना।

द्रव्यसंवर—द्रव्यास्रव का रुकना।

द्रव्यसंग्रह—जिसमें जीव और अजीव (पुद्गल, धर्म्म, अधर्म्म, आकाश और काल) द्रव्यों के समुदाय का वर्णन हो।

द्रव्यास्रव—ज्ञानावरणादि कर्म्मों के योग्य पुद्गलो का आना।

ध

धर्म्म—जो संसार के दुःखों से बचाकर उत्तम सुख में पहुँचावे।

धर्म्मद्रव्य—जो जीव और पुद्गलों को चलने में मदद करे।

ध्यान—सब प्रकार के विकल्पों का त्याग कर अपने चित्त को एक ही लक्ष्य में स्थिर रखना।

ध्रौव्य—पहिली और आगे की पर्यायो में नित्यता का कारण रूप।

न

नय—प्रमाण का एक देश।

निर्जरा—आत्मा से कर्म्मों का एक देश झड़ जाना।

निश्चयचारित्र—बाह्य और अभ्यन्तर क्रियाओं के रुकने से हुई आत्मा की निर्मलता।

निश्चयनय—पदार्थ के असली स्वरूप को बताने वाला।

निश्चयमोक्षमार्ग—सम्यग्दर्शन आदि स्वरूप आत्मा।

प

परमध्यान—मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को रोककर आत्मा का आत्मा में लीन हो जाना।

परमेष्ठी—परम (उत्कृष्ट) पद में रहने वाले अरहन्त आदि।

परीषह—कर्म्मों का नाश करने के लिये समताभावो से भूख प्यास आदि का कष्ट उठाना।

परोक्षज्ञान—इन्द्रियो के द्वारा होने वाले ज्ञान, मति, श्रुत।

प्रत्यक्षज्ञान—इन्द्रियों की सहायता के बिना, आत्मा की सहायता से होने वाले ज्ञान अवधि, मन.पर्यय और केवल।

परमाणु—जिसका विभाग न हो सके ऐसा अणु।

पर्याप्ति—पुद्गलपरमाणुओं को शरीर इन्द्रियादि रूप परिणमन कराने की शक्ति की पूर्णता।

पाप—अशुभ भावों से अधिकतर बँधने वाले कर्म्म, असातावेदनीय आदि।

पुण्य—शुभ भावों से अधिकतर बँधने वाले कर्म्म, सातावेदनीय आदि।

पुद्गलद्रव्य—जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पाये जावें।

प्रकृति—आत्मा में ज्ञानादिगुणों को घात करने का स्वभाव प्रकट होना।

प्रदेश बन्ध—आत्मा के साथ बँधने वाले कर्म्मों की संख्या का विभाग

प्रदेश—जिसका दूसरा टुकड़ा न हो सके ऐसा पुद्गलपरमाणु जितने आकाश में रह सके उतने आकाश को प्रदेश कहते हैं।

प्रमाद—स्त्री आदि की कथाओं का सुनना और क्रोधादि रूप परिणाम होना अथवा चारित्रधारण करने में शिथिलता।

ब

बल—मन, वचन और काय की शक्ति।

बन्ध—आत्मा और कर्म के प्रदेशों का मिल जाना।

बाह्यक्रिया—हिंसादि पापों में प्रवृत्ति करना।

भ

भावास्रव—आत्मा के जिन परिणामों से कर्म आते हैं।

भावनिर्जरा—आत्मा के जिन परिणामों से कर्मों की निर्जरा होती है।

भावबन्ध—आत्मा के जिन परिणामों से कर्मों का बन्ध होता है।

भावमोक्ष—आत्मा के जिन परिणामों से कर्मों का क्षय हो।

भावसंवर—आत्मा के जिन परिणामों से आस्रव न हो।

भेद—प्रकार अथवा गेहूँ का दलिया आटा आदि।

भोक्ता—(निश्चयनय) आत्मा के शुद्धदर्शन और शुद्धज्ञानमय उपयोगों का भोगने वाला।

भोक्ता—(व्यवहारनय) ज्ञानावरणादि कर्म्मों के सुख दुःखों का भोगने वाला।

म

मतिज्ञान—इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला ज्ञान।

मनःपर्ययज्ञान—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिये दूसरे के मन के रूपी पदार्थों का जानने वाला।

मिथ्यात्व—तत्त्वों का विपरीत श्रद्धान करना।

मार्गणा—जिनसे गति आदि द्वारा जीव ढूंढे जावें।

मन्त्र—परमेष्ठी को जपने और ध्यान करने का वचन रूप साधन।

य

योग—मन, वचन और काय की प्रवृत्ति।

र

रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र।

ल

लोकाकाश—जिसमें जीव आदि द्रव्य पाये जावें।

व

विकलत्रय—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव।

विकलप्रत्यक्ष—अवधि और मनः पर्यय ज्ञान।

विदिशा—ईशान, नैऋत्य, वायव्य, आग्नेय,

विभ्रम (विपर्यय, विपरीत)—वस्तु के स्वरूप को उलटा समझना।

विमोह (अनध्यवसाय)—वस्तु के स्वरूप का निश्चय न होना।

व्यय—पहिली पर्याय का नाश होना।

व्यवहारकाल—घड़ी, घंटा, मिनिट आदि रूप व्यवहार का कारण।

व्यवहारचारित्र—हिंसादि पापों का त्याग करना।

व्यवहारनय—दूसरे पदार्थ के संयोग से मिली दशा को बतानेवाला।

व्यवहारमोक्षमार्ग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र।

श

शब्द—श्रोत्रइन्द्रिय का विषय।

श्वासोच्छ्वास—प्राणियों को जीवित रखने वाली प्राणवायु।

श्रुतज्ञान—मतिज्ञान से जाने हुये पदार्थ के विशेष गुणों को जाननेवाला।

स

समनस्क—मन सहित जीव।

समिति—प्रमाद रहित होकर धर्मानुकूल आचरण करना।

समुद्घात—मूल शरीरको न छोड़कर आत्मा के प्रदेशों का बाहर निकलना।

सम्यग्ज्ञान—संशयादि रहित स्वपर का ज्ञान।

सर्वज्ञ—तीन लोक और तीन काल के समस्त पदार्थों को दर्पण के समान जानने वाला।

साधुपरमेष्ठी—जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का साधन करता हो।

सिद्धपरमेष्ठी—ज्ञानावरण आदि आठो कर्मों को नष्ट कर सम्यक्त्व आदि धारण करने वाले परमात्मा।

सूक्ष्म—अनार से सेव वगैरह का अपेक्षा से छोटा होना।

संस्थान—द्विकोण, त्रिकोण आदि आकार।

संशय—निश्चयरहित अनेक विकल्पों को ग्रहण करने वाला ज्ञान।

संसारी—नरक आदि गतियों में भ्रमण करने वाला जीव।

स्थावर—पृथिवी आदि एकेन्द्रिय जीव।

स्वदेहपरिमाण—समुद्घात अवस्था को छोड़कर, नाम कर्म के उदय से प्राप्त अपने छोटे या बड़े शरीर के बराबर रहना।

स्थूल—सेव से अनार वगैरह का अपेक्षा से बड़ा होना।

भेद संग्रह

अ

अजीव—पुद्गल, धर्म्म, अधर्म, आकाश, काल ।

अधिकार—६, जीवत्व, उपयोगमय, अमूर्त्ति, कर्त्ता, स्वदेहपरिमाण, भोक्ता, संसारस्थ, सिद्ध, विस्रसाऊर्ध्वगमन ।

अनुप्रेक्षा—१२, अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ, धर्म्म ।

अनन्तचतुष्टय—४, अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य ।

अष्टगुण—८, सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व ।

अस्तिकाय ५, जीव, पुद्गल, धर्म्म, अधर्म्म, आकाश ।

आ

आस्रव—२, द्रव्य, भाव ।

,, —३२, मिथ्यात्व ५, अविरति ५, प्रमाद १५, योग ३, कषाय ४.

आचार—५. दर्शन, ज्ञान, वीर्य, व्रत, तप ।

आकाश—२, लोक, अलोक ।

इ

इन्द्र—१००, भवनवासी ४०, व्यन्तर ३२, कल्पवासी २४, ज्योतिषी २ (सूर्य-चन्द्रमा) चक्रवर्ती १ सिंह १.

इन्द्रियाँ—५, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण (श्रोत्र).

उ

उपयोग—२. ज्ञान, दर्शन,

,, —१२, ज्ञान ८, दर्शन ४.

ए

एकेन्द्रिय—२, सूक्ष्म, बादर, (स्थूल).

,, —५, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति ।

क

कर्म—२, पुण्य, पाप।

,,—२, घातिया, अघातिया।

कर्म—८, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय।

काल—२, निश्चय, व्यवहार।

क्रिया—२, अन्तरङ्ग बाह्य।

गन्ध—२, सुगन्ध, दुर्गन्ध।

गुणस्थान—१४, मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यक्त्व, देशसंयत, प्रमत्त, अप्रमत्त, अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, उपशान्तमोह (उपशान्तकषाय), क्षीणमोह (क्षीणकषाय), सयोगकेवली, अयोगकेवली।

गुप्ति—३, मन वचन, काय।

च

चारित्र—२, बाह्य, अन्तरङ्ग।

,,—५, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात।

छ

छद्मस्थ—४, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ज्ञान के धारक जीव।

ज

जीव—२, संसारी, मुक्त।

जीवसमास—१४ चार्ट देखो।

तप

तप—२, बाह्य ६, अभ्यन्तर ६.

त्रसजीव—४, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय।

द

द्रव्य—२, जीव, अजीव।

,, —६, जीव, पुद्गल, धर्म्म, अधर्म्म, आकाश, काल।

दिशा—१०, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण ईशान, वायव्य, आग्नेय, नैऋत्य, ऊर्ध्व (ऊपर), अधः (नीचे)

ध

धर्म्म—१०, उत्तम, क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चिन्य, ब्रह्मचर्य्य।

न

निर्जरा—२, द्रव्य, भाव,

नोकर्म—३, औदारिक, वैक्रियक, आहारक।

प

पञ्चेन्द्रिय—२ सैनी, असैनी,

पर्याप्ति—६, आहार, शरीर, इन्द्रिय, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन।

परीषह—२२, भूख, प्यास, ठंड, गरमी, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, शय्या, आसन, वध, आक्रोश, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन।

पुद्गलकर्म्म—८, ज्ञानावरण आदि।

पुद्गलगुण—२०-स्पर्श ८, रस ५, रूप ५, गन्ध २.

पापकर्म—४, असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र, और ४ घातियाकर्म ज्ञानावरण आदि।

पुण्यकर्म—४, सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम, उच्चगोत्र।

प्राण—४, इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास।

,, —१०, इन्द्रिय ५, बल ३, आयु, श्वासोच्छ्वास।

ब

बन्ध—२, द्रव्य, भाव।

,, —४, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश।

भ

भावास्रव—५, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग, कषाय,

,, —३२, मिथ्यात्व ५, अविरति ५, प्रमाद १५, योग ३, कषाय ४.

भावनिर्जरा—२, सविपाक, अविपाक।

म

महाव्रत—५, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य्य, परिग्रहपरिमाण,

मार्गणा—१४, गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा, आहार।

मिथ्यात्व—५, विपरीत, एकान्त, विनय, संशय, अज्ञान।

मुनिचरित्र—१३, व्रत ५, समिति ५, गुप्ति ३.

मोक्ष—२, द्रव्य, भाव।

मोक्षमार्ग—२, व्यवहार, निश्चय।

य

योग—३ मन, वचन, काय।

र

रत्नत्रय—३, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र।

व

विदिशा—४, ईशान, नैऋत्य, वायव्य, आग्नेय.।

व्रत—५, अहिंसा आदि।

विकलत्रय—३, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव

स

संवर—२, द्रव्य भाव,

„ —६, व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र ।

„ —६२. ५, ५, ३, १०, १२, २२, ५,

समुद्घात—७, वेदक, कषाय, विक्रिया, मारणान्तिक, तैजस, आहार, केवल ।

समिति—५, ईर्य्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, व्युत्सर्ग,

ज्ञ

ज्ञानोपयोग—२, ज्ञान, अज्ञान ।

„ —८, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल और कुमति, कुश्रुत, कुअवधि (विभङ्ग)

प्रश्नपत्र-संग्रह

समय ३ घंटे १९३४ पूर्णांक १००

(१) अचक्षुदर्शन, मतिज्ञान, मोक्ष, अरहंत, पुद्गल, प्रदेश और चारित्र से क्या समझते हो ।

(२) इस ग्रन्थ का द्रव्यसंग्रह नाम क्यों रक्खा गया है ?
जीव के नौ अधिकार कौनसे है नाम गिनाओ ?
अन्धे और बहरे मनुष्य के कितने प्राण होते हैं ? १४

(३) मूर्तिक और अमूर्तिक में क्या अन्तर है ? तुम मूर्तिक हो या अमूर्तिक ? अस्तिकाय किसे कहते हैं ? कालद्रव्य अस्तिकाय है या नहीं ? तत्वों और द्रव्यों के नाम गिनाओ ? क्या दोनों में कोई फ़र्क है ? १६

(४) निश्चयनय और व्यवहारनय में क्या अन्तर है ?
द्रव्यबंध, भावनिर्जरा और आस्रव का स्वरूप समझाओ, ध्यान किसे कहते हैं कितनी तरह का होता है, क्या किया जाता है और कैसे किया जाता है ? १६

(५) एक अक्षर का मंत्र कौनसा है और उसमें पंचपरमेष्ठी का नाम कैसे आ जाता है। निश्चयध्यान का स्वरूप लिखो ज्ञानोपयोग के कितने भेद हैं। हमारे देश में इस समय कितने परमेष्ठी मौजूद हैं ? १६

(६) सनत्कुमार चक्रवर्ती या अञ्जना सुन्दरी की जीवनी संक्षेप में लिखो और बतलाओ कि उनके जीव से तुम्हें क्या शिक्षा मिली। १०

(७) ब्रह्मचर्य या स्त्रीशिक्षा पर एक सुन्दर निबन्ध लिखो। १२

(८) जिनेन्द्रभक्ति या जातिसुधार पर कोई भजन लिखो। ४

शुद्ध और सुन्दर लेख ५

समय ३ घंटे १९३५ पूर्णांक १००

(१) इस पुस्तक का नाम द्रव्यसंग्रह क्यों रखा गया ? १२
'द्रव्य' और 'तत्त्व' मे तुम क्या समझते हो ?
इसके रचयिता (Authoi) का क्या नाम है ? क्या उन्होंने कहीं पर अपना नाम दिया है ?

(२) जीव किसे कहते हैं और उसके कितने प्राण होते हैं ? 'दर्शन' से तुम क्या समझते हो ? तुम्हारे कितने दर्शनोपयोग हैं ? १२

(३) जीव मूर्तिक है या अमूर्तिक ? और वह कितना बड़ा है ? संसारी जीव कितनी तरह के होते हैं और उनके कितनी पर्याप्तियां हैं ? १४

(४) तुम अपने सामने किन २ द्रव्यों को देखते हो ? एक जीव को अपना काम चलाने के लिये कितने द्रव्यों की ज़रूरत होती है ? १४

द्रव्य और अस्तिकाय में क्या अन्तर है ? तुम द्रव्य हो या अस्तिकाय ?

(५) (अ) उदाहरण देकर भावबन्ध और द्रव्यबन्ध का स्वरूप समझाओ ? बन्ध के भेद और कारण लिखो । १२

(ब) ऐसे एक मंत्र का नाम लिखो जिसमें सब परमेष्ठियों का नाम आ सके । आचार्यपरमेष्ठी का क्या स्वरूप है और उनका ध्यान क्यों करना चाहिये ।

(६) (अ) ध्यान करने के लिये किन २ बातों की ज़रूरत है । आकाश के कितने भेद हैं और क्यों हैं ? १२

(ब) कालद्रव्य कहाँ नहीं है ?

(७) चामुण्डराय, या भगवान आदिनाथ की जीवनी लिखो और बतलाओ कि, उनके जीवन से हमें क्या शिक्षा मिलती है ? ८

(८) नीचे लिखे विषयों में से किसी एक पर छोटा सा लेख लिखो– १०

१-अहिंसा, २-सादा जीवन, ३-व्रतों की उपयोगिता ।

शुद्ध और सुन्दर लेख ६

समय ३ घन्टे १६३६ पूर्णांक १००

(१) श्रुतज्ञान, प्रदेश, अरहंत, स्कंध, कर्मबंध, और अविरति का स्वरूप लिखो । १२

(२) ध्यान किसे कहते हैं । ध्यान किस का करना चाहिये

और क्यों। ध्यान कब हो सकता है। और मन कैसे स्थिर किया जा सकता है? १०

(३) जीव किस चीज़ का कर्ता और भोक्ता है। जीव लोकप्रमाण कब हो सकता है। अर्हंत मुनि हैं या नहीं, क्यों? १०

(४) (a) अस्तिकाय से आप क्या समझते हैं। कौन २ द्रव्य अस्तिकाय है और क्यों। पुद्गल का एक अणु अस्तिकाय कैसे है। १२

(b) उपयोग हर एक जीव में पाया जाता है सिद्ध करो। ६

(५) भावसंवर और द्रव्यसंवर के भेद लिखो। १०

(६) निश्चयमोक्षमार्ग किसे कहते हैं और वह कब होता है। सम्यग्दर्शन से क्या लाभ है। पाप और पुण्य से क्या समझते हो। १५

(७) चामुंडराय या अकलंकदेव की जीवनी और उससे मिलने वाली शिक्षाएं लिखो। १०

(८) "सादा जीवन" या "धैर्य" पर एक लेख अपनी कापी के २ पेज पर लिखो। १०

शुद्धता और सफाई ५

समय ३ घन्टे १९३७ पूर्णांक १००

(१) द्रव्य से आप क्या समझते हैं उदाहरण पूर्वक समझाइये। आप कौन द्रव्य है? अस्तिकाय द्रव्य और अजीव द्रव्यों के नाम लिखिये। १२

(२) मक्खी, जोंक, बालक, रेल, रबर की गाय, बेल (लता)

मुक्तजीव, इनके कौनसे और कितने प्राण, तथा पर्याप्तियां होती है ?

(३) मूर्तिक द्रव्य से आप क्या समझते है ? आप मूर्तिक है या नहीं कारण पूर्वक लिखिये । आंखों से कौन २ द्रव्य देख सकते है। बादल, अन्धकार, वायु, सेकिन्ड, अणु, पुण्य, पाप लोकाकाश, कौन से द्रव्यों में शामिल है और क्यों ? १५

(४) तत्त्व शब्द से आप क्या समझते हैं उसके भेद लिखकर सिर्फ यह बताइये कि बंध किस चीज का किससे, कैसे, कौन २ कार्य करने से होता है । १५

(५) मोक्ष कहां है, क्या है । कैसे प्राप्त हो सकता है ? मोक्ष में उत्तम २ भोजन और विलास की सामग्री मिलती है । यदि नहीं तो मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न व्यर्थ है समझा कर लिखो । १०

(६) पंचपरमेष्ठी वाचक मन्त्र का नाम लिख कर यह सिद्ध कीजिये कि उस मन्त्र से पंचपरमेष्ठी का बोध कैसे होता है । आज कल कितने परमेष्ठी हमारे देखने में आते है । परमेष्ठियों में देव कितने और गुरु कितने हैं ? जैन मन्दिरों की मूर्तियां किन परमेष्ठी की है । १०

(७) आप द्रव्यसंग्रह का प्रश्नपत्र सामने देख रहे हैं यह आप का ज्ञान प्रत्यक्ष है या परोक्ष, सिद्ध कीजिये । प्रत्यक्ष, परोक्ष से आप क्या समझते हैं ? १२

(८) स्वामी उमास्वामी की जीवनी

या

सादा जीवन पर एक निबन्ध २५-३० लाइन का लिखो । १२

शुद्ध और सुन्दर लिखने के लिये

समय ३ घण्टे १९३८ पूर्णांक १००

(१) मंगल से आप क्या समझते हैं ? ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण करने का क्या कारण है ? ८

(२) (क) जीव का लक्षण लिखकर यह बतलाइये कि ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग में क्या भेद है ? ७

(ख) दर्शनोपयोग के भेद और उनकी परिभाषा लिखिये। ५

(३) शुद्ध और अशुद्ध निश्चयनय से आप क्या समझते हैं ? जीव अशुद्धनय से किसका कर्ता है ? १०

अथवा (Or)

जीव के ऊर्ध्वगमनाधिकार का वर्णन कर यह बतलाइये कि जीव ऊर्ध्वगमन कहां तक करता है ? क्या वह ऊर्ध्वगमन करते हुए कहीं पर ठहरता भी है या नहीं ? यदि ठहरता है तो कहां और क्यों ? १०

(४) अजीवद्रव्य के भेद लिख कर अस्तिकाय द्रव्यों के नाम मात्र लिखो। पुद्गल-परमाणु अस्तिकाय है या नहीं ? कारण सहित स्पष्ट लिखिये। ८

(५) सात तत्वों के नाम मात्र लिख कर उनमें से मोक्ष के कारणभूत तत्वों को सलक्षण बतलाइये। ६

(६) निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग में अन्तर दिखलाकर यह बतलाइये कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में से पहले कौन होता है। ६

(७) ध्यान का लक्षण लिख कर उसकी आवश्यक सामग्री बतलाइये। ७

(८) निम्नलिखित में से किन्हीं १० की परिभाषा

लिखिये:—

मूर्तिक, समुद्घात, गुणस्थान, प्रकृतिबंध, पुद्गल, अस्तिकाय, प्रमाद, गुप्ति, समिति, धर्म, सम्यग्दर्शन, अभ्यन्तरक्रिया, छद्मस्थ, आचार्य. तप।

(९) इस ग्रन्थ के कर्ता का नाम व उनके जीवनचरित्र को लिखकर उनसे बनाये हुये शास्त्रों के नाम लिखिये। १५

(१०) गृहस्थजीवन कैसे सुखमय बन सकता है? इस पर एक सुन्दर लेख लिखो। १२

शुद्ध लेख ६

अकारादि क्रम से द्रव्यसंग्रह की गाथासूची

	पृष्ठ		पृष्ठ
अजीवो पुण गोओ	२०	अट्ठचदुणाणदंसण	६
अणुगुरुदेहपमाणो	११	अवगासदाणजोग्गं	२३
असुहादो विणिवित्ती	५०	आसवदि जेण कम्मं	३४
आसवबंधणसंवर	३३	उवओगो दुवियप्पो	४
एयपदेसो वि अणू	३०	एवं छब्भेयमिदं	२७
गइपरिणयाण धम्मो	२२	चेदणपरिणामो जो	४०
जहकालेण तवेण य	४२	जावदियं आयासं	३१
जीवमजीवं दव्वं	१	जीवादीसद्दहणं	४७
जीवो उवओगमओ	२	जो रयणत्तयजुत्तो	५८

	पृष्ठ		पृष्ठ
जं किंचिवि चिंततो	५६	जं सामरणं गहणं	४६
ठाणजुदाण अधम्मो	२२	णट्ठचदुघाइकम्मो	५५
णट्ठट्ठकम्मदेहो	५६	णाणावरणादीणं	३६
णाणं अट्ठवियप्पं	५	णिक्कम्मा अट्ठगुणा	१६
तवसुदवदवं चेदा	६१	तिक्काले चदुपाणा	३
दव्वपरिवट्टरूवो	२५	दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा	६१
दुविहंपि मोक्खहेउं	५२	दंसणणाणपहाणो	५७
दंसणणाणसमग्गं	५८	दंसणपुव्वं णाणं	५०
धम्माधम्मा कालो	२४	पणतीस सोल छप्पण-	५४
पयडिट्ठिदिअणुभाग-	३८	पुग्गलकम्मादीणं	८
पुढविजलतेउवाऊ	१३	वज्झदि कम्मं जेण दु	३८
बहिरब्भंतरकिरिया-	५१	मग्गणगुणठाणेहिं	१५
मा चिट्ठह मा जंपह	६०	मा मुज्झह मा रज्जह	५३
मिच्छत्ताविरदिपमा-	३४	रयणत्तयं ण वट्टइ	४७
लोयायासपदेसे	२६	ववहारा सुहदुक्खं	१०
वरण रस पंच गंधा	६	वदसमिदीगुत्तीओ	४०
सद्दो बंधो सुहुमो	२०	समणा अमणा णेया	१४
सव्वस्स कम्मणो जो	४३	सुहअसुहभावजुत्ता	४४
संति जदो तेणेदे	२७	सम्मद्दंसण णाणं	४६
संसयविमोहविब्भम	४८	होंति असंखा जीवे	२६

❀ सरलजैनग्रन्थमाला ❀

के उद्देश्य ।

१ इस माला में बालक, बालिकाओं को सरल से सरल रूप में जैनधर्म के स्वरूप को समझाने वाली पुस्तकें प्रकाशित होंगी ।

२ इस माला की पुस्तकों के सम्पादक और लेखक समाज के सुप्रसिद्ध लेखक, कवि और योग्य विद्वान होंगे ।

३ धार्मिक भावों को हृदयङ्गम बनाने के लिये शास्त्रीय कथानक रोचक रूप में सचित्र प्रकाशित किये जावेंगे ।

४ इस माला का मुख्य उद्देश्य धार्मिक पुस्तकों को कम से कम मूल्य में शुद्ध, सुन्दर और सचित्र प्रकाशित करना है ।

५ उक्त उद्देश्यों को सफल बनाने के लिये सुयोग्य विद्वान लेखकों की कृतियों पर समुचित पुरस्कार देने की भी योजना है । विद्वान लेखक पत्रव्यवहार करें ।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि आजतक इतने कम मूल्य में इतनी सुन्दर और सरल जैन पुस्तके आपके सामने न आई होंगीं—

भुवनेन्द्र "विश्व"

प्रकाशक

सरलजैनग्रन्थमाला,

जवाहरगंज, जबलपुर (सी. पी.)

तत्वमाला

अर्थात्

जिनेंद्रमत दर्पण

द्वितीय भाग।

संपादक—
जैनधर्मभूषण ब्र० शीतलप्रसादजी।
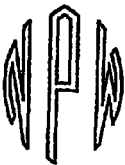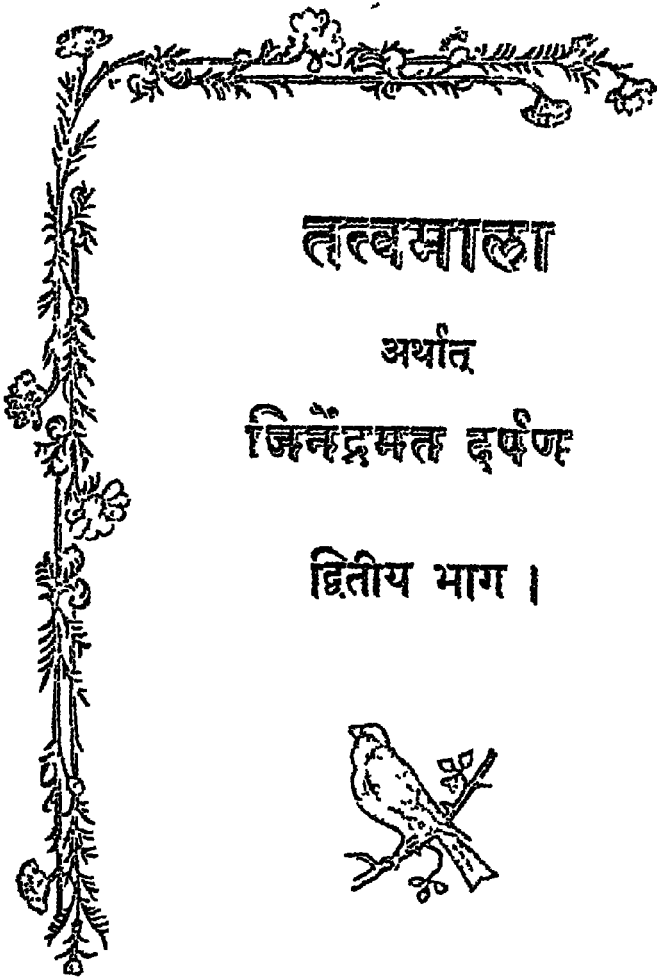
तत्वमाला

अर्थात्

जिनेन्द्रमतदर्पण द्वितीय भाग।

सम्पादक—

जैनधर्मभूषण ब्र० शीतलप्रसादजी,

ऑ० सम्पादक "जैनमित्र" व "वीर"—सूरत।

प्रकाशक—

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,

मालिक, दि० जैन पुस्तकालय—सूरत।

तृतीय आवृत्ति]   वीर सं० २४५०   [प्रति १०००

मूल्य ।≈) छह आने।

मुद्रक—
मूलचंद किसनदास कापड़िया,
"जैनविजय" प्रिन्टिंग प्रेस,
सूरत।

प्रकाशक—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
मालिक, दि० जैनपुस्तकालय
चंदावाड़ी-सूरत।
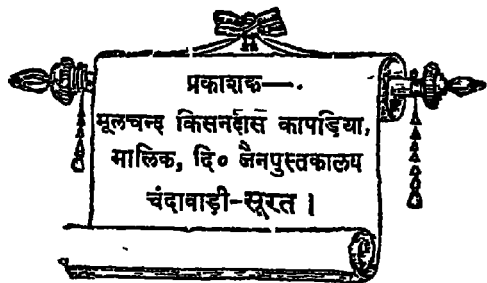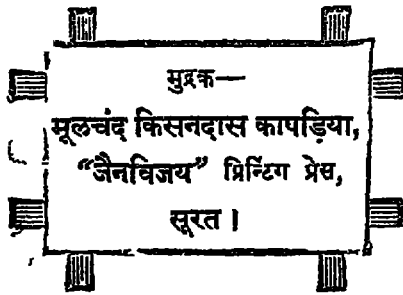
प्रस्तावना ।

“ तत्वमाला ” नामक एक लेखमाला “ जैनगजट ” के १९०४–५ के अंकोमे पूज्य ब्र० शीतलप्रसादजी द्वारा प्रकट हुई थी, उसकी मांग होनेपर यह १९०५ मे ही पुस्तकाकार छपाया गया था वह बिक जानेपर १९११ में इसकी दूसरी आवृत्ति “भारत जैन महामंडल”ने प्रकाशित की थी वह भी बिक जानेपर कई वर्षोंसे यह पुस्तक नहीं मिलती थी और मांग आती रहती थी इसलिये ब्रह्मचारीजीकी आज्ञानुसार हमने इसकी यह तीसरी आवृत्ति प्रकट की है ।

इस पुस्तकमे ब्रह्मचारीजीने जैनधर्मके मूल तत्वोंका वर्णन श्री तत्त्वार्थसूत्रकी अर्थ बोध टीकाके अनुसार इस रीतिसे दिखलाया है कि हमारे अल्पज्ञानी नवयुवकोंको वह भले प्रकार समझमें आ सके । जिनेन्द्रमतदर्पण प्रथम भाग भी ब्रह्मचारीजीने प्रकट किया है उसका ही यह द्वितीय भाग है जो स्वाध्याय प्रेमियोके अतिरिक्त पाठशालाके विद्यार्थियोंको पढ़ाने योग्य तथा जैन व अजैनोंमें मुफ्त वितरण करने योग्य है । आशा है इस तीसरी आवृत्तिका भी शीघ्र ही प्रचार हो जायगा ।

जाति सेवक—

सूरत,
ता० २२–७–२४. मूलचन्द किसनदास कापड़िया,

विषयसूची ।

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
१ सप्ततत्व	५	१७ ध्यान	६६
२ जीवतत्व	७	१८ धर्म ध्यान	७०
३ अजीवतत्व	१४	१९ ध्यानका स्थान	७१
४ ज्ञानावरणी कर्म	२०	२० ध्यानका आसन	७३
५ दर्शनावरणी कर्म	२४	२१ प्राणायाम	७५
६ वेदनी कर्म	२७	२२ प्रत्याहार धारणा	७७
७ मोहनी कर्म	३२	२३ ध्येय	७८
८ आयु कर्म	३८	२४ ध्यान और फल	७९
९ नाम कर्म	४२	२५ निराकारका ध्यान साकार के द्वारा हो सकता है	८१
१० गोत्र कर्म	५०	२६ पिंडस्थ ध्यान मार्ग	८२
११ अन्तराय कर्म	५२	२७ पदस्थ ध्यान	८६
१२ अन्य ४ द्रव्य	५४	२८ रूपस्थ ध्यान	९१
१३ आश्रव तत्व	५६	२९ रूपातीत ध्यान	९२
१४ बंध तत्व	५७	३० मोक्ष तत्व	९५
१५ संवर तत्व	५९		
१६ निर्जरा तत्व	६३		

जिनेन्द्रमत दर्पण

* दूसरा भाग *

(तत्वमाला)

भाई साहबान्—क्या यह बात सत्य है.! कि

"श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुंडलेन, दानेन पाणिर्न तु कंकणेन।
विभाति काया खलु सज्जनानाम् परोपकारेण न चंदनेन ॥"

अर्थात् कानोंकी शोभा कुंडल पहननेसे नहीं परन्तु शास्त्र सुननेसे है, हाथकी शोभा कंकणसे नहीं परन्तु दान देनेसे है, इसी तरह सज्जनोंके शरीरकी शोभा चंदन लगानेसे नहीं परन्तु परोपकारसे है।

इस प्रश्नका उत्तर कुछ शीघ्रतासे देनेकी आवश्यकता नहीं। थोड़ी देर एकांत बैठ चित्तकी वृत्तिको सर्व आकर्षणोंसे रोक अपने अंतरंगमें वादानुवाद करके निर्णय कीजिये और तब भलेप्रकार साहसकी कमर बांध निर्भय हो खुले स्थानमें आकर बड़ी ध्वनिसे इस प्रश्नका उत्तर कह दीजिये।

पाठकगण—है कि नहीं, क्योंकि बिना विचारे कहना केवल कहना ही कहना है। यदि विचार पूर्वक कहना होगा तो क्या सच्ची श्रद्धापूर्वक कहना न होगा। बस महाशयो मैं तो यही विश्वास करता हूं कि आप अपने मुक्त कंठसे यही कह उठेंगे कि "निःसन्देह इस श्लोकका वचन बहुत ठीक है"।

यदि यही उत्तर आपका होगा तो हम भी सहमत हैं। पर हमें शब्द "क्यों" के उत्तरोंका प्रकाश करना भी आवश्यक है। क्या यह कान कुंडल पहननेके लिये नहीं? तब फिर कुंडलोंका होना निरर्थक है। नहीं नहीं कुंडल पहनाना इस कर्णकी बाह्य शोभाको दिखलाना है। पर जब यह कर्ण कुंडल तो पहन लें पर हमारे हितकारी कार्यकी ओर अपने विषयको न लगाकर अहितमें प्रवर्तें तो क्या वह कर्ण उस सोनेके घड़ेके तुल्य नहीं हैं कि जो मलसे पूरित हो अथवा उस कर्णकी प्रभा उस स्त्रीके तुल्य नहीं है जो कि श्रृंगार रसमें भीजी होनेपर कुशीलके कीचड़से लिप्त हो? पर महाशयो! ऐसे कर्णको दोषी ठहरानेके समय कुछ हमें और भी वर्णनकर देना पड़ेगा कि हमारा कौन कार्य हितकारी और कौन अहितकारी है। पाठकगण! कृपया इन दो बातोंका भी ध्यान करें—हमारी सम्मति इस विषयमें यह है कि जो कार्य्य हमें वास्तवमें सुख पहुंचानेवाला व सुखके मार्गमें ले जानेवाला है, वही हितकारी और इससे विरुद्ध अहितकारी है।

अब यह भी निर्णय कीजिये कि सुख क्या है? जहां तक बुद्धिमानोंने विचार किया है सुख उस अवस्थाको कहते हैं कि जिस समय आकुलताका अभाव हो, क्योंकि जहां आकुलता, घबड़ाहट, चिन्ता, शोक, क्रोध, लोभ, माया इत्यादि उपस्थित होंगे वहां सुख कहांसे हो सक्ता है। इंद्रियोंके विषयोंसे माना हुआ सुख कुछ आकुलताके अभावसे जबतक उस विषयकी स्थिरता है और अपना चित्त केवल उसी विषयमें लौलीन है तब तक है। पश्चात् फिर अन्य विषय ग्रहण करनेकी आकुलता बाधित

करती है। जैसे किसीको सेव खानेकी इच्छा हुई अब जबतक सेवका स्वाद जबानको न मालूम होगा तबतक आकुलता रूप दुःख है। यदि पुन्य योगसे हमारी इच्छाके अनुसार सेव आ भी गया (क्योंकि जगतके प्राणी बहुत प्रकारके विषयोंके पानेकी कामनाएं किया करते हैं पर उनकी एक भी इच्छा फलीभूत नहीं होती) और उसने भक्षण भी किया परन्तु उसके भक्षण करते२ ही दूसरी किसी वस्तुकी इच्छा हुई कि तुरंत दुःख पैदा हो गया। अब जबतक यह इच्छा पूर्ण न होय तबतक यह दुखी है। इस प्रकार इन्द्रियोंके विषयों द्वारा सुखको मानना ऐसा है कि जैसे कोई अनेक रोगोंसे पीड़ित होय और उसका एक रोग शांत हुआ हो इतने ही में वह रोगी उसके शांत होनेसे अपनेको सुखी मान लेवे, लेकिन यदि ठीक २ विचारियेगा तो यही कहना होगा कि जबतक वह रोगी सर्व रोगोंसे मुक्त न हो जाय कदापि सुखी नहीं है। इसी तरह संसारी प्राणियोंको अनेक असंख्य इच्छाओंके रोग लगे हुये हैं। जब एक इच्छा रूपी रोग किसी शुभ कर्म वशसे शांत होता है तो यह प्राणी अपनेको सुखी मान लेता है, पर वास्तवमें सुखी वही होगा जिसकी सर्व इच्छाओंके रोगोंकी शांति हो जायगी। इसी लिये हमको वह यत्न करना योग्य है कि जिसमें हमें विषयोंकी इच्छाएं बाधित न करें। बस यही सुख-मार्ग पानेका सीधा उपाय है। पाठकोंने भले प्रकार जैन शास्त्रोंसे निर्णय किया होगा कि बड़े बड़े महान् पुरुष जैसे तीर्थङ्कर चक्रवर्ती आदिक पूर्ण पुन्य योगसे इच्छित विषय प्राप्त करनेका बल रखते थे तथापि इच्छाओंके रोगोंसे उनकी मुक्ति उस बलसे नहीं

हुई—उनको इन रोगोंसे छूटनेके वास्ते परिग्रहका भार छोड़ वनमें जा नग्न दिगम्बर हो तप करना पड़ा, अपने चित्तको अपने आपमें बिठाना पड़ा। तब उनके पुर्ण यत्नसे वे इच्छाओंके रोगोंसे मुक्त हुए और तब तीन लोककी वस्तुओंका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सर्व प्रकारसे सुखी होते भए। बस वास्तवमें हम प्राणियोंको भी वही मार्ग धारण करना उचित है अर्थात् जितेन्द्रिय हो अपने आत्मद्रव्यको जानना उचित है। अपने आत्मद्रव्यरूपी फटिक-मणिमें तीन लोककी वस्तुओके सर्वगुण पर्य्याय झलकेंगी और किसी चीजके विषय जाननेकी इच्छा पैदा न होगी।

पूर्ण यत्न सुखी होनेका तो मुनिपद ग्रहणसे है पर जबतक ऐसा न हो सके तबतक गृहस्थीमें यथाशक्ति यत्न करता रहे—बस अपने कानोंको ऐसी ध्वनि सुनाना कि जो चित्तको प्रमादसे छुटाकर उद्यममें, जुआ आदि सात व्यसनोंसे छुटाकर धर्म, अर्थ, काम-मोक्षरूप चारों पुरुषार्थोंके साधनमें, क्रोध मान माया लोभकी तीव्रतासे बचाकर विवेकके मार्गमें, स्वार्थीपनेकी आदतसे बचाकर कुटुम्ब रक्षण, जाति वा धर्म रक्षण, देश हितरक्षण व जगत सुखदायक कार्य्योंकी ओर फेर देवे यही हमारा हित है। सो इसीलिये न्यायकार कहते हैं कि हे भाइयों! कर्णोंकी शोभा कुंडल पहननेसे नहीं किन्तु हितकारी वार्ताके सुननेसे है। इसी तरह वह हाथ जो कि निर्ममत्व हो सर्व त्याग कर दे अथवा जो परोपकारमें अपने हाथसे धनको दान करे वही हाथ शोभनीक है। इसी तरह सज्जन और साधु पुरुषोंके शरीर निश्चयसे चन्दन लगानेसे शोभनीक नहीं होते किन्तु यदि वह अपने शरीरसे परोपकार करें तभी शोभनीक हैं।

भाइयों ! जो आप मि० गोखले, दादा भाई नौरोजी, मि० ताता, मि० सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, मि० मदनमोहन मालवीय, मि० सय्यद अहमद इत्यादि परोपकारियोंकी प्रशंसा करते हैं वह उनके परोपकारतामें अपने तनको लगाने हीके कारण करते हैं। कुछ सुन्दर पगड़ी और कपड़े पहननेसे नहीं। इसी तरह हमारी जैन जातिके भद्र पुरुषों (जेन्टिलमैनों) की शोभा उसी समय है जब वे अपने आपको जाति व धर्मकी उन्नतिमें लगा देवें। कुछ सुन्दर कपड़े पहनने पगड़ी बांधनेसे नहीं, कुछ पतलून कोट पहननेसे नहीं, कुछ वृथा प्रलाप करनेसे नहीं।

अध्याय दूसरा।

सप्ततत्व।

भाइयो ! श्रीमान् उमास्वामी आचार्य्य* ने मोक्षमार्गका स्वरूप अपने रचित श्री तत्वार्थसूत्रजीमें जैसा वर्णन किया है वही मार्ग अनादिकालसे चला आया है। मोक्षमार्ग वही मार्ग है जो कि जीवको दुःखोंसे बचाकर ऐसी दशामें करदे कि जिस दशामें रहकर यह पूर्ण आनन्द अनंत काल तक भोगता रहे। पूर्ण आनन्द क्या वस्तु है ? और क्यों इसके प्राप्त करनेकी आवश्यकता है ? यह वर्णन पहले किया जाचुका है, तथापि यहांपर भी उसकी किञ्चित परिभाषा दीजाती है।

---

* यह आचार्य संवत् १०१ में हुए हैं।

पूर्ण आनन्द वह स्वाधीन निराकुल आनन्द है जो कि अपने जीवका निज स्वभाव है और उसके पानेकी आवश्यकता इस प्रयोजनसे है कि यह जीव उस दशामें पूर्ण ज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है और यह नियम है कि सुख ज्ञानपूर्वक है। जिस व्यक्तिको एक वस्तुका हाल जबतक नहीं मालूम था वह दुःखी था उसको वह हाल मालूम हो गया वह सुखी हो गया। इसी तरह पूर्ण ज्ञानी पूर्ण सुखी है, क्योंकि ऐसे जीवके लिये कोई पदार्थ शेष नहीं रहा कि जिसके जाननेकी आकुलता हो। आकुलताके अभावसे वह पूर्ण ज्ञानी सदा सुखी है-बस इसी पूर्ण ज्ञानी होनेका जो उपाय है वही मोक्षमार्ग है।

यह मार्ग तीन भेद रूपसे है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अर्थात् अच्छी तरह विश्वास करना अच्छी तरह जानना और अच्छी तरह आचरण करना—किनको? तत्वोंको। तत्व क्या वस्तु हैं? इस शब्दका अर्थ सत्यता है और यहां पर भी तत्व उसीको कहते हैं जो सत्य सत्य वस्तु मोक्षमार्गमें प्रयोजन भूत हैं अर्थात् वह वस्तु जिनके कि जाने विना. मोक्षमार्ग नही ग्रहण किया जा सकता।

तत्व सात—७ हैं:—

जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

—•—

अध्याय तीसरा।

जीव तत्त्व।

महाशयो! जीवसे निश्चय करके मतलब उस चीजसे है जो कि जीती थी अर्थात् चैतन्य रूपमें थी, जीव है याने इस वर्तमान समयमें भी जी रही है और जीवेगी याने आगामी जीती रहेगी। प्रयोजन यह है कि ज्ञान जो एक गुण है वह जीव हीके पास है और कही नहीं। जिस चीजमें जीव नही होता उसको जड़ कहते हैं। जड़में समझने व पहचाननेकी ताकत नहीं। यह ताकत एक जीव ही के पास है।

यह बात निर्विवाद सिद्ध है व हरएक मत व हरएक बुद्धिमान अच्छी तरह समझता है कि जीव जिसको रूह कहते हैं उसका काम "जानने" का है। जिस वक्त यह शरीरमें रहता है वह अपने शरीरके द्वारा किसी चीजको छूकर, किसीका सवाद लेकर, किसीको सूंघकर, किसीको देखकर और किसीको सुनकर उनका हाल मालूम करता है। जिस वक्त यह शरीरमें नहीं रहता, शरीर अकेला किसी चीजका हाल जाननेको असमर्थ होजाता याने नहीं जान सक्ता है।

अब यहांपर कोई कोई मतवाले यह शंका करते हैं कि जीव कोई जुदी चीज नही हैं और ये कहते है जैसा कि इस छंदसे वर्णित है।

चौपाई।

भूजल अगनि पवन नभ मेल।
पांचो भए चेतना खेल॥
त्यों गुड आदिक तै मद होय।
मद ज्यों चेतन थिर नहि कोय॥

याने जमीन, पानी, आग, हवा और आकाशके मिलनेसे चेतना याने जीव पैदा होजाता है जैसे गुड़ वगैरह चीजोंके मिलनेसे मदिरा याने शराब बन जाती है जिसका काम नशा है।

इसके जवाबमें जीव माननेवाले यह दोहा कहते हैं—

दोहा।

पांचों जड़ ये आप हैं जड़ ते जड़ ही होय।
गुड़ आदिक ते मद भयो, चेतन नाहीं सोय॥
भूजल पावक पौन नभ, जहां रसोई जान।
क्यों नहिं चेतन ऊपजै, यह मिथ्या सरधान॥

याने जमीन वगैरह जिन पांचोंके मिलनेसे कहते हो कि जीव पैदा होता है सो ये पांचों ही जड़ हैं, जड़ चीजसे जड़ पैदा होगी चेतन नहीं, गुड़ वगैरहके मिलनेसे मदिरारूपी एक जड़ चीजकी पैदाइश हुई। इस मदिरामें अपने आप नशा कुछ नहीं है। जब वह पी (पिई) जाती है तो पीनेवालेको नशा मालूम भी होता है और नहीं भी मालूम होता है सो इस तरहसे तो जगतमें यह कायदा ही है कि कई जड़ चीजोंके मिलनेसे एक दूसरे प्रकारकी जड़ चीज पैदा हो जाती है जिसका असर कुछ न कुछ होता ही है जैसे पानी, मीठा, रवा और अग्निके जरियेसे मिलकर हलवा होजाता है जो कि अपना एक खास असर रखता है। और देखिये रसोईमें मिट्टी, पानी आग, हवा और आकाश पांचों चीजें होती हैं पर उनसे सिवाय जड़ चीजोंके कोई चेतन चीज पैदा नहीं हो सकती है—

यह बात तो सायन्स (विज्ञान) के जरियेमे भी प्रमाणित है कि जिन चीजोंमें पुद्गल (Matter) है उनके मिलने व अलग करनेसे पुद्गल (Matter) ही होजायगा। पुद्गलमें तरह तरहकी ताकतें मौजूद हैं। एलेक्ट्रिसिटी (बिजुली) आदिक सब पुद्गल ही की पर्याय हैं। इनमें कुछ भी चेतना नहीं। जीवकी कोई मूरत नही बना सकता है। पुद्गलका छोटासे छोटा टुकड़ा (जिसका और टुकड़ा नहीं हो सकता) भी मूर्तिक होगा। यदि हम यह मानें कि मिट्टी, पानी, आग, हवाके मिलनेसे जीव होता है और एक एकका इनमेंसे एक एक ही छोटेसे छोटा टुकड़ा आपसमें मिलकर जीव होजाता हो, तब भी इन पांच टुकड़ोंसे बनी चीज मूर्तिक ही होनी चाहिये, अमूर्तिक नहीं। मूर्तिककी तौल भी होती है किन्तु इस अमूर्तिक वस्तु जीवमें कोई तौल नहीं। अगर एक जीवधारीका शरीर उसके मरते समय तौला जाय और फिर जीव न रहै तब उसी शरीरको तौलो बशर्ते कि उसके शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाला एक भी परमाणु जर्रा (Matter) पुद्गलका अलग न हो। तौ दोनोंकी तौल बराबर होगी।

यह जीव अनादिकालका है कभी इसका नाश नहीं होता।

चौपाई ॥

बालक मुख मैथुनको लेय।
दाबे अंचे दूध पिवेय ॥
जो अनादिको जीव न होय।
सीख बिना क्यों जाने सोय ॥
मरके भूत होत जे जीव।

पिछली बातें कहैं सदीव ॥
सिरचढ़ि बोले निज घर आय ।
ताते हंस अमर ठहराय ॥

भावार्थ-छोटा लड़का जन्मते ही अपनी माताको पहचान कर दूध पीने लगता है। शरीरमें दुःख मालूम होते ही रो देता है, दूसरे जो जीव मरकर भूत आदिक नीच देव होते हैं वे कभी किसीके सिर चढ़के पिछली बातें कहते हैं इत्यादि दृष्टान्त इस बातके प्रमाण हैं कि, जीव अनादि, अनन्त, अविनाशी, पुद्गलसे भिन्न कोई अमूर्तिक वस्तु है। मूर्तिक पुद्गलसे इसका निश्चयसे सम्बन्ध नहीं है—इस जीवका लक्षण 'जानना' 'देखना' है। लेकिन संसारी जीवोंके ज्ञान दर्शन स्वभावका प्रगटपना बहुत कम है इससे संसारी जीवोंका जानपना इन पाँच इंद्रिय तथा मनके द्वारा होता है। जैसे कि दृष्टि ठीक न हो तो उसको देखनेके लिये चश्मा लगानेकी आवश्यकता होती है उसी प्रकार हमारे जानपनेका स्वभाव जबतक निर्मल नहीं तबतक जानपनेके लिये सहायताकी आवश्यकता होती है। यहां पर यह शंका होगी कि जब **जीव** वस्तुका स्वभाव जाननेका है तब और सहायताओंकी क्या आवश्यकता है? इसका समाधान इस प्रकार है कि संसारी जीवोंके स्वभाव अनादि कालसे किसी प्रकारके मलसे पूरित हैं जो कि इनको अपने स्वाभाविक कार्यके होनेमें बाधा करते हैं। वे मल क्या हैं इसका वर्णन **अजीव** और **आश्रव** तत्वमें किया जायगा।

यहांपर केवल जीव तत्व ही वर्णन है।

इसी जीव तत्वके विषयमें एक कविकृत यह कवित्त है।

सवैया ।

जीव सदा उपयोग मई, निरमूरति भावनिको करता है ।
देह प्रमान कह्यो भुगता भव वास वसै शिवको भरता है ॥
ऊरध चाल सुभाव विराजत नौ अधिकारनिको धरता है ।
सो सब भेद बखान करूँ सरधान करो भ्रमको हरता है ॥१॥

सवैया ३१

इन्द्री पांच बल तीन स्वास आव दस प्राण मूल चार इन्द्री बल स्वास आव मानिये । पूरव जीवै था अव जीवै आगे जीव होगा एई प्राण सेती विवहार जीव जानिये ॥ सुध ग्यान [illegible] और चेतन निहचे प्राण, शास्वतो सुभाव तीन कालमे वखानिये । विव-हार निहचे स्वरूप जान सरधान ऐसे जीव वस्तु लखे सो सुखी पिछानिये ॥

भावार्थ—जीवके मुख्य करके ६ विशेषण हैं (१) सदा जीव है अर्थात् तीनों कालमें जीता है (२) उपयोगमई याने ज्ञान दर्शनका धारी है (३) अमूरत है पुद्गलकी ऐसी कोई मूरत (Material figure) नहीं है (४) कर्त्ता है याने व्योहा-रसे कर्मोंका कर्त्ता है निश्चयसे अपने ही भावोंका कर्त्ता है (५) देह प्रमाण याने जिस देहमें जाता है उसी देहके प्रमाण सिकुड़ता व फैल जाता है (६) भोक्ता है याने व्यवहारसे अपने ही किये हुए कर्मोंका फल आप भोगता है । निश्चयसे अपने स्वभावको भोगता है (७) संसारी है अर्थात् संसारमें घूमने वाला है (८) सिद्ध है अर्थात् संसारसे रहित शिवरूप है (९) ऊर्ध्व स्वभाव धारी है याने अग्निकी लौ के समान ऊंचा चलनेका है स्वभाव

जिसका। व्यवहारमें जीव वह है जिसके कमसे कम ४ प्राण और ज्यादासे ज्यादा १० प्राण होते हैं।

एक इन्द्रीवाले जीवोंके ४ प्राण याने स्पर्श इन्द्री, शरीरका बल; आयु और श्वासोछ्वास होते हैं।

दो इन्द्रीवाले जीवोंके ६ प्राण याने पहले कहे हुओंसे रसना इन्द्री और बचन बल ज्यादा होता है।

तीन इन्द्रीवाले जीवोंके ७ प्राण याने एक घ्राण (नाक) इन्द्री ज्यादा होती है।

चार इन्द्रीवाले जीवोंके ८ प्राण याने एक चक्षु (आंख) इन्द्री ज्यादा होती है।

पांच इन्द्रीवाले जीव दो तरहके होते हैं एक मनवाले दूसरे मन विना—

मन रहित पंचेन्द्री जीवोंके ९ प्राण याने एक कर्ण इन्द्री ज्यादा होती है। मन सहित पंचेन्द्री जीवोंके १० प्राण याने एक मन बल ज्यादा होता है।

और निश्चय कर जीव वह है जिसके सदा ज्ञान दर्शन सुख पाया जाय।

यहां पर व्यवहार और निश्चय दो शब्द कहे इनका प्रयोजन यह है कि निश्चय उसे कहते हैं जो कि एक चीजके असली हालको कहे। व्यवहार उसे कहते हैं जो कि असली हालको न कहकर किसी और चीजोंके सबबसे जो तरह २ की हालतें हों उनको कहे।

जीवका जो जानना सभाव है उस ज्ञान स्वभावके पांच भेद हैं अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमेंसे केवलज्ञान जिस समय जीवके स्वभावमें होता है उस समय यह जीव स्वयं बिना किसी और वस्तुकी मददके तीन लोककी सब चीजोंको जान लेता है। अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके होनेपर इस जीवके जाननेकी शक्तिमें और चीजोंकी थोड़ी मददकी आवश्यकता होती है इसीलिये इन दो ज्ञानोको कुछ प्रत्यक्ष भी कहते हैं।

किन्तु मति ज्ञान और श्रुति ज्ञान यह दो ज्ञान बिना और चीजोंकी मददके बिल्कुल नहीं होते। यह दो ज्ञान एकेन्द्री जीवसे लेकर मन स[illegible]त पंचेन्द्री जीव तक सब जीवोंके कमती बढ़ती पाये जाते हैं।

अवधि ज्ञान जन्मते ही देवनारकी और तीर्थङ्करोंके पाया जाता है लेकिन औरोंको इसके पानेके लिये आत्मध्यान करना होता है। मन पर्य्यय ज्ञान और केवल ज्ञान यह दो ज्ञान बिल्कुल आत्मध्यान करने ही से मनुष्य जन्मधारी जीव हीको होने हैं। एक जीवके एक वक्तमें कमतीसे कमती एक और ज्यादासे ज्यादा ४ ज्ञान होते हैं। यदि एक ज्ञान होगा तो केवलज्ञान ही होगा, क्योंकि जिस समय केवलज्ञान होता है उस समय पूर्ण ज्ञान हासिल होजाता है फिर और ४ प्रकारके ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होती है। दो होगे तो मति और श्रुति होंगे। तीन होंगे, तो मति, श्रुति और अवधि या मनपर्य्यय और चार होगे तो मति, श्रुति, अवधि और मनपर्य्यय होंगे।

हमारेमें मति और श्रुति यह दो ज्ञान ही मौजूद हैं और यह दोनों ज्ञान पांच इन्द्रिय और मनके आधीन हैं, क्योंकि हमारे आत्माका ज्ञान इतना मन्द है कि यह बिना इनकी सहायताके नहीं देख सकता। जैसे कि कमती देखनेवालेको चश्मेकी सहायताके बिना ठीक नहीं माल्रम पड़ता और जैसे चश्मेमें यदि कुछ दोष हो जाय तो देख न सके व कम देख सके व और का और देखे। इसी तरह यदि पांच इन्द्रिय व मन जो बिगड़े हों व किसीमें दोष होय तो उनके द्वारा भी जो जानना होगा वह कमती बढ़ती औरका और व नहीं जानना होगा। यही कारण है कि वृद्ध अवस्थामें इन्द्रियोंकी शिथिलता होनेपर जाननेमें भी कमी हो जाती है और इन्द्रिय और मनके ठीक रहनेसे जानपना भी ठीक होता है। जैसे जितना तेज चश्मा होगा उतना तेज दिखलाई देगा और जितना मन्द होगा उतना ही मन्द प्रगट होगा। अब प्रश्न केवल इतना ही है कि ऐसे जीवोंका ज्ञान इतना मन्द क्यों होरहा है? उसके लिये ऊपर लिखे अनुसार फिर भी कहना होता है कि एक प्रकारका मल है जो अनादिकालसे हमारी आत्मज्योतिको प्रगट नहीं होने देता।

चौथा अध्याय।

अजीवतत्व।

'अजीव' उसे कहते हैं जो जीव नहीं अर्थात् जिस वस्तुमें अपने आप चेतनता याने देखने जाननेकी शक्ति नहीं। अजीव पांच प्रकारके जैनमतमें कहे हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

यह लोक सब जगह छः द्रव्योंसे भरा हुआ है। वह छः द्रव्य ऊपर कहे हुए पांच तरहके अजीव और एक जीव द्रव्य है।

इन पांच अजीवोंमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल तो बिलकुल अमूर्तिक हैं। सिर्फ पुद्गल ही मूर्तिक है।

इस जगतमे जितनी वस्तुएं इन्द्री गोचर हो रही हैं सब पुद्गल ही हैं।

हमारा बहुत बड़ा सम्बन्ध पुद्गलसे रहता है इस कारण पहले पुद्गल नामा अजीव ही के भेदोंका वर्णन प्रगट किया जाता है।

पुद्गल छः प्रकारके होते हैं-(१) सूक्ष्म सूक्ष्म (२) सूक्ष्म (३) सूक्ष्म स्थूल (४) स्थूल सूक्ष्म (५) स्थूल (६) स्थूल स्थूल।

सूक्ष्म सूक्ष्म पुद्गलका एक परमाणु होता है याने इतना छोटा हिस्सा कि जिसका फिर भाग न हो सके।

सूक्ष्म-कर्म-वर्गणाके पुद्गल हैं जिनसे बंधा हुआ यह आत्मा संसार-चक्रमे घूमा करता है और जिनके छूट जानेसे यह जीव मुक्त कहलाता है।

सूक्ष्म-स्थूल वह चीज है जो कि देखनेमें सूक्ष्म है याने चर्म नेत्रोंसे नही दिखलाई पड़ती, परन्तु अपने कार्यमें बहुत स्थूल हैं याने काम उसका बहुत बड़ा मालूम होता है। जैसे शब्द (आवाज) खुशबू जो कि देखनेमें नहीं आते परंतु काम इनका साक्षात् प्रगट है।

स्थूल-सूक्ष्म वह पुद्गल है जो देखनेमें बहुत मालूम हो पर सूक्ष्म इतना कि आप उसे हाथसे पकड़ नहीं सकते जैसे चांदनी, धूप, छाया आदिक।

स्थूल वह पुद्गल है, जो बहनेवाली चीज हैं याने जिसके टुकडे कर देनेमें फिर वह बिना किसी चीजकी सहायताके वैसे ही मिलजावे जैसे पानी, दूध, तेल आदिक।

स्थूल स्थूल वह पुद्गल हैं जिनका टुकड़ा किये जानेसे बिना दूसरी चीजकी मददके फिर न जुड़ सकें जैसे पत्थर, मिट्टी, लकड़ी आदिक।

इन छः भेदोंमें हमारे जीवके साथ विशेष कर सम्बन्ध इस सूक्ष्म जातिके पुद्गलोंसे है, जो कि हमारे जीवको स्वभावजनित निजानन्द प्राप्त करनेमें बाधा डालते हैं इसी लिये हमें ऐसे कर्म वर्गणा जातिके पुद्गलोंका विशेष हाल कहना उचित है।

कर्म वर्गणाके पुद्गलों याने कर्मोंका सम्बन्ध हमारे जीवसे अनादि कालसे है और यही एक प्रकारका मल है जोकि जीवको अपने स्वाभाविक कार्यके करनेमें बाधा डालता है और जबतक यह कर्मरूपी मैल हमारी आत्मासे मिला है तबतक यह आत्मा स्वाधीन रहकर अपने अपने आप ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य स्वभावको प्रकाश नहीं कर सकता। यह कर्मरूपी मल हमेशासे इस जीवके साथ लगा है कोई नया नहीं, परन्तु इसके निज स्वभावसे भिन्न है। जैसे खानसे निकली हुई धातु मिट्टी आदिसे मिली हुई निकलती है और मिट्टीके अलग करनेसे वह शुद्ध साफ हो जाती है, मिट्टीका स्वभाव उस धातुके स्वभावसे भिन्न है। इसी तरह आत्मासे अनादिकालका मिला हुआ यह भिन्न स्वभावधारी कर्मरूपी मल प्रयत्न करनेसे दूर होता है और यह आत्मा शुद्ध हो सकता है।

यह कर्म्म-वर्गणाके परमाणु जो कि संसारी जीवोंको ग्रसे रहते हैं इतने सूक्ष्म हैं कि अनंतानंत इस जीवके साथ रहते हुए भी इन चर्मनेत्रोंसे दिखलाई नहीं पड़ते, इसके लिये हमें आश्चर्य न करना चाहिये क्योंकि वायुकायके पुद्गल इतने भारी होने पर भी कि बड़े बड़े पहाड़के शिखरोंको अपने धक्केसे गिरा दें- दिखलाई नहीं पड़ते। इसी प्रकार बहुतसी ऐसी चीजें तलाश करनेसे मिलेंगी जो कि नहीं दिखलाई पड़तीं। यह कर्मवर्गणा कुछ एक ही समयसे अनादि कालसे नहीं आ रही है, हरएक समय (जो कि कालका सबसे छोटा हिस्सा है) में पुराने कर्मके पुद्गल अलग होते जाते हैं और नये मिलते जाते हैं।

पुराने कर्म आत्माके साथ रहनेसे फिर समय पे फल देनेको सन्मुख होते हैं अज्ञानी आत्माको उस समय उन कर्मोंके फलको भोगनेके लिये उद्यत होना होता है। ज्ञानवान आत्मा उसी फलको कमती बढ़ती भी भोग सकता है। यदि वह भोगने वाला आत्मा समभावसे-याने यह समझकर कि यह मेरे ही किये हुए कर्मोंका फल है उस दशाको सह ले और अपने भाव बिल्कुल दुःखित व हर्षित न करे तो उस कर्म फल भोगनेकी अवस्थामें उसके नए कर्म्मोंका बंधन नहीं होगा किन्तु यदि कुछ भी हर्ष विषाद होगा तो नये कर्म्मोंका अवश्य बंधन होगा। जैसे किसी जीवके कर्म उदयके वशसे कोई रोग उत्पन्न होनेके कारण बन गए, उस समय यदि वह रोगी न घबड़ाकर समभाव रखखे ऐसा समझ कर कि वह रोगकी उत्पत्ति मेरे ही बांधे हुए पूर्व कर्मका फल है, तो उसके उस जातिके नए कर्म्मोंका बंधन न होगा और यदि इसके प्रति-

कूल घबड़ाएगा, दुखी होगा, तो अवश्य उसके उस समयकी भावोंमें तीव्रता व मंदताके अनुसार उसी जातिके परमाणुओंका बंधन होगा जो कि आगामी फिर कभी फल देनेके संमुख होवेंगे। यह कर्मोंका चक्कर उस सूत बतारके चक्करके समान है जो कि एक तरफसे खुलता जाय और दूसरी तरफसे बंधता जाय। कर्म्म चक्करका खोलनेवाला बांधनेवाला एक जीव ही है। यदि यह प्रयत्न करे तो बंधे कर्म बिना रस दिये ही झड़ जांय और नए कर्म बंधे ही नहीं।

यहां पर इतना कह देना भी अनुचित न होगा कि यह संसारी जीव बिल्कुल कर्म्मोंके वश नहीं है। यदि यह प्रयत्न करे तो पहिलेके कर्मोंको अपने फल देनेके पहिले ही दूर कर सकता है तथा उनके जोर घटा सकता है और उनका जोर बढ़ा भी सकता है। इसका वर्णन "निर्जरा" तत्वमें किया जायगा।

हम यहांपर अपने उन भाइयोंका ध्यान इस विषय पर आकर्षण करते हैं कि जो कर्मोंके आधीन अपनेको मानकर निरुद्यमी रहते हैं। जैन मतका कभी यह सिद्धांत नहीं है कि हम कर्मोंके ही आधीन हैं। जैन मतके सिद्धांतको जैसा ऊपर वर्णन किया गया है जाननेवाले सदा उद्यमके घोड़ेपर सवार रह कर कर्मोंको अपने ही वशमें समझ कर अपनी आत्म-उन्नतिकी ओर दत्तचित्त रहते हैं। जैनमत कहता है कि जहां आलस्य है वहां पाप है। श्री उमास्वामी कृत तत्वार्थसूत्रमें हिंसाका भेद इस प्रकार लिखा है कि प्रमादके योगसे जो प्राणोंका नाश करना है वह हिंसा है। आलसी पुरुष न खानेमें, न पीनेमें, न उठानेमे न धरनेमें, न

घात करनेमें किसी ही काममें उचित यत्न न रखनेके कारण जीव हिंसाके पापके भागी होते हैं। जो भाई जिनेन्द्र दर्शन करनेका उद्यम किंचित् भी न करने पर और पूछने पर यह जवाब दे देते हैं कि भाई क्या करें हमारे भाग्य हीमें नहीं जो थोड़ीसी भी फुरसत मंदिर जानेको मिले वे लोग और भी ज्यादा पापके भागी होते हैं।

इस विषयका विशेष वर्णन जानना हो तो श्री पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय ग्रन्थकी स्वाध्याय करके जान सकते हैं।

यहांपर यदि कोई प्रश्न करे कि कर्म वर्गणाके पुद्गल मूर्तिक हैं और आत्मा अमूर्तिक है अतः किस प्रकार अमूर्तिकको मूर्तिक घेर सकता है? इसका समाधान इस प्रकार है कि यह संसारी जीव अपनी वर्तमान दशामें अमूर्तिक नहीं किंतु मूर्तिक है, क्योंकि अनादिसे कर्मों करके घिरा हुआ है, उसी कर्मके साथमें और कर्म आकर मिल जाते हैं, शुद्ध जीव कर्मोंसे संमिलित नहीं हो सकता। जिस समय जीवके भाव अपने स्वभावसे भिन्न होते हैं उस समय कर्म वर्गणाके परमाणुओंको जो कि तीनों लोकमें भरे हैं यह संसारी जीव आकर्षित कर लेता है। इस लिये कर्मके फंदोंसे छूटना ही इस जीवका परमहित है। यह कर्म आठ ८ प्रकारके होते हैं—

(१) ज्ञानावरणी (२) दर्शनावरणी (३) अंतराय (४) मोहनी (५) आयु (६) नाम (७) गोत्र (८) वेदनी।

इनमेंसे पहलेके ४ कर्म घातिया कहलाते हैं क्योंकि यह जीवके स्वभावको आवरण करनेवाले हैं और अन्तके ४ अघातिया, क्योंकि यह जीवके स्वभावको न ढककर केवल ऐसे कारण मिलाते हैं जो कि जीवको स्वभाव भूलनेके कारण होजाते हैं।

अध्याय पांचवा।

[आठ कर्म]

(१) ज्ञानावरणी कर्म

इस कर्मका यह स्वभाव है कि इसके सम्बन्धसे आत्माका ज्ञान प्रगट नहीं होता है तथा कम प्रगट होता है। यह पांच प्रकारका होता है।

(१) मतिज्ञानावरणी-जो मति ज्ञानको न होने दे। मति ज्ञान वह ज्ञान है जो कि पांच इन्द्री और मनके द्वारा किसी पदार्थको जाने। जसे हम पीली वस्तुको आंख इन्द्रीसे देखकर उसके और लक्षण जानकर यह निश्चय करते हैं कि यह सोना है पीतल नहीं। यह सब ज्ञान 'मतिज्ञान' है। मतिज्ञानावरणी कर्मके कमती बढ़ती होनेके कारण जीवोंकी साधारण बुद्धि (Common Sense) कमती बढ़ती होती है। इसके ३८८ भेद हैं जिसका वर्णन श्री सर्वार्थसिद्धिजी ग्रन्थसे जानना योग्य है।

(२) श्रुति ज्ञानावरणी-जो श्रुति ज्ञानको न होने दे। श्रुति ज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है अर्थात् पदार्थोंका विशेष हाल व भेद मालूम करना यह श्रुति ज्ञानका विषय है। ११ अङ्ग १४ पूर्वका ज्ञान सब श्रुति ज्ञान है।

(३) अवधि ज्ञानावरणी वह ज्ञान है जो अवधि ज्ञानको न होने दे। अवधि ज्ञान वह ज्ञान है, जिसके द्वारा तपस्वी मुनि अपने व और जीवोंके पूर्व जन्मके चरित्रोंको व आगामी चरित्रोंको विचार करनेसे मालूम करते हैं-यह ज्ञान रूपी पदार्थों ही को जान

सकता है। यह ज्ञान देव और नारकियोंके भी होता है जिससे वे अपने पूर्व भवका वृत्तांत विचार करनेसे जान लेते हैं।

(४) मनपर्यय ज्ञानावरणी-मनपर्यय ज्ञानको नहीं होने देती। मनपर्यय ज्ञान वह ज्ञान है जो कि दूसरोंकी मन सम्बन्धी सूक्ष्म वार्ताओंको व सूक्ष्म पुद्गल द्रव्योंके चरित्रको जान लेता है।

केवल ज्ञानावरणी-केवल ज्ञानको नहीं होने देता। केवल ज्ञान वह ज्ञान है जो कि सर्व पदार्थोंकी कुल पर्यायोंको एक ही समयमें मालूम करता है।

इस प्रकार ज्ञानावरणी कर्मके पांच भेद हैं। इस कर्मके आश्रव होकर बंधने (अर्थात् कर्मोंका आकर आत्मासे सम्बंध करने) में नीचे लिखे कारण होते हैं। जब मन वचन और काय चलायमान होते हैं उसी समय कर्मोंका आगमन होता है। जैसे चुम्बक पत्थर लोहेको घसीट लेता है इसी प्रकार सरागी मन वचन काय कर्मोंको घसीट लेते हैं। ज्ञानावरणी कर्मके आने (आश्रव) के कारण-

१-प्रदोष-तत्वज्ञानकी कथनी करनेवालेसे व उत्तम ज्ञानके देनेवालेसे ईर्षाभाव रखना प्रशंसा न करके चुप रहना।

२-निन्हव-आप पदार्थोंका हाल जानता हुआ भी अगर कोई पूछे तो यह कहना कि हम नहीं जानते। भावार्थ अपने ज्ञानको दूसरेसे छिपाना।

३-मात्सर्य-अपनेको शास्त्र ज्ञान व पदार्थोंका ज्ञान होते संते और आप सिखावने योग्य होते संते भी दूसरेको न सिखलाना, यह भाव रखके कि यदि दूसरा सीख जावेगा तो मेरी बराबरी करेगा।

४-अन्तराय-ज्ञानके अभ्यासमें विद्याकी उन्नतिमें विघ्न करना, विद्योन्नतिके कारणोंको न होने देना।

५-असादना-दूसरेके प्रकाश किये हुए ज्ञानको वर्जना याने मना करना।

६-उपघात-ठीक ठीक ज्ञानमें भी दोष लगाना। यह छः तो मुख्य कारण ज्ञानावरणी कर्मके आश्रवके हैं। इनके सिवाय विद्या पढ़नेमें आलस्य, शास्त्र व पुस्तक पढ़नेमें अनादर, आप बहुज्ञानी होकर गर्व करना, झूठा उपदेश देना, ज्ञानवालोंका अपमान करना, खोटे शास्त्रका लिखना, छपाना व वेचना इत्यादि जो जो बातें किसी प्रकारसे भी अपने व दूसरेके ज्ञानाभ्यासने रोकनेवाली हैं वे सब ज्ञानावरणी कर्मके आश्रवके कारण हैं।

हे हमारे प्यारे जैनी भाइयों! देखो आपका प्राचीन शास्त्र क्या कहता है! क्या आप लोगोंको ज्ञानाभ्यासके कारणोंको जारी न करनेके कारण तथा विद्योन्नतिमें आलस्य करनेके कारण ज्ञानावरणी कर्मका आश्रव न होगा? क्या वह विद्वान् पंडित—जोकि आप ज्ञानसे परिपूर्ण होकर और अपने ज्ञानरूपी ज्योतिसे हमारे अज्ञानरूपी अंधेरेको मेटनेकी योग्यता रखनेपर भी आलस्य करते हैं तथा दूसरोंको वस्तुका स्वरूप भले प्रकार यह समझ कर नहीं सिखलाते हैं कि यह जान कर हमारी बराबरी करेंगे व हमसे ज्ञानमें उच्च हो कर हमारे मानमें विघ्न करेंगे—ज्ञानावरणी कर्मके आश्रवके भागी नहीं हैं? क्या वह हमारे सुखसेवी (पिन्शनयाफ्ता) भाई जिनको सरकार पेन्शन इसी गरजसे देती है कि वे अपने अन्तके दिन सुख शान्तता पूर्वक बिताते हुवे अपने अनुभवसे हासिल किये ज्ञानको

दूसरोंको प्रदान करें, यदि ऐसा न करके अपने ज्ञानको छिपा कर रक्खें तो ज्ञानावरणी कर्मके आश्रवके भागी नहीं हैं ?

हे हमारे जैनी भाइयो ! आप अपने प्राचीन ग्रन्थोंको पढ़कर उस पर चलनेकी कोशिश कीजिये। आपके शास्त्र सब पुकार पुकार कर कहते हैं कि "ज्ञान बिना करनी दुखदाई, अज्ञानी कोटि वर्ष तप तपे तो जितने कर्मोंका क्षय हो उतने कर्मोंको ज्ञानी एक क्षण भर तप करके नाश कर सकते है" तो क्यों आप ज्ञानशून्य अवस्था अपनी करते जाते हैं। आपने अपनेको अज्ञानी बनाकर अपना धर्म कर्म राज्य पाट सब गवां दिया। आपका रहा सहा व्यापार भी चला जारहा है। आप बराबर देखते हैं, पर कुछ उपाय नहीं करते। यह आलस्यका जमाना नहीं, चेष्टाका है। यदि उद्योगी पुरुष हो तो बहुत कुछकर सकता है। आपकी खेती भी आपसे निकलकर आपसे ज्यादा जानकारों (अंग्रेजी व्यापारी)के हाथमें चली जारही है। आपकी रुईकी खेती कुछ दिनोंमें युरुपियन उद्योगी व्यापारियोंके हाथमें चली जायगी। आप यह देखते हुए भी कि आपके भाई जापान निवासी पुरुषोंने कितनी उन्नति अपनी की है, आप बिलकुल बेखबर हैं। जापानके लोग बौद्धमती हैं। वे भी जैन धर्मके माफिक ज्ञानको सर्वोत्तम समझते हैं। उन्होंने शास्त्रानुसार आज्ञाको मान ज्ञानको इतना बढ़ाया कि ५० वर्षके भीतर भीतर कुल सौदागरीकी चीजें (दियासलाई, बटन, सुई, कैंची, कपड़ा इत्यादि रोजकी कामकी चीजें) जो पहले विलायतसे मंगाते थे अपने घरमें प्रस्तुत करने लगे। भाइयो ! जापानकी तरक्कीका केवल कारण विद्याका प्रचार है। मि० धर्मपाल ता०-१८ अप्रैल १९०४ के

"ऐडवोकेट" में लिखते हैं कि जापानकी तरक्कीका असली कारण विद्याका प्रचार है। जापानमें कोई भी अनपढ़ बचा नहीं है। "There are no illiterate children in the land of the Rising Sun" यहांके अनाथ बालकोंकी यहांकी म्युनिसिपेलिटी और सर्कार दोनों बड़ी खबरगीरी रखते हैं। छोटे छोटे बालकोंको कारीगरी सिखलाई जाती है। मि० धर्मपाल कहते हैं कि सन् १८९९ में जापानके लोग मुश्किलसे १ ग्लास लेम्पकी चिमनी बना सकते थे। जब कि २ वर्ष बाद सन १९०२ में देखा गया तो वे ६००० टनवाले जहाज अपने ठीक घरोंमें तय्यार कर रहे हैं। बस भाइयो! प्रमादको छोडकर अपना सर्वस्व ज्ञानकी उन्नतिमें खर्च कीजिए, तभी आप ज्ञानावरणी कर्मके संयोगसे दूर रहेंगे। अन्यथा यह कर्म बंधकर आपकी आत्माको निगोद आदि एकेन्द्री पर्यायमें ले जाकर अज्ञानी की भांति-ही असमर्थ कर देंगे।

अध्याय छठा।

२—दर्शनावरणी कर्म।

यह वह कर्म है कि जिसके सम्बन्धसे आत्माकी दर्शन शक्ति प्रकट नहीं होती तथा कम प्रकट होती है। यह नव प्रकारका होता है—

(१) चक्षु दर्शनावरणी—वह कर्म है जिसके उदयसे यह प्राणी अंधा होता व कम दृष्टिवाला होता है।

(२) अचक्षु दर्शनावरणी—वह है जिसके द्वारा आंखको

छोड़कर और चार इंद्री जैसे नाक, कान, मुंह, स्पर्श इनके द्वारा मालूम करना न हो।

(३) अवधि दर्शनावरणी—अवधि दर्शनको न होने दे। अवधि दर्शन वह दृष्टि है कि जिसके द्वारा यह जीव अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावकी मर्यादा लिये रूपी पदार्थोंको देखे। जैसे कुछ भव पहिलेकी बातें अपनी तथा औरोंकी देखकर कहना।

(४) केवल दर्शनावरणी—आत्माको तीन लोक देखनेकी शक्ति अर्थात् केवल दर्शनको न होने दे।

(५) निद्रा—जिसके द्वारा नींद आवे।

(६) निद्रा—निद्रा—वह है जिसके द्वारा निद्रा बार बार आवे।

(७) प्रचला—वह है जिसके द्वारा बैठे बैठे औंघाई आवें।

(८) प्रचला—प्रचला—सोही औंघाई बार बार आवे।

(९) स्त्यानगृद्धि—वह है जिसके द्वारा सोता सोता उठ कुछ काम करे, फिर सो रहे और न जाने जो मैंने कुछ किया था। इस दर्शनावरणी कर्मका आश्रव होकर आत्माके साथ बंधनेमें वही छः कारण हैं जो कि ज्ञानावरणी कर्मके आश्रवके कारण हैं—

१। प्रदोष—अच्छी दृष्टि व इन्द्री विषय अवधि व केवल दर्शनादि—इनको दूसरोंमें उत्तम देखकर ईर्षा करना।

२। निन्हव—आप जिस पदार्थको देखा होय उसको दूसरोंसे छिपाना।

३। मात्सर्य्य—दूसरा शास्त्रादिक व और वस्तु देखना चाहें उसको न दिखाना न बतलाना—ऐसा भाव रखना कि देखकर मेरी हानि करेगा।

४ । अन्तराय—दूसरेके पदार्थ देखनेमें विघ्न करना।

५ । आसादना—दूसरेकी देखी हुई चीजको मना करना।

६ । उपघात—ठीक ठीक देखी हुई चीजमें व देखनेकी-शक्तिमें दोष लगाना। इसके सिवाय दूसरेके नेत्र उपाड़ना, परकी इन्द्रियोंको बिगाड़ना चाहना। अपनी दृष्टिका गर्व करना, दिनमें सोवना तथा आलस्य रूप रहना, सम्यक्-दृष्टिको दूषण लगावना, कुतीर्थकी प्रशंसा करनी, प्राणीनका घात करना तथा यतीश्वरों-को देख ग्लानि करनी इत्यादि दर्शनावरणी कर्मके आश्रवके कारण हैं। इन कारणोंको बचानेके लिये हमें अपने मन वचन काय पर काबू रखना चाहिये, क्योंकि जिस समय इनमेंसे कोई चलता है कार्माण पुद्गल उसी समय उसके भाव (Thought) के प्रेरे उसके पास आते हैं और पुराने कर्मरूपी रज पर आकर जम जाते हैं।

प्यारे भाइयो ! ऐसा जानकर कि आलस्य और प्रमाद हमारे दर्शनावरणी कर्मके आश्रवके कारण हैं, हमें इसे दूरकर अपने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थोंकी परिपूर्णतामें कटिबद्ध होना चाहिये। यदि हमारे वर्तमान जैन जातिके शास्त्रके मर्मी इस दर्शनावरणी कर्मके आश्रवके कारणोंको छोड़कर निरालसी हो पदार्थोंका भेद मालूम करें और पुरुषार्थकी ओर ध्यान करें तो थोडे ही दिनोंमें हमारी इस जैन जातिका सुधार हो जाय। खेद इस बातका है कि हमारे भाई अपने महान् आचार्योंके सदुपदेशों पर गौर ही नहीं करते।

—•<<※>>•—

अध्याय सातवां।

३-वेदनी कर्म।

यह वह कर्म है जिसके उदय होनेसे [illegible] ऐसी चीजों का मिलाप होता है कि जिनके सबबसे संसारमें मोह करनेवाला प्राणी सुख व दुख मालूम करता है. परन्तु जिसके मोह नष्ट होगया है उसको वेदनी कर्मका उदय सुख व दुःख अनुभव व विचार नहीं करा सकता है। यह वेदनी कर्म दो तरहका होता है,—

१—साता वेदनी। २—असाता वेदनी।

साता वेदनी कर्मका जब उदय होता है तब देव गतिमें सुन्दर शरीर, सुन्दर देवांगना, अनेक ऋद्धियां व अनेक देव चाकर आदि चीजोंका मिलाप होनेसे सुख होता है और मनुष्य गतिमें राज्यादि विभव (दौलत,) निरोग शरीर, अनेक चाकर, सुन्दर स्त्री, अनेक मन मोहने महल आदि चीजोंका संयोग होकर सुख होता है। तिर्यंच (पशु) गतिमें यदि घोड़े, गौ, कुत्ते आदिकी योनिमें गए तो राजा महाराजा व धनवानोंके यहां रहना हुआ कि जहां कई नौकर उनकी हर वक्त सेवा किया करें व मालिक भी खुश होकर प्यार किया करें। इसी तरह समझ लेना चाहिये कि जो चीजें ऐसी हों कि जिनके मिलनेसे मोही जीव सुख मालूम करते हैं, वे सब चीजें साता वेदनी कर्मके उदयसे सुख देती मालूम होती हैं।

असाता वेदनी कर्मके उदयसे यह प्राणी नरकोंमें जाकर अनेक प्रकारके दुखकी चीजोंका मिलाप पाता है। जमीन बदबू-

दार, दरख्तके पत्ते कटीले, महारोगी कुरूप शरीर इत्यादि खोटी खोटी बातोंकी प्राप्तिकर दुख सहनेसे तकलीफ होती है। पशुगतिमें भूख प्यासके दुख, बलवानसे डरनेके दुख, गरमी सरदीके दुख, मनुष्य व अपने साथी जानवरोंसे मारे जानेके दुख, छोटे छोटे जानवरोंके दुख की कोई हद ही नहीं; पानी बरसा, कुम्हला कर मर गए; ज्यादा धूप पड़ी, धूपकी तेजीमें मर गए; ओले पत्थर गिरे, झुंडके झुंड स्वाहा होगये; आदमियों व जानवरोंके पैरोंमें तले कुचल गए, थोड़ी देर तक तड़फड़ा तड़फड़ा कर मरे। ऐसे अनेक दुखदायक चीजोंका मिलाप होता है। हमारे नेचरके तमाशा देखनेवालोंने (Naturolist) इस बातको अच्छी तरह गौर किया होगा।

इसी तरह मनुष्य गतिमें दरिद्री, रोगी, धनहीन होना, खोटी स्त्री, खोटे भाई, खोटे पुत्रका संयोग होना, इष्ट वियोग (जिससे हम प्रीति करते हैं उस चेतन व अचेतन चीजका यकायक बिछुड़ जाना), अनिष्ट संयोग (जिस चेतन व अचेतन चीजका मिलाप हम नहीं चाहते हैं उसी ही चीजका संयोग होना) के दुख भुगतना इत्यादि दुखदायक चीजोंका मिलाप होनेसे दुख होता है। देवगतिमें नीच जातिके देव होकर बड़े देवोंकी चाकरी करना, उनके लिये सवारीका काम देना, देवांगनाके (जिनकी उमर थोड़ी होती है) वियोगके दुख भुगतना इत्यादि दुखकी प्राप्ति होती है।

वेदनी कर्मका आत्माके प्रदेशोंके पास आगमन कैसे भावोंसे व किस ओर अपना मन वचन काय रखनेसे होता है ?

इस प्रश्नका उत्तर इस भांति जानना—

असाता वेदनी कर्मके आश्रवकी कारणभुत इतनी बातें हैं।
(१) दुख, (२) शोक, (३) ताप, (४) आक्रंदन (५) वध, (६) परिदेवन।

(१) दुःख—दूसरेको दुःख देनेके परिणाम या अपने ही को किसी रंजके सबब दुख देनेके भाव तथा आप भी दुखी होकर दूसरेको दुखी करना सो दुख है।

(२) शोक—जिस चेतन व अचेतन चीजसे अपनेको साता मालुम होती थी उसका बिछुड़ जाना. इस सबबसे अपने परिणामोंको मेला करना याने रंज करना, दूसरेको शोकित करना व आप और पर दोनों शोकित हो जाना सो शोक है।

(३) ताप—किसी सबबसे अपनी बदनामी होती होय इस कारण परिणाम मैले करके मनमें पछताना है (यदि कोई अशुभ कार्य अपनेसे हो गया होय उसके फिर न करनेके भाव करके जो पछताना उसका नाम ताप नहीं है)। दूसरेको ताप करना व आप और दूसरे दोनों संतापमें मगन होना सो ताप है।

(४) आक्रंदन—तबियतमें रञ्जकी तेजीके सबब रोना, रुलाना व दोनों रोने लगना सो आक्रंदन है।

(५) वध—अपने व किसी औरके आयु बल इंद्रिय श्वासोश्वास आदि प्राणोंका वियोग करना याने मार डालना या आप और पर दोनों मर जाना सो वध है।

(६) परिदेवन—ऐसा रोना कि जिसको सुनकर लोगोंके दिलोंमें दया (रहम) आ जावे। तथा दूसरेको ऐसा रुलाना व आप और पर दोनों इसी तरह रोने लगाना सो परिदेवन है।

ये छः बातें आप करे व दूसरेको करे व किसीकी ऐसी दशा देखकर खुश होय व इन्हींको मन वचन और कायसे करे यह सब भाव व क्रियाएं असाता वेदनी कर्मके आश्रवके कारण होती हैं। इसके सिवाय दूसरेकी बदनामी करना, चुगली खाना, कठोर परिणाम होना दूसरेके कषाय भावसे अङ्ग उपंग छेद डालना, डर दिखलाना, कषायभावसे अपनी तारीफ करना, दूसरेकी बुराई करना, दूसरोंके परिणाम दुखा देना, आरम्भ व परिग्रहमें बड़ा ममत्व रखना, विश्वासघात (फरेब) करना, स्वभाव टेढ़ा रखना, जीवोंको बेमतलब दण्ड देना, विष पीना या दूसरेको जहर पिलाना इत्यादिक जो जो पापसे मिले भाव हैं वह असाता वेद-नीके आश्रवके कारण हैं। जैसे जैसे भावमें विकार होते हैं वैसे ही कार्माण जातिके पुद्गल आकर आत्माके पुराने कर्मोंके साथमें मिल जाते हैं और कालान्तरमें फल देते हैं। इसी प्रकार साता वेदनीयके आश्रवके कारण यह हैं:—

(१) भूत और व्रतीपर अनुकम्पा—याने भूत कहिये सामान्य प्राणी [Coomon human begins] और व्रती कहिये वृतके धारी श्रावकादि पर पीड़ा देखकर ऐसे परिणाम होना मानों यह दुख हम हीको हो रहे हैं और अपनी शक्तिभर देख दूर करनेका यत्न करना।

(२) दान—दूसरे जीवोंके भलेके लिये अपना धन आदिक देना सो दान है। सो यह दान ४ प्रकारका है, औषध दान— दवाईका दान, आहार दान—भोजनका दान, अभय दान—जिसका कोई रक्षक न होय उसको रक्षाका दान, विद्या दान—याने इल्म हुनरका दान।

(३) सरागसंयम-धर्मकी प्रीतिके साथ संयम रखना याने अपने इंद्रिय और मनको रोकना और इसी लिये कुछ बिल्कुल छोड़नेवाली चीजोंको छोड़ना व कुछका प्रमाण याने गिन्ती करके रखना—या श्रावकके १२ व्रत पालना व अज्ञान तप करना व अकाम निर्जराके भाव होना। अकाम निर्जरा इसे कहते हैं कि कर्मोंका उदय होकर झड़ना, उस समय किसी बातकी कामना याने इच्छाका न होना।

(४) योग-मन वचन काय योगोंका शुभ रहना याने मनमें अच्छे भाव, वचन हित मित व कायको अच्छे कामोंमें लगाना।

(५) क्षांति-क्षमाभावका होना, याने क्रोध अर्थात् गुस्सेको न होने देना।

(६) शौच-लोभके भावोंका चित्तमें न होना।

यह मुख्य करके छः बातें साता वेदनी कर्मके आश्रवके कारणभूत हैं। इनके सिवाय अर्हंतकी पूजामें भाव व बालक, वृद्ध (बुड्ढे), तपस्वी, व अनाथ विधवाओंकी रक्षामें उद्यमी [मुस्तैद] रहना, सरल परिणाम याने सीधे परिणाम धारना, विनय रूप रहना, मान याने घमंडका न करना इत्यादि जो अच्छे भाव व अच्छे वचन व अच्छी (शुभ) काय चेष्टा-यह सब साता वेदनीय कर्मके आश्रवके कारण हैं।

प्यारे जैनी भाइयों! यह वेदनी कर्म जबतक दूर न हो तब तक कभी दुख कभी सुखकी सामग्री प्राप्त होती रहती है जिनमें कि मोही मन लीन होकर अपने आत्मस्वरूपको नहीं पहचानता।

परन्तु निज आत्मस्वरूपका पहिचानना दूर रहे, हम कभी इस बातका विचार तक नहीं करते हैं कि साता वेदनी व असाता वेदनीका आश्रव किन किन बातोंसे होता है। इसी हमारे विचारके न होने हीके कारण हम बाल्य विवाह करते शंका नहीं करते, हम वृद्ध विवाह करते डरते नहीं, हम बालकोंको विद्वान् करनेकी परवाह नहीं करते, हम अपनी जातिके भाइयोंको दिन पर दिन अवनत दशामें प्राप्त होते हुए भी उन फिजूल खर्ची आदिक कारणोंको नहीं रोकते। क्या कहें, यदि कोई विद्वान्-मंडली इन जैन धर्मके सम्यक् उपदेशोंको चितमें धारण करे तो उस मंडलीको कैसे सुख और शांतताकी प्राप्ति हो सो कुछ शुमारमें नहीं आ सकता।

अध्याय आठवा।

मोहनी कर्म।

यह वह कर्म है जिसके कारण यह जीव अपनेसे जुदी चीजोंमें ऐसा लुभा जाता है कि अपने आपको भूल जाता है। जैसे मदिरा (शराब) का नशा चढ़ता है, वैसे ही मोहका नशा होता है। इस कर्मके खास खास भेद दो हैं—(१) दर्शन मोहनी, (२) चारित्र मोहनी।

दर्शन मोहनी हमारे विश्वास (अकीदे) को मदकी दशामें रखती, याने जिसके कारण हमारा विश्वास ठीक नहीं होता।

चारित्र मोहनी के कारण हमारा आचरण मतवारेका ऐसा होता है, याने उचित व्यवहार अपने मन वचन कायका नहीं होता।

दर्शन मोहनी ३ प्रकार है—

(१) मिथ्यात्व, (२) सम्यक् मिथ्यात्व (३) सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व।

(१) मिथ्यात्व—जिसके उदयसे तत्वार्थका श्रद्धान न हो, याने जीव अजीव वगैरह तत्वोंके जो असली मतलब हैं उसपर यकीन न हो। इसी तरह इन तत्वोंके स्वरूपको बतलानेवाले देव, गुरु, शास्त्रका भी ठीक विश्वास न हो, रागी द्वेषी देवोंको देव माने. रागी द्वेषी परिग्रहधारी गुरुओंको गुरु माने, हिंसाके पुष्ट करनेवाले व संसारसे प्रीति बढ़ानेवाले शास्त्रोंको शास्त्र माने, आदि मिथ्यात्व है।

(२) सम्यक् मिथ्यात्व—जीव अजीव आदि तत्वोंका व देव गुरु शास्त्रका कुछ तो श्रद्धान होय और कुछ न होय. याने सम्यक और मिथ्यात्व मिले हुए होंय। जैसे दही और गुडका मिला हुआ स्वाद होता है।

(३) सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व—जिसके उदयसे सम्यक् बिगड़े तो नहीं परन्तु श्रद्धानमें मैलापन रहे। जैसे जीवादि तत्वोंका श्रद्धान तो है परन्तु कभी कभी निश्चयनयोंसे सर्व जीव एक ही स्वरूप हैं। इस बातको भूल जाना भेद समझने लगाना, अथवा सच्चे देवादिका स्वरूप तो मालूम है परन्तु कभी २ ऐसा भ्रम करना कि शांतिनाथजी शांतिके कर्त्ता हैं, पार्श्वनाथजी ही हमारे सुखके दाता, याने कभी कभी सर्व ही अरहंत देवोंको एकसा न समझना।

चारित्र मोहनीके २५ भेद हैं। इनमें नौ नोकषाय कहलाते हैं और १६ कषाय हैं।

नौ भेद नोकषायके यह हैं—

(१) हास्य—जिसके उदयसे हास्य (मजाक) प्रकट हो। (२) रति—जिसके उदयसे संसारी चीजोंमें तबियत लीन होजाय। (३) अरति—जिसके उदयसे कुछ सुहावे नहीं। (४) शोक—जिसके उदयसे किसी इष्टके वियोग होनेसे रंज करे। (५) भय—जिसके उदयसे दुःखकारी चोजसे डरे। (६) जुगुप्सा—जिसके उदयसे अपना दोष (ऐब) छिपावे और दूसरेके दोष देख परिणाम मैले करे याने नफरत करे। (७) स्त्री वेद—जिसके उदयसे स्त्री सम्बंधी भाव होंय। (८) पुरुष वेद—जिसके उदयसे पुरुष संबंधी भाव होंय। (९) नपुंसक वेद—जिसके उदयसे नपुंसक सम्बन्धी भाव होंय।

१६ कषाय यह हैं—क्रोध (गुस्सा), मान (गरूर), माया (कपट दगाबाजी), लोभ (लालच) यह चार कषाय हैं। इन चारोंके चार चार भेद हैं याने अनंतानुबन्धी क्रोध व मान व माया व लोभ, अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध व मान व माया व लोभ, प्रत्याख्यानावरणी क्रोध व मान व माया व लोभ, संज्वलन क्रोध व मान व माया व लोभ। इस प्रकार १६ भेद हैं।

अनन्तानुबन्धी—वह हैं जिनके उदयसे अनन्त संसारका बंध हो, याने ऐसा गुस्सा व गरुर वगैरह होना कि जो तबियतसे कभी दूर न हो।

अप्रत्याख्यानावरणी—वह हैं जिनके उदयसे ऐसा गुस्सा, गरुर, लालच व मायाचार होना कि जिससे, गृहस्थोंके करनेके लायक श्रावकके १२ व्रत पालनेके भाव नहीं हों।

प्रत्याख्यानावरणी—वह हैं जिनके उदयसे ऐसा क्रोधादि होना कि मुनियोंके व्रतको नहीं पाल सके।

संज्वलन—वह है जिनके उदयसे ऐसा क्रोधादि होना कि अपने पूर्ण शुद्ध स्वभावमें बराबर लीन न रह सके।

यह २५ भेद चारित्र मोहनीके और ३ भेद दर्शन मोहनीके मिलाकर कुल २८ भेद मोहनी कर्मके हैं।

अब यह मोहनी कर्म किन किन बातोंसे आश्रव रूप होता है इसका विचार करना चाहिये।

भाइयो! दर्शनमोहनी कर्मके कारण यह हैं—(१) केवली (जो ४ घातिया कर्मोंको नाशकर केवलज्ञान हासिल करके तीनलोक व अलोकको जानकर निराकुल हो गए) की निन्दा करनी या झूठा दोष लगाना। (२) जैन शास्त्र (जो कि दयामयी उपदेशसे भरा है) की निन्दा करना यानी झूठा दोष लगाना। (३) संघ (मुनियोंके संघ) की निन्दा करना व झूठा दोष लगाना। (४) देव (भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, कल्पवासी) की निन्दा करना व झूठा दोष लगाना याने कहना कि मांस भक्षी है। (५) धर्म (दयामयी धर्म) की निन्दा करना व झूठा दोष लगाना।

इन ५ बातोंकी तरफ मन वच काय चलनेसे तथा अन्य पदार्थोंके सच्चे स्वरूपको मिथ्या कहने और माननेसे दर्शन मोहनी कर्मका आश्रव होता है।

कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) के होनेसे जो परिणाममें तेजी होना और इसी कारण वचन भी तेज निकालना व शरीरसे भी खोटे आचरण करना, इनसे चारित्र मोहनीके कषाय

वेदनी कर्मका आश्रव होता है। इसी तरह नोकषाय वेदनीका आश्रव इस भांति है कि दीन दुःखीकी हँसी करने व बेमतलब बकनेसे हास्यका (१), योग्य कामको मना नहीं करने व दूसरेकी पीड़ाको दूर करने इत्यादिसे रतिका (२), खोटी क्रियामें उत्साह, दूसरेको पीड़ा देने व पापीकी संगति करनेसे अरतिका (३), आप रन्जमें रहने तथा दूसरोंको रन्ज देने तथा दूसरेका रंज देखकर खुश होनेसे शोकका (४), आप भयमें रहना व दूसरेको डर दिखलाना व निर्दई होकर दुःख देनेसे भयका (५), दूसरेकी बुराई करने व अच्छे आचरणवालेसे घृणा (नफरत) करनेसे जुगुप्साका (६), अतिकाम--तीव्रतासे परस्त्रीका आदर तथा राग भाव करने व सेवने तथा स्त्रीकेसे भाव आलिंगनादिके करनेसे स्त्री (वेदका) (७), थोड़ा क्रोध तथा कम लोभ, स्त्री सम्बन्धमें अल्पराग, अपनी स्त्रीमें सन्तोष करने, ईर्षाका अभाव तथा स्नान, गन्ध, पुष्पमाला, आभरणसे अनादर इत्यादि होने पुरुष वेदका (८), चार कषायकी तेजीसे तथा गुह्य इन्द्रीके छेदनेसे, स्त्री पुरुषके कामके अंग छोड़ अन्य अंगमें व्यसनीपनेसे, शीलवंत व व्रतीको उपसर्ग देनेसे, परस्त्रीके संगके निमित्त तीव्र राग करनेसे नपुंसक वेद (९) का आश्रव होता है।

भाइयो! इस प्रकार मोहनी कर्मके भेद जानकर यह उद्यम करना चाहिये कि जिसमें हमारा मोह सांसारिक पदार्थोंमें विशेष न लगकर अपने जीव उद्धारकी ओर लगे और हमको बहुतसे बेमतलब कामोंमें अपना धन व मिहनत व समय बरबाद करना न हो। हम देखते हैं कि हमारे जैनी भाई भी बिलकुल जैनमतके

उपदेशके विरुद्ध चलकर सांसारिक इच्छाओंकी पूर्तिके लिये कुदेव जैसे शीतला, देवी, भवानी, भैरों, यक्षपाल आदिको मानते तथा संसारमें आशक्त विषयोंमें प्रीतिधारक भिक्षकोंको भोजन देते व ब्रह्मकी ओरसे विमुख केवल ब्राह्मण जाति धारी विषयलीन ब्राह्मणोंको दान देनेसे अपना भला होना मानते हैं।

भाइयो! क्या कहा जाय! हमारे जैनी भाई इसी मोहनी कर्मके फन्दोंमें ऐसे उलझे हुए हैं, अतः झूठ बोलनेसे डरते नहीं, दूसरेका माल हजम करनेमें शंका करते नहीं, देव द्रव्यके गटक जानेमें कुछ पाप समझते नहीं, बालकोंका छोटी उमरमें विवाह कर उनको मिट्टीके खिलौने समझकर तमाशा देखनेमें आनंद मानते, तथा उनको विद्यारत्नसे विभूषित करनेकी परवा रखते नहीं, अपने समयको बेमतलब चौपर सतरंज आदिमें खोनेसे कुछ दोष मानते नहीं, अपने भाइयोंको दिनपर दिन हीन दीन देखकर उनके सुधार व सुखके लिये प्रयत्न करते नहीं, जैन जातिकी उद्धार करनेवाली भारत जैन महामंडलसे बेपरवाह रहकर उसको सहायता देते नहीं, व्यापारकी वृद्धि न्याय और सत्यसे होती है उसपर ध्यान रखते नहीं। विशेष क्या कहिये? उत्तम मनुष्य कुली कहला करके भी साधारण मनुष्य होनेकी इच्छा रखते नहीं। भाइयो! मोह छोड़ो। यह महा दुःखदाई है। इसकी संगतिसे जीवोंने त्रास पाई है। जिन्होंने इस मोहके साथ बुराई की है उन्हीने व्यापार, धन, मान्यता, देशोपकार जीव विचार आदिमें उन्नति पाई है।

अध्याय नवमां।

५-आयुकर्म।

आयुकर्म—वह कर्म है जिसके कारण यह जीव इस संसारमें नाना प्रकारकी योनियोंमें जा शरीरमें निवास कर भ्रमण करता हुआ कालक्षेप करता है।

इसके मुख्य ४ भेद हैं—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव।

(१) जिसके कारण नरकमें पैदा होकर नारकीके शरीरको धारण करे सो नरक आयु है। (२) एकेंद्री वृक्षादि जीवसे लेकर पंचेंद्री पशु पक्षी पर्यंत जलचर, थलचर, नभचर आदि योनियोंमें रहनेका कारण सो तिर्यच आयु है। (३) मनुष्य भवमें रहनेका कारण सो मनुष्य आयु है। (४) देवकी योनिमें रहनेका कारण सो देव आयु है।

यह जीव अपने ही रागादि भावोंके द्वारा अपने ही आत्मापर पड़े हुए कर्मरूपी सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओंके द्वारा अन्य सूक्ष्म परमाणुओंके आकर्षित किये जानेपर इन्हींकी शक्तिसे प्रेरा हुआ स्वयं कभी नारकी, कभी तिर्यंच, कभी मनुष्य, कभी देव होजाता है, अर्थात् संसारकी चार विशेष गतियोंमें भ्रमण किया करता है।

इस आयुकर्मके जीवके साथ संबंधित होनेके कौन कौनसे कारण हैं इनका भी जानना आवश्यक है, अतः प्रथम नरक आयुरूपी कर्मोंके आश्रवका कारण कहते हैं। बहुत आरम्भ करना और परिग्रहमें बहुत ममत्व करना, सो नरक आयुके आश्रवके कारण हैं। प्रयोजन यह कि जिन जीवोंके ऐसे परिणाम रहते हैं

कि हम अपने पास धन, धरती आदि पदार्थोंको खूब बढ़ावें, चाहे वह धन, धरती आदि पदार्थ अन्याय, चोरी, मायाचारी, झूठ आदि उपायोंसे प्राप्त हों, अन्यका चाहे सर्वस्व जाता रहे हमें तो लाभ हो जाय, कृष्णलेश्याके रंगके भाव जिनके होते हैं उनको अवश्य नरकगति प्राप्त होती है। जो जीवोंके घात, झूठ, चोरी और परिग्रहमें बहुत खुश होते हैं ऐसे रौद्रध्यानी जीव नरक ही के पात्र हैं। नरकगतिमें पड़े हुए जीवोंको कितना व किस प्रकारका दुःख होता है, इसका वर्णन यहांपर न कर केवल इतना कह देना ही बस होगा कि असहाय और छोटे छोटे पशु पक्षियोंको जो कुछ दुःख आप अपनी आंखके सामने देखते हैं, इससे करोड़ गुना दुःख नारकियोंका कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। कर्मके परमाणुओंके बलसे यह आत्मा जिसका कि अपना स्वभाव ऊंचे जानेका है, नीचेकी ओर जाकर जन्म लेता है। जैसे आगकी लौ, जिसका स्वभाव ऊंचे जानेका है, पवनके बलके कारण इधर उधरको गमन करती है।

तिर्यंच आयुके आश्रवका कारण मायाचार करना है, अर्थात जो जीव धर्मके उपदेशक अपनेको प्रकट करके अपने निजि मतलबको लिये हुए उपदेश कर दूसरोंको झूठे मार्गपर लगाकर अनर्थ कराते हैं, ऐसे जीव पशु-पर्याय पाते हैं। जो दूसरेको झूठा दोष लगाकर उसका अपमान करके अपनेमें नहीं होते गुणोंको प्रकट कर अपना मान चाहते हैं, ऐसे कपोतलेश्याके रंगके परिणामवाले जीव पशुगतिके पात्र हैं। जो अपनी किसी अच्छी चेतन व अचेतन जीवके बिछुड़ने पर शोक करते हैं, व बुरी चेतन व

अचेतन चीजके पास रहते हुए रंज किया करते हैं, व आप रोगी होकर उस रोगके कारण उपाय तो नहीं बल्कि सोच किया करते हैं, व जिन जीवोंकी इच्छाए यह रहती हैं कि हमें मरनेके व द खुब धन सम्पदावाली पर्याय प्राप्त हो, हम राजा महाराजा होकर खुब चैन उड़ावें, ऐसे आर्त्तध्यानी जीव पशुगतिमें आकर भूख, प्यास, गरमी, सरदी, घात आदिकी ऐसी ऐसी वेदनाएं सहते हैं कि हम उनका यदि विचार करें तो शरीरका रोयां रोयां कांप उठे। कर्मोंकी प्रेरणासे यह जीव स्वयं कभी वृक्ष होता है, कभी भौंरा, कभी चींटी, कभी हाथी, कभी सिंह, कभी बकरी, गाय आदि होता है। निश्चयसे अपने परिणाम ही अपनेको दुखदाई हैं।

मनुष्य आयुमें जानेके कारण यह हैं—

जो जीव थोड़ा आरम्भ मतलब भर करने ही से व थोड़ा मतलब भर परिग्रह (सामान) के धरने हीसे संतोषी रहते हैं जिनके चित्त दया भावसे भीजे हुए अन्यायसे डरते हैं, तथा जो दूसरेका बुरा नहीं चाहते हैं, संसारसे भी जिनके बहुत प्रीति नहीं होती, दान पूजा आदिकमें जिनके भाव विशेष लवलीन होते हैं, ऐसे धर्मध्यानी जीव मनुष्य आयुको प्राप्त करते हैं और जिनके चित्त कोमल होते हैं, दिलमें जरासा भी मान जिनके नहीं होता, ऐसे विचारवान प्राणी मनुष्य आयुका आश्रव करते हैं।

देव आयुके आश्रवके कारण इस भांति हैं—जो महाव्रती योगीकी दशाको धारणकर आत्मध्यान करते हैं व जो गृहस्थ श्रावक व्रतशीलको पालते हैं और अन्तमें संन्यास लेते हैं, ऐसे जीव अवश्य देवगति पाते हैं। अथवा जो किसी दूसरेके भयसे

व लाचार हो भूख, प्यास, खोटे वचन व गर्मी सर्दीकी बाधा सहते हैं और परिणाम जिनके कोमल होते हैं, ऐसे अकाम निर्जरावाले जीव भी छोटी जातिके देव होते हैं। जो अज्ञान तप करते हैं अर्थात् आत्माको नहीं जान कर व भावोंकी शुद्धताको न पहिचानकर शरीरको तरह तरह कष्ट देते हैं इस निश्चयसे कि इसके बाद अच्छी गति होगी, ऐसे जीव भी मरकर नीच जातिके देव होते हैं। जो जीव सम्यग्दृष्टी होते अर्थात् जिनके आपा परका अच्छी तरह ज्ञान और निश्चय होता है. ऐसे जीव स्वर्गवासी देव ही होते हैं। भोगभूमिके पैदा होनेवाले मनुष्य जो शील और व्रत नहीं पालते हैं अपने सरल स्वभावके कारण देवगतिमें गमन करते हैं। देवगतिमें इन्द्रियाधीन सुखकी वाहुल्यता है तौ भी उस स्थानमें मन सम्बन्धी अनेक दुःख हैं, जैसे ईर्षा, द्वेष, अपमानादिक।

भाइयो! यहां संक्षेपमें चारों आयुमें जीवोंको रखनेवाले कर्मोंके आश्रवका वर्णन किया है। विशेष जाननेकी इच्छा करनेवालोंको श्री सर्वार्थसिद्धिजीको भले प्रकार पढ़ना चाहिये। प्रयोजन कहनेका यह है कि मनुष्यभव पाकर हमको वह कर्तव्य करने योग्य है जिनसे हमारी अवस्था दिनपर दिन उच्च होती चली जाय, क्योंकि जीवन संसारमें थोड़ा है। यह थोड़ीसी आयु पाकर यदि हमने अपने आत्माको निर्मल करनेके यत्न नहीं किये अर्थात् संसारसे मुक्ति पानेकी चेष्टा नहीं की तो फिर हमारा सुधार कैसे होगा। यह मनन कदाचित जीवोंकी अज्ञानतामें दब जाय और हम बावलेकी तरह कर्मरूपी नशेके

भरे हुये संसार बनके चारों मार्गोंकी अनेक गलियोंमें भटकते रहें व इस भयानक बनसे निकलनेका मार्ग कभी नहीं पावें तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु यदि इस संसार बनमें धीरे धीरे सोचते विचार करते कदम रख रखकर, इस बनकी मोहनी वस्तुओंसे मोह न करते हुये, न संसारमें भयदायक वस्तुओंसे डरते हुए, साहसकी कमर बांध सीधे मार्गपर चले जांयगे तो निस्सन्देह इस बनसे निकल कर अपना घर जो मुक्ति है उसको प्राप्त करेंगे। भाइयो ! ध्यान दीजिये ।

अध्याय दसवा ।

६-नामकर्म ।

नामकर्म वह कर्म है जिसके उदय होनेसे तरह तरहका शरीर, व उसके अंग बनते हैं-अर्थात् इस कर्मके उदयके वशसे तरह तरहकी ऐसी अवस्थाए हो जाती हैं जिनसे जीवात्मा एक प्रकारकी पर्याय संज्ञामें गिने जाते हैं। जैसे यह बौना है, लूला है, अंधा है, बहिरा है, इत्यादि।

नाम कर्मकी ९३ प्रकृति हैं-

४ गति-जिनके उदयसे जीवात्मा एक जन्मसे दूसरे जन्मको जाय सो गति नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव ऐसी चार हैं। [नोट-दूसरा जन्म धारण करनेमें आयुके साथ नाम कर्म भी सहायक होता है।]

५ जाति-जिनके उदयसे इस जीवात्माके १ इन्द्री व २ इन्द्री व ३ इन्द्री व ४ इन्द्री व ५ इन्द्री शरीरमें पैदा हों।

५. प्रकारका शरीर-पुद्गल (Matter) के जिस तरहके परमाणुओंसे शरीर बनता है उसके पांच भेद हैं।

(क) औदारिक—जो शरीर अपनी माताके खून और पिताके वीर्यसे गर्भमें बनता है उसे गर्भज कहते हैं और जो गर्मी, सर्दी, आग, पानी, मिट्टी आदि वस्तुओंके संयोगसे तरह तरहके लट, जूं आदिकोंके शरीर बनते हैं उसे सम्मूर्छन कहते हैं। यह दोनों तरहके शरीर औदारिक कहलाते हैं।

(ख) वैक्रयक-देव व नारकियोंके शरीर जिस तरहके परमाणुओंसे बनते हैं उसे वैक्रयक कहते हैं, अर्थात् इनमें सकुड़ जाने, फैलजाने आदिकी शक्ति होती है, तथा यह परमाणु पारेकी तरह भिन्न हो जानेपर भी शीघ्र मिल जाते हैं।

(ग) आहारक—एक प्रकारका बहुत ही महीन पुद्गलके परमाणुओंका शरीर जो ऋद्धिधारी मुनिके मस्तकसे निकलता है और केवलज्ञानीके चरणोंको छूकर लौट आता है, इसके जाने आनेमें कुछ समय लगते हैं। जब मुनिको कोई भारी संदेह होता है तब वह ऐसा करते हैं।

(घ) तैजस-यह बहुत ही महीन तेजरूप परमाणु हैं जो कि संसारके सब जीवोंके साथ सदा रहते हैं और इनका वेग किसी किसी ऋद्धिधारी मुनिमें प्रकट हो जाता है, अर्थात् जब मुनिके चित्तमें अधिक दया आती है तो उनके कंधेसे यह तैजस शरीर निकल कर बहुत शीघ्र उनके विचारे हुए क्षेत्रमें भ्रमणकर लौट आता है और उतने स्थानके रोगादिको शांत कर देता है। इसी प्रकार जब किसी मुनिके क्रोधकी आग भड़क उठती है और

वह चित्तमें जिनसे क्रोध हुआ उनका नाश विचारते हैं, तब बायें कंधेसे एक तेजका पुंज निकलता है और वह उनको भस्म कर मुनिको भी भस्म कर देता है इस तैजस शरीरको विद्युत शरीरके समान कहा जा सकता है।

(च) कार्मण-एक प्रकारके बहुत ही महीन पुद्गलके परमाणु जो कि आत्माके साथ एक सूक्ष्म शरीर बनाये हुये संसार अवस्था-में सदा साथ रहते हैं। इन परमाणुओंकी कर्म संज्ञा है। भावोंके कारण इनका मेल होता है और यह जीवात्माके साथ रहते हुये समय समय पर अपना असर दिखलाया करते हैं जिससे मोहवान जीव सुख तथा दुख अनुभव करते हैं।

३ अंगोपांग-जिनके उदयसे अंग व उससे भाग बने, जैसे शरीरके आंख, नाक आदि। औदारिक-वैक्रयक, आहारक इन तीन प्रकारके शरीर ही के अंगोपांग होते हैं।

२ निर्माण-जिसके उदयसे आंख, नाक, कान आदि यथा स्थान होवें सो स्थान निर्माण तथा जिसके उदयसे किसी प्रमाण रूप होवें सो प्रमाण निर्माण।

५ बन्धन-जिनके उदयसे पांच प्रकारके पुद्गल परमाणुओंका परस्पर अपने अपने शरीर रूप बंधना होय।

५ संघात-जिनके उदयसे पांच प्रकारके शरीर रूप पुद्-गलके परमाणु आपसमें अपने अपने शरीर रूप एकसार मिल जांय।

६ संस्थान-जिनके उदयसे शरीरका आकार [डीलडौल] बने। इसके ६ भेद यह हैं—

(क) समचतुर संस्थान—आंख, नाक, कान, मुंह, हाथ, पैर-का आकार मुनासिब सुन्दर बनना।

(ख) न्यग्रोध परिमंडल संस्थान—शरीरका आकार ऊपर बड़ा और नीचे छोटा हो। जैसे बड़ वृक्ष।

(ग) स्वाति संस्थान—शरीरका आकार नीचे चौड़ा ऊपर सकुब्जक।

(घ) कुब्जक संस्थान-पीठ—बीचमें बड़ी ऊपर नीचे हलकी हो। इसको कुबड़ापन भी कहते हैं।

(च) बामन संस्थान—हाथ पैर छोटे हों उदर मस्तक बड़ा हो अर्थात बौनापन हो।

(छ) हुंडक संस्थान—शरीरके सब अंग उपंग नीचे ऊंचे बेढ़ंगे हों।

६ संहनन—जिनके उदयसे हाड़ोंका विशेष बंधन हो। यह भी ६ प्रकारका है—

(क) वज्रऋषभनाराच संहनन—जिस शरीरमें संहनन कहिये हाड़, ऋषभ कहिये नशके वेठन, नाराच कहिये कीले, यह तीनों वज्रमय कठोर हों।

(ख) वज्र नाराच संहनन—जिसमें हाड़ और कीले वज्रमय हों पर नशके बन्धन वज्रमय न हों।

(ग) नाराच संहनन—जिसमें हाड़की सन्धि कीलोंसे कीलित हो।

(घ) अर्धनाराच संहनन—जिसमें हाड़की सन्धिमें कीले आधे हों एक तर्फ हों पर दूसरी ओर न हों।

(च) कीलक संहनन–जिसमें हाड़की सन्धि छोटे कीलोंसे मिली हो।

(छ) असंप्राप्तासृपाटिक संहनन–जिसमें हाड़की सन्धिमें अन्तर (फरक) हो। चौगिर्द बड़ी छोटी नस लिपटी हो, मांसादिकसे छाई हो। यह सर्व संहनन मनुष्य और तिर्यंचके होते हैं, देवनारकियोंके नहीं, क्योंकि उनके हाड़ नहीं होते हैं।

८ स्पर्श–जिनके उदयसे शरीरके स्पर्श (छूने) के गुण पैदा हों। यह ८ प्रकारका है–कर्कश, कोमल, भारी, हलका, चिकना, रूखा, ठंडा, गरम।

५ रस–जिनके उदयसे शरीरमें रस पैदा हो। वे पांच प्रकारके हैं–तेज, कडुवा, मीठा, खट्टा, कषयला।

२ गंध–जिनके उदयसे शरीरमें गंध हो। यह दो प्रकारका है–एक सुगंध, एक दुर्गन्ध।

५ वर्ण–जिनके उदयसे शरीरमें रंग पैदा हो। यह पांच प्रकारका होता है–काला, नीला, सफेद, लाल, हरा।

४ आनुपूर्वी–जिनके उदयसे आनुपूर्वी हो। आनुपूर्वीका प्रयोजन यह है कि मरण होनेके पीछे जब तक यह शरीर धारण करनेके लायक पुद्गल नहीं लेवे तब तक आत्माका पहिले शरीरका सा आकार बना रहता है। यह आनुपूर्वी अवस्था अधिकसे अधिक ३ समय तक रहती है। यह ४ गतिकी अपेक्षा ४ प्रकारकी होती है। जैसे कोई मनुष्य मर कर देव गतिको पाता हो तब जब तक देवमई पुद्गल नहीं लेवे तब तक कर्म सहित आत्माका आकार मनुष्य शरीरके सदृश रहना सो देवगत्यानुपूर्वी है।

यह ६१ पिंड प्रकृति कहलाती हैं। अब आगे २८ अपिंड प्रकृति कही जाती हैं।

१ अगुरुलघु-जिसके उदयसे देह न लोहेके पिंडकी तरह भारी हो और न आककी फफूंदीकी तरह हलकी हो।
[यहां अगुरुलघु जो द्रव्यका स्वभाव है उससे प्रयोजन नहीं।]

१ स्वघात-जिसके उदयसे अपने शरीरसे आपका घात करे-जैसे बडा, सींग, लम्बा स्तन, बड़ा पेट।

१ परघात-जिसके उदयसे ऐसा अंग हो जिससे दूसरेका घात हो। जैसे तीक्ष्ण सींग व नख, बिच्छूका डंक आदि।

१ आताप-जिसके उदयसे आतापमय शरीर पावे। जैसे सूर्यके विमानमें पृथ्वी कायिक जीव। इन जीवोंको स्वयं धूपकी गरमी नहीं मालूम होती जब कि दूसरोंको बहुत आताप होता है।

१ उद्योत-जिसके उदयसे उद्योत रूप शरीर पावे। जैसे चन्द्रके विमानमें पृथ्वीकायिक जीव।

१ उश्वास-जिसके उदयसे श्वासोश्वास आवे।

१ विहायो गति-जिसके उदयसे आकाशमें गमन हो।

१ प्रत्येक शरीर-जिसके उदय होनेसे एक आत्मा एक शरीरको भोगे।

१ साधारण-जिसके उदयसे बहुत जीव भोगने योग्य एक शरीर पावे।

१ त्रस-जिसके उदयसे दो इन्द्रीसे पंचेन्द्री तकमें उपजे।

१ थावर-जिसके उदयसे १ इन्द्री पैदा होती हो।

१ सुभग-जिसके उदयसे दूसरेको अच्छा मालूम हो।

१ दुर्भग—जिसके उदयसे रूपादि सुंदर गुण होनेपर भी दूसरेको बुरा मालुम पड़े

१ सुस्वर—जिसके उदयसे शब्द सुहावना निकले ।

१ दुस्वर—जिसके उदयसे बुरा असुहावना शब्द निकले ।

१ शुभ—जिसके उदयसे मुंह, हाथ, पैर आदि शरीरके अंग सुंदर हों ।

१ अशुभ—जिसके उदयसे मस्तक मुख आदि असुन्दर (बदसूरत) हों ।

१ सूक्ष्म—जिसके उदयसे ऐसा महीन शरीर पावे जो जमीन, पहाड़, आग, जल, कपड़ा आदिमेंसे होकर निकल जाय-रुके नहीं ।

१ बादर—जिसके उदयसे रुकने व रोकनेवाला शरीर पावे ।

१ पर्याप्त—जिसके उदयसे जिस पर्यायमें जाय उसके अनुसार [illegible] भाग पूर्ण करनेकी शक्ति पावे ।

[illegible]—जिसके उदयसे पर्याय सम्बन्धी शरीरके भागोंको पूरा [illegible]नेकी शक्ति न पाकर पौने दो घड़ीके भीतर मरण कर [illegible] ।

[illegible]—जिसके उदयसे [illegible] धातु उपधातु अपने अपने स्थानमें [illegible] ।

[illegible]—जि[illegible] उदयसे [illegible]मादि दृढ़ न हो ।

[illegible]—जिसके उदयसे प्रभावान (चमकदार) शरीर हो ।

१ अनादेय—जिसके उदयसे प्रभारहित शरीर हो ।

[illegible] यशस्कीर्ति—जिसके उदयसे गुण प्रकट हो ।

१ अयशस्कीर्ति—जिसके उदयसे अवगुण प्रकट हो।

१ तीर्थङ्कर—जिसके उदयसे तीर्थङ्कर पदका शरीर हो।

यह २८ अपिंड प्रकृति हैं।

सब मिलकर ९३ प्रकृति नाम कर्मकी हैं। अब यह देखना चाहिये कि यह नाम कर्म क्योंकर संसारी जीवोंके बंधते हैं कि जिनके उदयसे ऊपर कही अवस्थायें भोगनी पडती हैं, क्योंकि यह "कर्म" का नियम कारण और कार्यके आधीन है। इसीको Cause and effect कहते है और इन कर्मोंका बन्धन राग और द्वेषसे होता है जैसा कि "Mr. C. W. Leadwater" का कथन है।

"If a man has within him only pure, high, and unselfish desires and emotions, he will chiefly set into vibration the more refined matter of that astral body; if on the contrary his desires, emotions and passions are coarser and selfish, almost the whole of them will express themselves in the lower, denser, grosser parts of that astral vehicle."

भावार्थ—अच्छे विचारोंसे शुभ और बुरे विचारो से अशुभ कर्म्म बँधते हैं। पस यह कर्म्म समय समयपर उदय आकर अपना रस देते रहते हैं इसीको कर्मफल कहते हैं। यही कर्म-फल यदि रागद्वेष सहित भोगा जाता है तो आगामी कर्म बंधनका कारण हो जाता है। इस प्रकार संसारके मोही जीव एक ओरसे कर्मका उदय फल पाते हैं, दूसरी ओर कर्म बांधते जाते हैं जो कर्म उसी भवमें व दूसरे दूसरे भवमें समयानुसार उदयमें आकर.

रस देते हैं। यही "कारण और कार्य" का नियम संसारी प्राणियोंको सुख दुखका हेतु है।

नाम कर्मके आश्रव तथा बन्धके कारण यह हैं। मन, वचन, और कायके कुटिल अर्थात् टेढ़े रखनेसे अशुभ नाम कर्मका आना होता है। जैसे मिथ्यात धरना, चुगली खाना, खोटी वस्तु अच्छीमें मिलाकर वेचना, खोटी कसम खाना, मद करना, नकल चिढ़ाना, दूसरेके बुरे अंग देख खुश होना आदि। इसी प्रकार मन वचन कायको सरल रखनेसे शुभ नामकर्मका आश्रव होता है। जैसे धर्मात्माको देख खुश होना, प्रमाद न करना आदि।

पाठक! अपने परिणामों हीके आधीन हमारा भाग्य (Destiny) वनता है जिसको कर्म कहते हैं। इस लिये हमको अपने परिणाम निर्मल रखने चाहिये। तथा अन्धे, लूले, कुबड़े, काने आदि होनेसे वचनेके लिये हमको अपने वचन और कार्यकी चेष्टा भी ठीक ठीक रखनी चाहिये।

तीर्थंकर नाम कर्मका वंध उस समय होता है जब सोलह कारण भावनाका विचार किया जाता है। इन भावनाओंका वर्णन जैन शास्त्रोंसे देखकर मालूम कीजियेगा।

अध्याय ग्यारहवां।

७—गोत्रकर्म।

यह वह कर्म है जिसके उदयसे यह जीवात्मा ऐसे कुलका संयोग पावे जिससे इसको दुःखकी प्राप्ति हो। यह दो तरहका होता है।

१ उच्च गोत्र—अच्छे चारित्रवाले लोकमान्य कुलमें जिसके उदयसे जन्मे।

१ नीच गोत्र-खोटे आचरणवाले लोकनिंद्य कुलमें जिसके उदयसे पैदा हो। जहां आपको भी हिंसा, चोरी आदि दुष्ट कर्म करनेका समागम सहजमे मिल जाय।

इस कर्मके आश्रव होकर आत्माके साथ मिलनेमें नीचे लिखे कारण हैं।

१ परनिन्दा, आत्मप्रशंसा—दूसरेमें अवगुण हों वा न हों, परन्तु किसी अपने विषयके मतलबसे दश आदमियोंमें उनकी बुराई करनी और अपनेमे गुण हो वा न हों, किसी अपने विषय कषायके मतलब (धनादिका लोभ) से दश आदमियोंके सामने अपनी तारीफ करनी।

२ पर—सत—गुणाच्छादन आत्म असत्गुणाच्छादन—दूसरेमें गुण होते हुए भी जाहिर न हों ऐसी चाह व कोशिश करना, अपनेमे अवगुण होते हुए अवगुणोंके ढकने और न होते गुणोंको प्रकट करनेकी चाह व कोशिश करना।

इसके सिवाय अपनी जाति, कुल, रूप, बल, विद्याका घमंड करना, दूसरेकी हंसी करना, व देव गुरू धर्म व अपनेसे बड़ोंकी विनय, सत्कार नहीं करनी, यह सब नीच गोत्रके आश्रवके कारण हैं।

इसके विरुद्ध कारणोंके होनेसे उच्च गोत्र रूपी कर्मोंका आश्रव होता है। जैसे दूसरेके गुणोंकी विनय व प्रशंसा, अपनेमें गुण होते हुए भी विनय व प्रशंसा नहीं चाहना, जैसे भस्मके नीचे दबी अग्नि रहती है। इस तरह रहकर अपने बड़प्पनको अपनेसे प्रगट न करना।

अध्याय बारहवाँ।

८—अन्तराय कर्म।

यह वह कर्म है जिसके उदय आजानेसे बनते व सोचे हुए काममें विघ्न व बिगाड़ पड़ जाता है। इसके ५ भेद हैं—

१ दानांतराय—जिसके उदयसे देनेकी चाहना करे व कोशिश करे, परन्तु दे न सके।

२ लाभांतराय—जिसके उदयसे लाभ होना चाहे व कोशिश करे, पर लाभ न हो सके।

३ भोगांतराय—जिसके उदयसे संसारकी वस्तुओंको भोगनेकी चाहना करे व कोशिश करे, पर वह भोगनेमें न आवें।

४ उपभोगान्तराय—जिसके उदयसे संसारकी उपभोग करने योग्य वस्तुओंको काममें लानेकी चाहना व कोशिश करे, पर काममें न ला सके।

[भोग—उन वस्तुओंको कहते हैं जो एक बार काममें आवे फिर किसी कामकी न रहें। जैसे भोजन, सुगन्ध आदि। उपभोग उन वस्तुओंको कहते हैं जो बारबार काममें आवें जैसे मकान, कपड़े आदि]

५ वीर्यांतराय—जिसके उदयसे किसी कामके करनेका उत्साह करे पर वह उत्साह काम न कर सके।

इस अंतराय कर्मके आने और आत्माके साथ बन्धनेमें कारण विघ्नका डालना है। कोई दान देता हो व देनेकी इच्छा करता हो उसको किसी न किसी प्रकार दान देनेसे रोकनेकी चाह व

कोशिश करना, कोईको लाभ होता हो उसको लाभ न होने देनेकी चाह व कोशिश करना, दूसरेके भोगने व उपभोगने योग्य वस्तुओंको बिगाड़नेकी चाह व कोशिश करना दूसरेकी शक्ति व उत्साहको बिगाड़नेकी चाह व कोशिश करना यह सब अन्तराय कर्मके आश्रवके कारण हैं। इसके सिवाय और जितने ऐसे ऐसे काम हैं जिनके करनेसे हमारा व हमारे आधीन स्त्री व बालकोंका बिगाड़ होता है, वे सब अंतराय कर्मके आश्रवके कारण हैं। जैसे लडके व लड़कियोंको विद्या न पढ़ानेसे उनके ज्ञान प्रगट होनेमें विघ्न पडनेसे, तथा बालकोंकी शादी छोटी उम्रमें कर देनेसे जिससे उनका मन विद्यालाभ करते करते रुक जाय, व अपने आधीन नौकर चाकर व प्रजाको धर्म सेवनमें विघ्न डालनेसे अंतराय कर्मका आश्रव होता है। इसी प्रकार विद्यालय, औषधालय, भोजनालय आदि धर्मकार्योंमें उन्नति न चाहनेसे तथा बिगाड़के भाव रखनेसे तीव्र अंतराय कर्मका आश्रव होता है। जो धन यात्री लोग तीर्थयात्रामे तीर्थोंपर तीर्थके सुप्रबन्ध व उचित धर्मकार्यके लिये देते हैं उस धनसे सुप्रबन्ध न कर व उचित धर्मकार्यको न कर व्यर्थ डाले रखना व अपने काममे ले आना तीव्र अंतराय कर्मका आश्रव करनेवाला है।

इस तरह यह आठ प्रकारका कर्म हम संसारी जीव अपने ही भावोंके द्वारा बांधते हैं और आप ही उनके उदय आनेपर उनका फल भोगते हैं जैसे मदिरा हम आप ही पीते हैं और आप ही दुःख भुगतते हैं तथा बदहजमी करनेवाला भोजन हम आप ही खाते हैं और आप ही अनेक रोगोको अपनेमे पैदा कर लेते हैं।

इस तरह ५+९+२+२८+४+९३+२+५=१४८ प्रकृति

मुख्य करके ८ कर्मोंकी हैं। पर इनके भेद यदि सूक्ष्म दृष्टिसे किये जावें तो और बेगिनती हो सकते हैं।

इस प्रकार यह कर्म सर्व पौद्गलिक हैं, जड़ हैं, हमारे ही किये हुये हैं, अजीव हैं।

अध्याय तेरहवा।

अन्य ४ द्रव्य।

धर्म द्रव्य वह है—जो जीव पुद्गलको चलनेमें इस तरह मदद करै जैसे मछलीको चलनेके लिये पानीकी जरूरत है, पानी मछलीको प्रेरणा नहीं करता है कि चलो किन्तु विना पानीके नहीं चल सक्ती। इसी प्रकार धर्म द्रव्य प्रेरणा करके जीव और पुद्गलको नहीं चलाता है किन्तु उदासीन सहायक होता है।

अधर्मद्रव्य—धर्मद्रव्यसे उल्टा काम करता है अर्थात् जीव पुद्गलको ठहरनेमें सहायक होता है; जैसे रास्तेमें जाते हुये मुसाफिरको वृक्षकी छाया सहायक होती है।

आकाशद्रव्य—जो कि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल इन पांच द्रव्योंको स्थान दे।

कालद्रव्य—वह द्रव्य है जो अन्य द्रव्योंकी पर्याय व दशा पलटनेमें कारण रूप हो। यह दो प्रकारका है—व्यवहारकाल—समय घड़ी घंटा आदि। निश्चयकाल—आकाशके एक एक प्रदेशमें कालका एक एक अणु जैसे रत्नोंकी राशि। इस द्रव्यका एक अणु दूसरे अणुमें एकमें एक होकर नहीं मिलता। इसीसे इस द्रव्यको अकाय कहते हैं।

प्रदेश उतने स्थानको कहते हैं जितनी जगहको पुद्गलका छोटासे छोटा अविभागी (जिसका फिर भाग न हो सके) परमाणु रोकता है। इस १ प्रदेशवाले आकाशमें धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यका एक प्रदेश और कालकी एक अणु और पुद्गलके बहुतसे परमाणु आसक्ते हैं, इसी प्रकार जीवके शरीरमें छोटेसे छोटेमें बहुतसे अन्य शरीर धारी जीव आसक्ते हैं। इसीसे जीव व पुद्गल अनन्त हैं किन्तु धर्म, अधर्म, आकाश, काल, एक एक द्रव्य हैं—जैसे १ दीपक एक कमरेमें जलानेसे रोशनीके परमाणु कमरे भरमें फैल जाते हैं किन्तु यदि दश दीपक उतने ही स्थानमें जलाये जांय तो उतने ही स्थानमें आ सकते हैं। यह परमाणु पुद्गलके स्थूल सूक्ष्म हैं जब इनके अणुओंमें यह शक्ति है तो सूक्ष्म व सूक्ष्म सूक्ष्म परमाणुओंमें व जीव द्रव्यमे यह शक्ति क्यों नहीं हो सकती है? इसी लिये एक जीवके एक प्रदेश भर स्थानमें अनन्ते कार्माण पुद्गलके परमाणु आ सकते हैं तथा एक निगोदिएके सबसे छोटे शरीरमें अनन्ते शरीरी जीव समा सकते हैं। इन द्रव्योंको जहां पाया जाय

---

* देखिए श्री पार्श्वपुराणजीको।

शिष्यप्रश्न—धर्म अधर्म काल अरु चेतन चारों दरब अरूपी गाए, तातें एक आकाश देशमें प्रभु सबके प्रदेश समाए। मूरतवन्त अनंत पुद्गल ते उस नभमें क्योंकर माए, यह संशय समझाय कहो गुरुदास होय अब पूछन आये ॥

गुरु उत्तर—सोरठा—बहु प्रदीप परकाश, यथा एक मंदिर विषै। लहै सहज अवकाश, बाधा कछु उपजे नहीं। त्योंही नभ प्रदेशमें पुद्गल खंध अनेक, निराबाध निवसे सही, ज्यों अनन्त त्यों एक ॥

उनको ही लोक (दुनियां) कहते हैं। यह सर्व लोकमें हैं तथा इन द्रव्यों ही की पर्याय पल्टनसे नानाप्रकारके मनुष्य, जन्तु, वृक्ष, पहाड़, धातु, औषधि आदि पाई जाती हैं इन छहोंमें सबसे ज्यादा काम पुद्गल और जीवका है बाकी ४ द्रव्य केवल सहायता मात्र हैं।

इस प्रकार अजीव पांच प्रकारके होते हैं जिनमें चेतना न होनेपर भी अपने अपने स्वभावरूप कार्य करनेकी शक्ति होती है (इनका विशेष वर्णन जाननेके लिये हमें जैन शास्त्रोंके तो द्रव्यानुयोगके ग्रन्थ और यूरुपके विद्वानों द्वारा प्रकाशित पदार्थ विद्याके ग्रन्थ पढ़ने चाहिये)।

अध्याय चौदहवां।

आश्रव तत्व।

पुद्गलके कार्माण परमाणुओंका हमारी आत्माके प्रदेशोंके पास पास आनेको आश्रव कहते हैं। कर्मोंके आनेके ३ मार्ग हैं। मन, वचन, काय, इनको योग कहते हैं। जब यह हिलते हैं कार्माण परमाणुओंका आना होता है। यह दो प्रकारका होता है—

एक भाव आश्रव। दूसरा द्रव्य आश्रव।

मिथ्यात, अविरत (पांच इन्द्रिय, मनके न रोकने अदया भाव) प्रमाद (आलस्य) कषाय (क्रोध मान माया लोभ) आदिके भाव अथवा दानादि शुभ कर्म करनेके भाव इत्यादि भाव जिनसे कि अशुभ व शुभ कर्म आते हैं उनको भाव आश्रव कहते हैं। जो कर्मरूपी पुद्गल आते हैं उनको द्रव्याश्रव कहते हैं। कर्म आठ प्रकारके हैं और उनके आनेके कौन कौनसे भाव हैं इनका वर्णन 'अजीव तत्व' में हो चुका है।

कर्म जो आकर आत्माके प्रदेशोंमे बन्ध जाते हैं उनको सांपरायिक आश्रव कहते हैं और जो आवें तो सही पर बंधे नहीं उनको ईर्यापथ आश्रव कहते हैं। जब अपने परिणाममें रागद्वेष, कषाय आदि होगे तब अवश्य सांपरायिक आश्रव होगा किन्तु जब यह न होगे और वचन व काय हिलनेसे कर्म आयेंगे जैसे कि केवल ज्ञानियोंके आते है तो उनके आगमनको ईर्यापथ कहते हैं। कर्म किन किन भावोंसे आता हैं इसका विशेष वर्णन गोमट्टसारके जीवकांड तथा कर्मकांडसे विशेष मालूम हो सकता है।

—⁂—
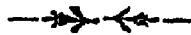
अध्याय १५ वा।

बंध तत्व।

कर्मोका बांधना ही वास्तवमे हमारे लिये संसारकी अवस्थामें रहनेका कारण है।

इनमें मुख्य कारण राग और द्वेष हैं।

जिस समय हम अपने पहलेके बांधे हुए कर्मोका फल पाते हैं उस समय यदि हमारी आत्मा अपने परिणाम चलाकर उस फलको अच्छा व बुरा समझेगा तो उसी समय वह आत्मा कार्माण परमाणुओंको खीच लेगा जो अगाड़ी फिर कभी उदयमें आवेंगे— किन्तु यदि आत्मा उस फलमें अपना परिणाम राग व द्वेषरूप न करके समता रक्खे, तब वह कर्म अपना फल देकर चले जांयगे और वह आत्मा कर्मोका बंधन न करेगा—जैसे किसी मनुष्यका पुत्र मर गया तब यदि उसका आत्मा शोकित होगा तब जितने तीव्र व मंद भाव होंगे उसी प्रकृतिके कार्माण परमाणुओसे बंधन होगा।

किन्तु यदि शोकित न होकरके संसारकी क्षणभंगुरता देखता हुआ वह आत्मा समपरिणाम रक्खेगा अर्थात् किसी प्रकारकी हलनचलन इस वार्तके होनेसे उसके परिणामोंमें न होगी तो वह आत्मा कर्मोंका बंधन नही करेगा।

१४८ प्रकारके जो मुख्य भेद आठ कर्मोंके दिखलाए गए हैं इसी बंधके द्वारा होते हैं—जिस जिस प्रकारका कर्म यह बांधता है उस उस प्रकारका रस उदय होनेपर पाता है। इस बातके अनेक दृष्टान्त जैन शास्त्रोंमें मिलेंगे। श्री रामचंद्रके भाई भरतजीके पूर्वभवके चरित्रमें एक मुनिका वर्णन है कि उसने एक ऐसे उद्यानमें विहार किया जहां कि चारण रिद्धिधारी आचार्य्यने चौमासा किया था और जिस समय यह मुनि वहां पहुंचा वह विहार कर गए थे। उस उद्यानके निकटवर्ती नगरके लोग उसी दिन आचार्यके दर्शन करनेके लिये आए और इन्हींको आचार्य मान नमस्कार किया व धर्म सुना। तब इस मुनिने उन लोगोंको यह न बतलाया कि मैं वह आचार्य नहीं हूं जिसका नाम आप लेते हो। इतनी माया रखनेके कारण उसी मुनिको तिर्यञ्च गतिमें तिलोकमंडन हाथीकी पर्यायमें आना पड़ा।

जगतके जीवोंके तरह तरहके चरित्र दिखलाई पड़ते हैं कारण यही कि उनके पहलेके बांधे हुए कर्मोंका उदय है।

अध्याय १६ वा।

संवर।
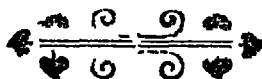
जिन द्वारोंसे कार्माण परमाणुओंका आगमन आत्माके प्रदेशोंके पास होता है उन द्वारोंका रोकना सो संवर है। यह भी दो प्रकारका होता है—

१—भाव संवर—जिन भावोंके करनेसे आत्मा कर्मोंको खींचे उन भावोंको रोकना सो भाव संवर है।

मिथ्यात रूपी भावोंके रोकनेके लिये सम्यग्दर्शन होनेकी, अविरत रूप भावोंको बन्द करनेके लिये देशव्रतकी तथा महाव्रतकी, प्रमादके नाश करनेको निरालसी ध्यानी मुनि होनेकी, क्रोध, मान, माया, लोभके बन्द करनेके लिये वीतराग भावोंकी, मन वचन काय योगोंको रोकनेके लिये निश्चल निज रूपमें थिरता होनेकी आवश्यकता है।

इसी संवरके पानेके लिये बुद्धिमानोंने यह हेतु बतलाये हैं।

(१) **गुप्ति**—मन, वचन, कायको वशमें रखना।

(२) **समिति**—यह पांच तरहकी है।

(क) देखकर चलना।

(ख) समझकर हित मित वचन बोलना।

(ग) शुद्ध निर्दोष भोजन लेना।

(घ) देखकर वस्तुओंको रखना व उठाना।

(ङ) देखकर मलमूत्र आदि डालना।

(३) **धर्म**—निम्न लिखित दश लक्षणवाले धर्मपर चलना

(क) उत्तम क्षमा—क्रोधको वशमें करके निर्बलका भी अपराध विचार पूर्वक क्षमा करना।

(ख) मार्दव—घमंड किसी बातका न करके अपने भाव यह समझकर कोमल रखने कि आत्मा तो सब हीकी निश्चयसे एकरूप है छोटा बड़ापन केवल शरीर सम्बन्धी है। सो इसके छूटनेका कोई समय नियत नहीं, यह शरीर नाश होने ही वाला है। इससे संसारकी चीजोंको लेकर मेरा मद करना व्यर्थ तथा हानिकारक है।

(ग) आर्जव—किसी प्रकारकी मायाचारी न करके परिणाम सरल रखना।

(घ) सत्य—स्वपरहितकारी सच्च वचन कहना।

(ङ) शौच-मन वचन कार्यकी पवित्रता (सफाई)

(च) संयम—इन्द्रियोंको वशमें रखना—जीव दया पालनी।

(छ) तप-मनको एक ठिकाने करके आत्माकी शक्ति प्रगट करनेमें यत्न करना।

(ज) त्याग-दान देना व परिग्रह न रखना।

(झ) आकिंचन-परिग्रहकी ममता बिलकुल न होना।

(ञ) ब्रह्मचर्य—स्त्री मात्रसे चित्त हटाकर अपना ब्रह्म जो आत्मा उसके वीचमें उसको स्थिर करना।

(४) नीचे लिखे अनुसार १२ **भावनाओं**को वार वार **भावना** अर्थात् याद करना॥

(१) अनित्य—इस जगतमें सब चीजोंकी दशाएं बदलनेवाली हैं कोई एक दशामें स्थिर नहीं रहता इससे मोह करना निरर्थक है।

(२) अशरण—जगतमें जीवको अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगनेसे रोकनेके लिए किसीकी भी ताकत नहीं है इसलिए झूठी शरणका स्थान छोड़ अपने ही आत्माको अपना शरण मानना चाहिये अथवा पंच परमेष्टीका शरण अनुभव करना चाहिये ।

(३) संसार—जिन चार गति रूपी संसारकी अनेक योनियोंमें जीवका भ्रमण उसीके बांधे कर्मोंके द्वारा हुआ करता है उनमें कहीं रंचमात्र भी आनन्द नहीं है । देव, पशु, मनुष्य सब ही मानसिक तथा शारीरिक दुःखसे दुखी है ऐसे संसारमे प्रीति करना उचित नहीं।

(४) एकत्व—अपने बांधे हुए कर्मोंका फल इस जीवको अकेला ही भुगतना पड़ता है ।

(५) अन्यत्व—अपनेसे जितने दूसरे है सब पर हैं—जगतमें सम्बन्ध मतलबका है ।

(६) अशुचि—यह शरीर किसी दशामे भी पवित्र नहीं है और न स्नान चन्दनादिसे किसी प्रकार शुद्ध हो सकता है इसलिये शरीरको अपना दास बनाकर रखना । आप दास न हो जाना ।

(७) आश्रव—कर्मोंके आनेके कारणोंका विचार करना ।

(८) संवर—कर्मोंको आनेसे रोकनेके लिये उपाय विचारना।

(९) निर्जरा—कर्मोंको नाश करनेका यत्न विचारना ।

(१०) लोक—छः द्रव्योंसे भरे लोकका स्वरूप विचार करना।

(११) बोधदुर्लभ—जगतमें आत्मज्ञानका पाना बड़ा कठिन है यदि ऐसा ज्ञान होजाय फिर अपना समय व्यर्थ न खोना।

(१२) धर्म—जीवदया जिसमें प्रधान है वही धर्म है--यह धर्म आत्मा ही का स्वभाव हैं सो किसी प्रकार भी त्यागने योग्य नहीं है ।

(५) **परीषहों**को सम परिणामोंसे सहना—

ये परीसह २२ हैं—१ क्षुधा (भूख) २ तृषा (प्यास) ३ शीत (जाड़ा) ४ उष्ण (गरमी) ५ दंशमशक (डंस मच्छरकी) ६ नग्न (नंगे रहनेकी) ७ अरति (न सुहावने लायक चीजोंके सम्बंधकी) ८ स्त्री (स्त्रीकी ओर परिणाम हो जानेकी) ७ चर्या (चलनेकी) १० निषद्या (बैठनेकी) ११ शैया (सोनेकी) १२ आक्रोश-(गाली सुननेकी) १३ वध (मारनेकी) १४ याचना (मांगनेकी) १५ अलाभ (भोजनादि न मिलनेकी) १६ रोग १७ तृणस्पर्श (कटीले तिनके आदिके छूनेकी) १८ मल (शरीरके मलादिककी) १९ सत्कार पुरस्कार (आदर न होनेकी) २० अप्रज्ञा (बुद्धि न होनेकी) २१ अज्ञान (ज्ञानकी कमीकी) २२ अदर्शन (श्रद्धान विगड़नेके कारण मिलनेकी) ।

(६) **चारित्र** मामायिक आदि करके व महाव्रत आदि पालके अपने परिणामोंको अपने रूपमें चलाना !

इस तरह संवर करनेके लिये मुख्य करके ६ कारण हैं। हमारे लिये हर समय उचित है कि हम इन कारणोंको अपने नेत्रके सन्मुख रक्खें-ऐसा करनेसे न तो हमारे कर्मोका आश्रव होगा और न हम इस जगतमें कोई प्रकार किसीको हानिकारक होंगे-सभ्यता (Gentlemanliness) के प्राप्त करनेके लिये हमें संवर धारण करना चाहिये ।

अध्याय १७ वां।

निर्जरा।

बंधे कर्मोंका दूर होना सो निर्जरा है। यह निर्जरा दो प्रकारसे होती है-१ सविपाक निर्जरा-जो कि अपने आप हर समय हुआ करती है-जब कर्म अपना रस दे चुकते हैं तब झड़ जाते हैं। २ अविपाक निर्जरा-जो कि यत्न करके करनी होती है।

यह निर्जरा तप द्वारा होती है। तपके अर्थ-तपानेके हैं। जैसे मैलसे मिला सोना अग्निमे डालनेसे शुद्ध हो जाता है वैसे कर्मोंसे मिली आत्माको तपानेसे इसके कर्ममल अलग होजाते हैं।

यह तप १२ प्रकारका होता है-६ बाह्य, ६ अंतरङ्ग।

बाहरी तप उसको कहते हैं जिसके ग्रहण करनेसे अन्दरका तप सिद्ध होसक्ता है। यह छ. प्रकार होता है।

१ अनशन-चार प्रकारका आहार छोड़कर निर्जलव्रतको एकादि दिनका प्रमाण लेकर करना--इसीको उपवास कहते हैं। समय समय पर इस तपके करनेसे इन्द्रियोंका स्वेच्छाचारीपना मिटता है तथा संसार देह भोगोंसे राग कम होता जाता है।

२ अवमोदर्य--जितनी भूख हो उससे इतना कम खाना कि जिससे नींद आलस्य न आजावे तथा रोग न पैदा हो जावे। इसके धारण करनेसे हम अपनेसे आलस्यको दूर रक्खेंगे।

३ वृतपरिसंख्यान—आशा तृष्णा मिटानेके वास्ते यह नियम करना कि आज हम एक व दो व पांच घर तक जांयगे, भिक्षा मिलेगी तो लेंगे ज्यादा न जांयगे। तथा मिट्टीके व चांदीके

(क) दर्शन विनय—सम्यक्‌दर्शनको भले प्रकार धारण करना। तथा सम्यक्‌दृष्टि धर्मात्मा पुरुषोंकी उचित विनय करना।

(ख) ज्ञान विनय—ज्ञानको भले प्रकार हासिल करना, सम्यक्‌ज्ञानियोंका यथायोग्य आदर करना, तथा ज्ञानके देनेवाले शास्त्रादिकोंको अच्छी तरह रखना तथा पढ़ना पढ़ाना।

(ग) चारित्र विनय—श्रावक व मुनिके करने योग्य आचरण बड़ी प्रीतिसे करना तथा सम्यग्चारित्रके पालनेवालोंका यथायोग्य आदर करना।

(घ) उपचार विनय—शास्त्रको आते देखकर खड़ा होजाना, दण्डवत करना, आचार्यादिकके पीछे चलना, कायदेसे बैठना, हाथ जोड़ना आदि व्यवहार-विनयको उपचार विनय कहते हैं।

३ वैयावृत्य—अपने शरीरसे तथा भोजनादि व पुस्तकादि दानकर व उपदेश देकर धर्मात्मा मुनि तथा श्रावकोकी सेवा करनी सो वैयावृत्य नामा तप है।

४ स्वाध्याय—आलस्यको छोड़कर ज्ञानकी भावना करना सो स्वाध्याय है, यह पांच प्रकारका होता है—

क—वांचना—स्वयं शास्त्रको पढ़ना।

ख—प्रेछना—पढ़ते हुए जहां न समझे उसको अपनेसे विशेष जानकारसे पूछना।

ग—अनुप्रेक्षा—जो कुछ पढ़ा व पूछा उसको वार वार विचार करना।

घ—आम्नाय—जो विचार करके निर्णय किया होय उसको प्राचीन आचार्य तथा विद्वानोंके कथनसे मिलान करना।

ङ—धर्मोपदेश—अन्य जीवोंको जो तत्वोंके मतलब आप समझ रक्खे हैं सो समझाना।

५—व्युत्सर्ग—देह तथा देहके सम्बन्धको अपना न मानना। इसी लिये बाहरी धनादि परिग्रह तथा अंतरंग क्रोधादिक तथा कायकी ममताको छोड़ना सो व्युत्सर्ग नामा तप है!

६—ध्यान—यही वह तप है जो कि कर्मोंकी निर्जरा बहुत शीघ्र कर सकता है तथा ऊपर कहे हुये ६ प्रकारके बाहरी तप और पांच प्रकारके अन्तरंग तप इसी तपकी सहायता करनेके लिये किये जाते हैं!

अध्याय १८वां।

ध्यान :

ध्यान ही एक वह प्रधान मार्ग है जिसके द्वारा हमारे कर्मोंके बन्धन एकाएक टूट पड़ सकते हैं। यह वह रसायन है जिसको खाकर एक महा रोगी पुरुष वीतरागी होकर उसी दशासे शिवरमणीको वर सकता है। यह वह राग है जिसमें मोहित होकर सुकुमालजीको यह न मालूम पड़ा कि उनकी देहको कोई नाहरी खारही है। यह वह इश्क है जिसमें मोह हो जानेसे तीन पांडवोंने अपने शरीरको जलते हुए लोहेके गहनोंसे विभूषित होता हुआ भी कोई दुःख न मालूम किया। यह वह चटनी है जिसका स्वाद

ले. लेनेसे रामचंद्रजी अपनी स्त्री सीताजीका प्रत्येन्द्रकी पर्य्यायमें रहकर तरह तरहके पांचों इंद्रियोंके स्वादोंका नाटक दिखलाये जानेपर भी रंचमात्र मोहित न हुए। हा! यह क्या ही भली भंग है कि जिसके रंगकी तरंगमें लहराते हुए एक महात्माके गलेमें हजारों चीटियोंसे लिपटा हुआ मरा सांप कई दिन तक पड़ा रहा पर उनके मनका बाल भी बांका न हुआ। जो इस आनन्ददायिनी विद्याको वशमें कर लेते हैं उनको न भूख है, न प्यास है, न रोग है और न किसी वस्तुकी आशा है। वे सदा ही मस्त रहकर सुख उड़ाते हैं। संसारकी जलती हुई तृष्णाकी लपकोंसे उनके आंचल बिल्कुल दूर रह जाते हैं। यह वह रत्न है जिसका धनी ईश्वरत्वकी पदवीसे किसी प्रकार कम नहीं, यह वह मन्त्र है जिसका कर्त्ता जगन्मोहनीके जेतासे तुल्यता करनेमें असमर्थ नहीं, यह वह अग्नि है जिसकी शीघ्र लपक कर्म कष्टोंके भस्म करनेमें अपनी अनुपमतासे किञ्चित् भी दूर नहीं। पाठको! इस निरुपम ध्यानके विषयका मनन करना परमावश्यक है क्योंकि जैन मतका दारमदार इसी हीकी थिरतापर स्थिर है। जो जो सुगम ग्रन्थ मेरे देखनेमें आए हैं उनमें श्री ज्ञानार्णवजीकी महिमा अगाध ही विदित हुई है। श्रीमान् परमोपयोगी श्री शुभचन्द्राचार्य विरचित यह ग्रन्थ है। श्री शुभचन्द्राचार्यने यह ग्रन्थ अपने लघुभ्राता भरथरीके समझानेके हेतु रचा था-राजा भोज जिनके समयमें कालिदास व प्रसिद्ध आचार्य श्रीमानतुंग व धनंजयजी हुए हैं इन्हींके छोटे भाई थे इनका जीवनचरित श्री भक्तामरचरित्रमें भले प्रकार दिया हुआ है।

इस ग्रन्थमें ध्यानका विषय जैसा उत्तम वर्णन किया गया है, मुझे विश्वास है मेरे ऐसे अल्प ज्ञानियोंके देखनेमें कम आया होगा। मैं यहां उसीकी कुछ छाया लेकर अपने विचारवान पाठकोंके हेतु किंचित् वर्णन करूंगा।

चित्तको एक ज्ञेयकी तरफ लगानेका नाम ध्यान है। ज्ञेय वह वस्तु है जो जाननेमें आ सकती है। यह ध्यान ४ प्रकारका होता है जिनमें दो भेद तो अशुभ अर्थात् खोटे ध्यान हैं और दो शुभ अर्थात् अच्छे ध्यान हैं। दो खोटे ध्यान आर्त और रौद्र हैं। आर्त ध्यानका यह लक्षण है—

दोहा।

दुखके कारण आवते, दुःखरूप परिणाम।
भोग चाहि यह ध्यान दुर, आर्त तजो अघधाम॥
(ज्ञा० अ० २५)

भावार्थ—आर्त नाम दुःखी होनेका है—वह विचार जिससे परिणाम (भाव) दुःखी हो आर्तध्यान कहलाता है। परिणाम दुःखी होनेके ४ कारण हैं—१ इष्ट वियोग—जिस चेतन व अचेतन वस्तुसे हम प्रीति (राग) करते थे ऐसी चीज, मनुष्य व पशुका हमसे जुदा हो जाना और हमारा इसी लिये रंज करना। (२) अनिष्ट सयोग—जो चेतन व अचेतन चीज हमको बुरी मालूम होती है उसीका साथ होनेसे हमारा रंज करना। (३) पीड़ा चिंतवन—रोगादि दुःख होनेपर रंज करना। (४) निदान—दूसरेकी विस्मृत धनदौलत देखकर अपने दिलमें रंज मानना तथा अपने पास होनेकी चाहना करना।

दूसरा रौद्र ध्यान है, इसका लक्षण यह है—

दोहा।

पंच पापमें हर्ष जो रौद्रध्यान अघखानि।
आर्त कह्यो दुःख मगनता, दोऊ तज निज जानि।

भावार्थ—पापोंमें खुशी माननेके भाव होना सो रौद्रध्यान है इस विचारके होनेके मुख्य ४ कारण हैं [१] हिंसानन्द—अपने मनसे, वचनसे व कायसे दूसरोंको स्वयं प्राण पीड़ा करना व प्राण पीड़ा कराना व प्राण पीड़ा व कोई हानि किसीकी सुनके हर्ष मानना, [२] मृषानन्द—झूठ बोलके बुलाके व बोला हुआ सुनके खुशी मानना, [३] चौर्यानन्द—चोरी करके कराके व करी हुई सुनके खुशी मानना, [४] परिग्रहानन्द—सांसारिक सामग्री बढ़ाके, बढ़वाके व बढ़ी हुई देख सुनके आनंद मानना।

इन आर्त रौद्र ध्यानोंके करनेसे किसी जीवका कुछ भी भला नहीं होता बल्कि दुहरी हानि होती है। एक तो इस भवमे दुःख होता है दूसरे वह प्राणी ऐसे अशुभ कार्माण परमाणुओंको खींच लेता है जिनका फल अन्यभवमें भुगतना होता है। इसलिये जो कर्मोंके संवर व निर्जरा करनेवाले ध्यानको करना चाहते हैं उनको यह दोनों ध्यान त्यागने योग्य हैं। ध्यान करनेवालेको दो अच्छे ध्यानोंको विचार करना चाहिये। १ धर्म ध्यान, २ शुक्ल ध्यान। शुक्लध्यानके होने लायक भाव इस कालमें हमारे नहीं हो सकते हैं। इस कारण इसका वर्णन यहां बिलकुल न कर केवल धर्मध्या-नका हम वर्णन करेंगे।

अध्याय १९वां।

धर्मध्यान।

ध्यानमें चार मुख्य बातोंको जानना चाहिये १ ध्याता ध्यान करनेवाला २ ध्यान क्या है, व क्योंकर हो सकता है, ३ ध्येय ध्यान किसका करे ४ ध्यानका फल क्या है।

ध्याता।

ध्यान करनेवालेका यह लक्षण है।

सोरठा।

जो गृहत्यागी होय सम्यक रत्नत्रय बिना।
ध्यान योग नहिं सोय, ग्रहवासीकी का कथा॥
(ज्ञा० अ० ४)

दोहा।

रत्नत्रयको धारि जे, शम दम यम चित देय।
ध्यान करें मन रोकि कै, धनि ते मुनि शिव लेय॥
(ज्ञा० अ० ५)

भावार्थ—जो तीन रतनको अर्थात् सम्यग्दर्शन (भले प्रकार सात तत्वोंका श्रद्धान) सम्यग्ज्ञान (भले प्रकार सात तत्वोंका जानपना) सम्यक् चारित्र (भले प्रकार सात तत्वोंमे आचरण)के धारी हैं और समता अर्थात् वीतरागताके धारक पांच इंद्रियोंके विषयोंको जन्म पर्यंत छोड़नेवाले ऐसे जो मुनि मनको रोकके ध्यान करते हैं वे कर्मोंकी निर्जरा करके शिवपदको लेते हैं। और जिन्होंने घर तो छोड़ दिया पर तीन रतन नहीं धारे वे कभी ध्यान नही कर

सकते हैं। उनसे तो वे गृहस्थी ही भली प्रकार ध्यान कर सकते हैं जो सम्यग्दर्शन सहित व्रती हैं जैसे श्री सुदर्शन सेठने अष्टमी के दिन नगर बाहर बनमें ध्यान लगाया था। हा! क्या स्थिर ध्यान था कि राजाकी अर्द्धांगिनी द्वारा अनेक कष्ट दिये जाने तथा आपत्तियोंके भीतर पटके जानेपर भी उन्होने अपना सच्चा ध्यान नही छोड़ा।

जो मुनि मारण, उच्चाटन, वशीकरण, इन्द्रजाल, वैद्यक, ज्योतिष आदि क्रियाओंके करनेमे परिणाम रखते हैं वे कभी धर्म-ध्यान नही कर सकते हैं। ध्यान तो १२ भावनाओंके रसमें मगन हो जानेवाले मनुष्यों हीके पल्ले पड सकता है, अन्योंके नहीं।

ऐसे ध्यानके चाहनेवालेको किस स्थान पर बैठकर ध्यान करना चाहिये।

अध्याय २०वाँ।

ध्यानका स्थान।

दोहा।

जहां क्षोभ मन ऊपजे, तहां ध्यान नहि होय।
ऐसे थान विरुद्ध हैं, ध्यानी त्यागैं सोय॥

भावार्थ—जिस जगह पर बैठनेसे मनमें कुछ भी घबडाहट पैदा हो वह जगह ध्यान करनेके लायक नहीं है, क्योंकि स्थानके सबबसे भी मन बिगड़ जाता है व निश्चल हो जाता है। इस लिये ऐसी जगह बैठकर ध्यान नहीं हो सकता है—जहां मनुष्य स्त्री नपुंसकोंका आना जाना हो, जिस स्थानपर किसी खास मनु-

ध्यका अधिकार हो, जहां भेषधारी साधुओंका रहना हो, जहांका राजा दुष्ट हो तथा जहां जुआरी आदि व्यसनी जीव आते जाते हों।

ध्यान करनेके स्थान तो यह हैं—सिद्धक्षेत्र जहांसे महान पुरुषोंने मुक्ति पाई, तीर्थक्षेत्र—जहां, तीर्थंकरोंके जन्म, तप व ज्ञान कल्याणक हुए हों, समुद्र व नदीके किनारे, बनके बीच, पहाड़की चोटी, शालमली वृक्षोंके झुंड, जलके वीच टापु, वृक्षकी खोल, उजड़ा बगीचा, मशानभूमि, पहाडकी गुफा आदि।

बिना एकान्त स्थानके मन एक ओर नहीं जम सकता है। जो जो विद्वान् हुए सबने एकान्त हीमें मनन कर विद्याको प्राप्त किया है। विद्याधर लोग विद्या साधनेके लिये जंगलोंमें अकेले रहते थे तब विद्याको सिद्ध कर पाते थे। यूरुपमें जो जो प्राचीन विद्याके उद्धारक व प्रचारक हुए हैं सबने एकांत स्थान हीमें अपने मनको रखकर काम किया है। Newton (न्यूटन) Buffon (बफन) Wiclifle (वीक्लिफ) Luther (लूथर) knox (नाक्स) Oliever Cromwell (ओलाइवेर क्रामवेल) Wordsworth (वर्डसूवर्थ) Carlyle (कारलाइल) Goldsmith (गोल्डस्मिथ) Scott (स्काट) Lord Byron (लार्ड बैरन) Shakespeare (शेक्सपीयर) आदि प्रसिद्ध यूरूपीय विद्वान् एकांत स्थानमें विचार करनेके कारण अपने अपने कर्त्तव्यमें उन्नति कर सके।

Jean Paul Richter [जीनपाल रिक्टर] का कथन है— " All worthy things are done in solitude " अर्थात् जितने योग्य काम हैं सब एकांत स्थानमें ही किये जाते हैं।

Lacordaire [लेकर डेयर] का कथन है—

" I believe solitude is as necessary to friendship as it is to sanctity, to genius as to virtue."

अर्थात्—मुझे यह विश्वास है कि विना एकांतमें वास किये न सच्ची मित्रता आती है न मानसिक पवित्रता प्राप्त होती है, न बुद्धिमे तीव्रता और न व्यवहारकी सचाई आती है। सांसारिक उन्नतिमें भी मनकी स्थिरताके लिए जब एकांत कानन प्रिय है तब आत्मिक उन्नति कहीं एकांत वासके विना आसकती है? कदापि नहीं। इसीलिये जो कर्मकी निर्जराकारक ध्यान धरा चाहते हैं वे गृहस्थीके वासको छोड़कर मोह सर्व वस्तुओंका हटाकर अपने आप ही के ध्यानमे मग्न हो जानेके लिये ऐसी जगह पर जाकर विचार करते हैं जहां उनके मनको सांसारिक व्यथा नहीं व्याप सकती है। गृहस्थ भी ध्यानका अभ्यास करते हैं इसलिये उनको इस अभ्यासके लिये अपने नियत समय तक ऐसी शून्य जगहपर बैठकर मनन करना चाहिये जहां उनके चित्तको उसकानेवाला कोई पदार्थ न हो। स्थान ठीक करनेके बाद ध्यानीको अपना आसन भी ठीक रखना चाहिये।

अध्याय २१ वा।

आसन।

जब तक आसन मजबूत न होगा मन स्थिर न रहेगा, आसन मजबूत रखनेमे गरमी सरदी पाले आदिकी तरह तरहकी पीड़ा होनेपर भी मन नहीं चलायमान होता है। जिनका मन

बिलकुल वशमें होगया है उनके लिये आसनका कोई विशेष नियम नहीं है किन्तु ध्यान साधनेवालेके लिये आसनकी मजबूती जरूर होनी चाहिये । ध्यान करनेके आसन बहुतसे हैं जिनमें दो आसन बहुत सुगम और प्रचलित हैं । १ पर्यंकासन २ कायोत्सर्ग । पर्यंकासनमें दोनों पैरके तलवे अपनी जांघोंपर खुले मुंह ... किये जमावे और दोनों हाथोंकी हथेली खुली हुई अपनी गोदमें वाएंके ऊपर दाहनी रक्खे । दोनों आंखोंको नाकके आगे नोकपर जमादेवे, भौहें चले नहीं होट न वहुत खुले न वहुत मिले हों और मुंह रूपी कमल शांतरसका टपकानेवाला होय, मनमें दया और वैराग भरा हो, शरीर सूधा रहे । इस आसनमें ऐसा निश्चल रहे कि देखनेवालेको पत्थरकी मूर्ति ही मालूम हो । बैठे आसन भगवानकी प्रतिबिम्ब जो हमारे मंदिरोंमें विराजमान रहती है इस पर्यंकासनको भले प्रकार दर्शाती है। कायोत्सर्ग आसनमें खड़े हो ४ अंगुलके अन्तरसे दोनो पैर बरावर रखकर दोनों हथेली लटकती हुई मुख नेत्रकी चेष्टा पर्यंकासनकीसी हो। इन दोनों आसनोंमें एक आसनके जीतनेका यत्न अवश्य करना योग्य है ।

दोहा

आसन दृढ़ते ध्यानमें, मन लागे इकतान ।
ताते आसन योग्यकूं, मुनि करि धारै ध्यान ॥

(ज्ञा० अ० २८)

भावार्थ--जिस आसनके रखनेसे मुनिका मन निज स्वरूपमें लगे उसी आसनको रखकर मुनि आत्मध्यान करते हैं ।

अध्याय २२ वा

प्राणायाम।

ध्यान करवालेके लिये यह बहुत जरूरी बात है कि उसका मन थिर हो, क्योंकि विना मनके स्थिर किए हम कदापि आत्म-ध्यान नहीं कर सकते हैं। यदि ध्याताने अपने ज्ञान वैराग्य तथा इंद्रियोंके रोकनेसे मनको सहज हीमें वशकर लिया है तो उसके लिये प्राणायामकी जरूरत नहीं है। किन्तु जिस ध्याताका मन चंचल है अर्थात् ध्यान करते वक्त वशमें भले प्रकार न रहकर विषय कषाय सम्बन्धी तरह तरहके विकल्प भावोंके अन्दर जाता है उसके लिये ध्यान शुरू करनेके पहिले प्राणायामका साधन बहुत जरूरी है।

इस प्राणायामके साधनसे लौकिक प्रयोजन भी सिद्ध होते है, किन्तु मोक्ष मार्गपर चलनेवालेको लौकिक मतलबसे कभी प्राणा-याम करना उचित नहीं है क्योंकि लौकिक प्रयोजन सांसारिक राग-द्वेषके करनेवाले है—दूसरेके हानि लाभको बतलाना, वशीकरण, मारण, उच्चाटन आदि करना तथा पशुपक्षी आदिके शरीरके अंदर फिरना आदि काम इस प्राणायामके द्वारा किए जासकते हैं। इस प्राणायामका वर्णन श्री ज्ञानार्णव ग्रन्थके २८ वें अध्यायमें किया है। इस अध्यायके श्लोक ९८, ९९ व १०० का यह मतलब है कि प्राणायामका भले प्रकार साधनेवाला योगी एक चित्त होकर भौरा, पतंग व अंडज पक्षी तथा हिरन आदि पशुओंके शरीरोंमें चला जा सकता है तथा मनुष्य, घोडे, हाथी आदिके शरीरोंमे अपनी इच्छाके अनुसार जा सकता है तथा निकल आ सकता है।

इसीं तरह पत्थरोंके अन्दर भी जा सकता है। यहांतक कि ऐसा योगी अभ्यासके बलसे शरीर रहित आत्माकी तरह चाहे जहां अपनी इच्छासे घूम आ सकता है।

प्रणायाम—पवन (हवा) के साधनेको कहते हैं—शरीरमें हर जगह हवा घूमती है। मुंह व नाकके द्वारा जाती आती प्रत्यक्ष विदित होती है इसी हवाके कारण मन भी चंचल रहता है—इस हवाके रोकनेकी तरकीब प्राणायाम है।

यह प्राणायाम तीन तरहका होता है—

१ पूरक—हवाको ताल्रूके छेदसे खीचकर देहमें भर लेना।

२ कुंभक—इस खींची हुई हवाको नाभिके स्थान पर इस तरह रोक देना जो यह नाभिको छोड़कर दूसरी जगह न जाने पावे।

३ रेचक—इस हवाको अपने कोठेसे धीरे धीरे निकासकर बाहर कर देना। जो हवा नाभिसे हटाकर हृदय कमलमें होती हुई ताल्रूके छेदके स्थान पर ठहराई जाती है उसको पवनका परमेश्वर कहते हैं।

पूरक, कुंभक, रेचकका जब बराबर अभ्यास होजाय तब योगी हृदयके कमलमें हवाके साथ अपने मनको जोड़कर थांभ देते हैं—इस तरह मनको थांभनेसे जबतक मन रुकेगा कोई और भाव पैदा न होकर विषयोंकी आशा मिट जायगी और भीतर ज्ञान बढ़ता हुवा चला जायगा।

मनके वश करनेके लिये सिर्फ इतना अभ्यास प्राणायामका जरूरी है। प्राणायामके द्वारा लौकिक प्रयोजन साधनेके लिये इस २८ वें अध्यायमें बहुतसी युक्तियां पवनके वश करनेकी कही हैं

उनका वर्णन मैं प्राणायाम शीर्षक लेखमें किसी समय पर दिखा-ऊंगा। यहां "ध्यान" विषयमें केवल मनके वश करनेका प्रयोजन है। २८ वें अध्यायका सार टीकाकार श्रीमान् पंडित जयचंद्रजीने इस एक कवित्तमें दिखलाया है—

कवित्त।

आसन थान सवांरि करै मुनि प्राणायाम समीर संभार।
पूरक कुंभक रेचक साधन निज आधीन सुतत्व विचार॥
जगत रीति सम लखै शुभाशुभ अपने हानि वृद्ध निरधार।
मन रोके परमातम ध्यावे तब यह सफल न आन प्रकार॥

भावार्थ यही—कि आसन और स्थान ठीककर प्राणायाम केवल मनके वस करनेके लिए ही करना उचित है जिसमें हम शुद्धात्माका विचार कर सकै।

अब ध्याताके लिये प्रत्याहार धारणाकी भी आवश्यकता है।

अध्याय २३ वां।

प्रत्याहार धारणा।

मनको एक ठिकाने रोककर रखकर रखना और उसमे ध्येय [ध्यान करने योग्य पदार्थ] का ठहराना सो प्रत्याहार धारणा है।

दोहा।

भाल आदि दश थानमें, ध्येय थापि मनलार।
प्रत्याहार जु धारणा, यहै ध्यान विधिसार॥

(ज्ञा० अ० २९)

देहके भीतर मनको ठहरानेके लिये दस जगह हैं—जैसा कहा है।

मंदाक्रांता छंद।

नेत्रद्वंद्वे श्रवणयुगले नाशिकाग्रे ललाटे,
वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनेत्रेयुगांते।
ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे,
तत्रैकस्मिन् विगतविषयं चित्तमालंबनीयम् ॥१३॥
[ज्ञा० अ० २९]

भावार्थ—मन ठहरानेके १० स्थान यह हैं १—दोनों आखें २ दोनों कान ३ नाककी नोक ४ माथा ५ मुंह ६ नाभी ७ सिर ८ हृदय [दिल] ९ तालू १० दोनों भौहोंके बीचका भाग ॥ इनमेंसे किसी जगह मनको रोककर ध्येय (परमात्मा) का विचार करना है सो प्रत्याहार धारणा है।

ध्याता आसन, स्थान, प्रत्याहारधारणाको ठीक करनेके पीछे इस बातकी प्रतिज्ञा अपने चित्तमें करता है कि मैं अनादि कालसे कर्मरूपी जालसे बँधा हूं, इसीसे संसारमें नाना प्रकारके दुःख अविद्याके कारण पाए। मेरा स्वभाव परमात्माके समान ज्ञाता दृष्टा है किन्तु कर्मकी रजसे मैला होरहा है। अब मैं ध्यानके बलसे कर्मोंको नाशकर अपने स्वरूपको ध्याय लेऊं। इस तरह मनमें कहकर वह ध्यानी रागद्वेष अपने चित्तसे हटा धर्म ध्यान करना प्रारम्भ करता है।

अध्याय २४ वाँ।

ध्येय।

जिसका ध्यान किया जाय—उसको ध्येय कहते हैं। यह लोक छः द्रव्योंका ढेर है—जितनी दशाएं इस जगतमें दिखलाई पड़ती

हैं सब छ द्रव्योंके ही सम्बन्धसे पैदा हुई हैं। जिनमें १ जीव तो चेतन ज्ञान दर्शनमई द्रव्य है बाकी पांच पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल अचेतन याने जड़ हैं। धर्मध्यानीको इन छहों द्रव्योंमेंसे अलगकर चेतन द्रव्यको भले प्रकार विचारना चाहिये।

चेतन द्रव्य दो तरहका है—१ सांसारिक, २ सिद्ध। जो जीव कर्मोंसे लिपटे हुये जनम मरण करते रहते हैं वे संसारी हैं। जिनके कर्मका मैल नहीं वह सिद्ध परमात्मा हैं।

ध्यान करनेवाला अपनी आत्माको संसारकी अवस्थामें कर्मोंसे लिपा देखता है और जब अपनी आत्माके असली स्वभाव पर जाता है तो अपनी आत्मा और सिद्धात्मामें कोई भेद नहीं पाता है। सिद्ध परमात्मा शुद्ध आत्मा है जिसके कोई कर्मका मैल तथा किसी प्रकारका राग द्वेष नहीं है।

अध्याय २५ वाँ।

ध्यान और उसका अन्तिम फल।

जिसके ज्ञानमें तीन लोककी सब चीजें इसी तरह झलकती हैं जैसे निर्मल दर्पणमें सामनेकी सब चीजें झलक जाती हैं, जो इन्द्रियोंके द्वारा नहीं ग्रहणमें आता तथा जो ज्ञानकी अपेक्षा साकार तथा पुद्गल शरीरकी अपेक्षा निराकार है—इस परमात्मामें जो जो अन्तरङ्ग गुण है वे सब आत्मजनित मुख्य २ गुण पुद्गल शरीर सहित अर्हन्तमें भी है—अर्हन्त व सिद्धकी आत्माकी तरह गुण धारनेवाला अपनी आत्माको विचारना। इस तरह ध्यान करते ध्याताकी आत्मा परमात्मा स्वरूपमें हो सकती है—अर्थात् अभ्यास

करते करते कुछ दिनोंमें ध्यान करनेवालेका द्वैतभाव (मैं आत्मा किसी परमात्माका ध्यान करता हूं) नाश होजाता है। उसके फिर ध्याता, ध्यान और ध्येयमें कुछ भेद नहीं रहता अर्थात अद्वैतभाव (एकीभाव) में प्राप्त हो कर्मोंका नाश कर डालता है।

दोहा।

पौरुष कर ध्यावै मुनी, शुद्ध आत्मा जोय।
कर्म रहित वर गुन सहित, तब तैसा ही होय॥

(ज्ञा० अ० ३०)

भावार्थ—मुनि यतन करके अपनी आत्मा हीके स्वभावमें लीन होते हैं। अपनी ही आत्माको शक्ति अपेक्षा शुद्ध कर्मोंसे दूर विचारते है तब तसे ही ध्याने शुद्ध आत्मा होजाते हैं, इसलिये ध्येय अर्थात् ध्यान करने [illegible] सिवाय शुद्ध आत्माके और कोई वस्तु नही है—इस शुद्ध आत्माका ध्यान इस प्रकार विचार करना जैसे इस [illegible] कहा है—

[illegible] चेतन [illegible] अनादिके एक रूप जिम।
[illegible] भेद [illegible] प्रकृति मिथ्यात्व उदै इम॥
[illegible] भेद जान लहि अवसर।
[illegible] अर अन्य सकल पर॥
[illegible] करे शुद्ध उपयोग मुनि।
[illegible] करि लहै मोक्ष सुख मय अवनि॥

(ज्ञा० अ० ३१)

भावार्थ—[illegible] आदि जड़ वस्तुका मेल अनादि काल [illegible] कहा है कि दोनों एकमें एक होरहे हैं—

जो कि शरीरको ही आत्मा जानते है ऐसे जीव इसके भेदको नहीं पाते हैं। जैन शास्त्रोंके उपदेशसे आत्माकी और जड़की अलग अलग पहचानको जानकर जो और सब चीजोंसे मन हटा आत्माका विचार करते हैं वे अंतरात्मा होजाते है। इस तरह अपने उपयोग (भाव) को शुद्ध आत्मामें अच्छी तरह लीन होते होते मोक्ष सुखकी भरी अवस्थाको प्राप्त करते हैं अर्थात् संसारके दुःखके असारसे छुटकारा पा जाते हैं।

अध्याय २६ वाँ।

निराकारका ध्यान साकारके द्वारा ही हो सकता है।

यहांपर एक बात विचार करनेकी यह है कि आत्मा और परमात्मा दोनोंका स्वरूप निराकार है याने सामने दिखलाई नहीं पड़ता इससे एकाएक मनका आत्मा तथा परमात्माके स्वरूपमें बराबर लगे रहना कठिन है। इस लिये साधनेवालोंके लिये निराकारका ध्यान विना किसी साकार वस्तुपर मन लगाये नहीं हो सकता है जैसा कहा है—

आलक्ष्य लक्ष्य सम्बन्धात्,
स्थूलात्सूक्ष्मं विचिंतयेत्।
सालंबाच्च निरालम्बं,
तत्व वित्तत्वमंजसा ॥ ४ ॥
(ज्ञा० अ० ३२)

भावार्थ जो अपने लखने याने जाननेमें आवें उसके द्वारा जो कि प्रत्यक्ष लखनेमें नहीं आ सकता उसको विचारे, (स्थूल)

इंद्रियोंके मालूम करनेमें जो आवे उसके द्वारा सूक्ष्म-(जो इन्द्रियोंके जाननेमें न आवे) को विचारे। इसी तरह सालंब (किसी सहारा लेनेवाली चीज) के द्वारा निरालम्ब (जो किसीके सहारे नहीं है) ऐसे परमात्माको जाने—तत्वपर पहुंचनेका यह मार्ग है-इसी लिये किसी साकार चिह्नकी आवश्यकता है जिसके द्वारा हम निज आत्मा व परमात्माका ध्यान कर सकें।

धर्मध्यान साधनेके मुख्य नियम।

पाठकों! शुद्ध परमात्मामें लय हो जानेके लिये ४ प्रकारका आलम्बस्वरूप मार्ग है जिसके द्वारा हमारा अभ्यास क्रमक्रमसे निराकार आत्मापर जम जाता है।

वे यह हैं—१ पिंडस्थ, २ पदस्थ, ३ रूपस्थ, ४ रुपातीत।

अध्याय २७ वाँ।

पिंडस्थ ध्यान मार्ग।

इस पिंडस्थ ध्यानमें ५ प्रकारकी धारणा है।

१ पार्थिवी, २ आग्नेयी, ३ आश्वासनी, ४ वारुणी, ५ तत्वरूपवती।

पार्थिवी धारणा स्वरूप।

इस मध्यलोकके समान बड़ा एक समुद्र विचारकर जो कि क्षीर समुद्रके समान सफेद रंगका ठहरा हुआ, बिना किसी लहर उठे व किसी गर्जनाके हो। इस समुद्रके बीचमें एक कमल हजार पत्तोंका विचार करे जो कि सुवर्णके रंग समान चमकता हो, तथा जम्बूद्वीपके समान एक लाख योजनके व्यास

(Diameter) सहित हो, इस कमलके बीचमें एक बहुत पीले रंगकी कर्णिका विचार करे जो कि सुमेरु पर्वतके समान हो—इस कर्णिकाके ऊपर रक्खा हुआ, १ सफेद रंगका चन्द्रमाके माफिक चमकता हुआ सिंहासन विचार करे—इस सिंहासनके ऊपर अपनेको बैठा हुआ इस हालतमें देखें कि मैं शांतरूप बिना किसी घबड़ाहटके हूं तथा मैं अपनी आत्मा पर लगी हुई कर्मरूपी कालिमाके नाश करनेके लिये यतन कर रहा हूं। इतना विचार बारम्बार करनेसे पार्थिवी धारणाका जमाव चित्तमे होजाता है। जब इसका अभ्यास पूर्णरूपसे होजाता है तब आग्नेयी धारणाका विचार किया जाता है।

आग्नेयी धारणा।

उसी ऊपर कहे हुए सिंहासनके ऊपर बैठा हुआ योगी अपने नाभिमंडलके अन्दर १ कमल १६ पॉखड़ीका बहुत मनोहर ऊंचेकी ओर मुंह किया हुआ विचार करे, इस कमलके हरएक पत्तेपर एक स्वर लिखा हुआ विचारे, याने सोलह पत्तोपर यह १६ स्वर देखे। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः। और इसी कमलकी कर्णिकाके बीचमे (र्हैं) चन्द्र विन्दु और रेफ करके सहित ह—का विचार करे। यह र्हैं अक्षर बहुत चमकता हुआ देखे। इस र्हैं की रेफसे धीरे धीरे निकलती हुई धूएंकी लौको विचारे और फिर यह धूआं आगके फुलिंगोंकी सूरतमें होता हुआ लौकी दशामें बढ़ता जाय और योगी अपने हृदयके बीचमें नीचा मुंह किये एक आठ पॉखड़ीका कमल विचारे, यह आठ पाँखड़ी आठ कर्मको दिखलानेवाली जाने—और यह देखे कि वह रेफसे पैदा हुई आग इस आठ कर्मरूपी आठ पत्तोंके

कमलको जला रही है। फिर यह देखे कि यह आग इस कमलको जलाते जलाते बाहर देहके आकार त्रिकोण (Triangle) रूप हो गई। जिसमें अग्निका बीजाक्षर रेफ फैला हुआ तथा साथियेका चिह्न बना हुआ है और जो ऊपरकी ओर सोनेकी चमकके माफिक चमकदार लौको निकाले हुए विना किसी धुंएंके जल रही है इस तरह यह विचारे कि यह रेफसे निकली हुई आग अन्दर मेरे कर्मोंके कमलको बाहर इस शरीरको जला रही है और जलाते जलाते दोनोंको भस्मकी दशामें कर दिया है और तब यह आग अपने आप धीरे धीरे ठंढी हो बुझ गई है—इतना विचार वारवार करना सो आग्नेयी धारणा है।

आश्वासनी धारणा।

जब ऊपर कही हुई धारणाका अच्छी तरह अभ्यास होजाय तब वह योगी यह विचार करे कि वहुत तेज हवा चल रही है जिसने बादलोंको फोड़कर समुद्रके पानीको चलायमान कर, पर्वतोंको कम्पाकर तमाम जगतमें फैलकर खलबली पैदा कर दी है और उसी पवनने इस योगीके जले हुए आठ कर्मरूपी कमल और शरीरकी भस्मको एक झोकेमें उड़ा दिया है और फिर यह हवा धीरे धीरे शांत होगई है—इतने विचारको आश्वासनी व मारुत धारणा कहते हैं।

वारुणी धारणा।

जब आश्वासनी धारणाका अच्छी तरह अभ्यास हो जाय तब वही योगी यह विचार करे कि आकाशमें मेघ छा गए, गर्जना होने लगी तथा विजली चमकने लगी और फिर मोतीके

समान मोटी मोटी साफ पानीकी बूंदें बराबर वर्षने लगीं ऐसी कि जिस वर्षाने बिलकुल छा लिया तथा जिसमें अर्ह चंद्रमाका सा प्रकाश बन गया फिर यह देखे कि यह (ध्यानरूपी) जल मेरी आत्मापर लगा हुआ भस्म रजको धो रहा है और आत्माको साफ कर रहा है—इस प्रकार विचारना सो वारुणी धारणा है।

तत्वरूपवती धारणा।

जब योगीको ऊपर कही हुई वारुणी धारणाका अभ्यास हो जावे तब वह योगी विचार करे कि मेरी आत्मा सर्व कर्मोसे रहित व सात धातुमयी शरीरसे रहित शुद्ध होकर उसी सिंहासन पर बहुत साफ गौरवर्ण पुरुषके आकार शोभा सयुक्त विराजमान है। तथा देवादि मेरी आत्माकी पूजा कर रहे हैं और मैं अपनी निर्मल चंद्रमाकी किरण समान आत्मा हीमें लीन हूं—इतना विचार सो तत्वरूपवती धारणा है।

इस प्रकार पिंडस्थ ध्यानके अभ्यास किये जानेसे यह आत्मा निजानंदको पाता हुआ थोड़े ही समयमें मोक्षके अविनाशी सुखको पालेता है। इस पिंडस्थ ध्यानकी महिमा अगाध है—इसके अभ्यास करनेवालेको मंत्र, यंत्र, सिंह, सर्प व और कोई उपद्रव अपना कुछ असर नहीं कर सकते हैं।

इस पिंडस्थ ध्यानकी महिमा इन श्लोकोंसे जाननी चाहिये।

आर्याछन्द।

इत्यविरतं सयोगी
पिंडस्थे ज्ञातनिश्चलाभ्यासं।
शिवसुखमनन्यसाध्यं
प्राप्नोत्यचिरेण कालेन॥

शार्दूलविक्रीडित

विद्यामंडलमंत्रयंत्रकुहुकू
कूराभिचाराः क्रियाः ।
सिंहासी विषदैत्य दंति सरभा
यांत्येव निःसारतां ॥
शाकिन्यो गृहराक्षसप्रभृतयो
मुंचंत्यसद्वासनां ।
एतद्ध्यानधनस्थ संन्निधिवशा-
द्भानोर्यथा कौशिकाः ॥

दोहा ।

या पिंडस्थ ध्यानके मांहि,
देह विषै चित आतम चाहि ।
चिंतवै पंच धारणा धारि,
निज आधीन चित्तको पारि ।

अध्याय २८वाँ ।

पदस्थ ध्यान ।

पदोंको आश्रय लेकर जो ध्यान किया जाय उसको पदस्थ ध्यान कहते हैं—ध्यान करनेवाला अपने योग्य स्थान तथा आसन ठीक करके यह विचार करता है कि मेरे नाभि मंडलमें सोलह (१६) पत्रोंका १ कमल है। इन १६ पत्रों पर १६ स्वर (अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः) लिखे हुए हैं और यह स्वर इन पत्रोंके ऊपर घूम रहे हैं और हृदयके बीचमें

इसी तरह एक दूसरा कमल २४ पत्रोंका है। इस कमलके बीचमें १ कर्णिका है। यह २४ पत्रे और कर्णिका इन २५ जगहों पर कवर्गसे पवर्ग तक २५ अक्षर लिखे हुए हैं अर्थात् (क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म,) फिर वह ध्याता अपने मुखमें १ आठ पत्रोंका कमल देखें इन पत्रोंपर यह देखे कि य, र, ल, व, श, ष, स, ह, यह आठ अक्षर लिखे हुए हैं और घूम रहे हैं। इस तरह सर्व (१६+३३) ४९ अक्षरोंके मंत्रका विचार करना सो पदस्थ ध्यानमें वर्णमातृका ध्यान है- -

सर्व श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति इन ४९ अक्षरोंसे होती है इस लिये इस ध्यानके बहुत दिनोंके अभ्याससे ज्ञानकी बढवारी होने लगती है यहांतक कि संयमी मुनि श्रुतज्ञानके पार पहुंच जाते हैं— अतिरिक्त इस ज्ञान वृद्धि होनेके इस ध्यानके अभ्याससे शरीरके रोगोकी भी शांति होती है।

स्वामी शुभचंद्राचार्यका वाक्य है कि—

जापाज्जयेत् क्षयमरोचकमग्निमाद्य ।
कुष्टोदरात्मकसनस्वसनादि रोगान् ॥
प्राप्नोति वा प्रति मवाग्महती महद्भ्य ।
पूजां परत्र च गति पुरुषोत्तमाप्तं ॥

भावार्थ-इस वर्णमातृकासे क्षयी अग्निकी मंदता, कुष्टोदर, कासश्वास, आदि रोग जीते हैं, अच्छी वचन शक्ति प्राप्त होती है तथा उत्तम गतिको पाते है।

इस पदस्थ ध्यानमें बहुत प्रकारके पद ध्यान करने योग्य कहे गये हैं—यहां उनमेंसे कुछ और वर्णन किये जाते हैं—

पद—ह्रीं-जिससे प्रयोजन अर्हन्तका है। इस मन्त्र पदको अपने हृदयके बीच एक सुवर्ण मई कमलके बीचकी कर्णिकामें ठहरा हुआ सफेद रंगका विचार करे फिर इसीको धीरे धीरे ऊपरको उठता हुआ देखे और यह उठकर दोनों भौंहोके बीचमें आकर चमके, फिर मुंहरूपी कमलमें जाता हुआ तालूके छेदसे अमृतमई जलको वर्षाता हुआ निकले फिर आंखोंकी पलकोंपर चमकता हुआ सिरके बालोंमें आकर ठहरे, वहांसे उठकर ज्योतिषी लोकमें घूमता हुआ तथा चंद्रमाकी बराबरीसे निकलकर सब दिशाओंमें घूमता, आकाशमें उछलता तथा कलंकोंको दूर करता हुआ मोक्ष-स्थान जो सिद्ध शिला उसमें प्राप्त होता हुआ विचार करे। इतना विचार ध्यान करनेवालेको कुम्भक पवन साधन करके करना चाहिये, जब इसका अभ्यास पूरे तोरसे हो जावे तब इस मंत्र पदको सदा अपने नाकके अग्रभागमें व भौंहोंके बीचमें धारण कर ध्यान करें।

पद—ओं—जिसको प्रणव कहते हैं। यह पांच परमेष्ठीको प्रकाश करनेवाला है क्योंकि यह पद पांच परमेष्ठियोके प्रथम पांच अक्षरों हीसे बना है जैसे (अ+अ+आ+उ+म्)=(अरहंत+अतन (सिद्ध)+आचार्य+उपाध्याय—मुनि)

यह अक्षर परमेष्ठीका सूचक है ऐसा स्वामीके इस श्लोकसे भले प्रकार विदित है।

श्लोक—यस्माच्छब्दात्मकं ज्योतिः प्रभूतिमति निर्मलं ।
वाच्य वाचकसम्बंधस्ते नैव परमेष्टिनः ॥

इस 'ॐ' अक्षरको हृदयकमलकी कर्णिकामें स्वर और व्यंज-नोंसे घेरा हुआ चंद्रमाके रंग समान सफेद रंगका देखकर कुंभक पवनके द्वारा विचार करे ।

इसी ॐ अक्षरको यदि मूंगेके समान लाल रंगका विचारे तो जगतमें घबड़ाहट पैदा हो जाय व वशीकरणका कार्य दे । यदि सुवर्ण रंगका विचार करे तो स्तम्भनका काम दे, यदि काले रंगका विचारे तो द्वेष पैदा हो जाय किन्तु मोक्ष मार्गपर चलनेवाले व्य-क्तिके लिये सदा यह अक्षर सफेद रंग हीका देखना योग्य है ।

पंच परमेष्टी नमस्कार लक्षण मंत्रका विचार—अपने हृदयमें एक सफेद चमकता हुआ आठ पत्रका कमल विचार करें उसकी बीचकी कर्णिकामें सात अक्षरका मंत्र अर्थात् 'णमो अरहंताणं' विचारे, और इस कमलकी चार दिशा सम्बन्धी पत्रोंपर क्रमसे यह ४ मंत्रोंको विचारेः—

१—णमोसिद्धाणं—५ अक्षर ।
२—णमो आयरियाणं—७ अ०
३—णमो उवज्झायाणं—७ अ०
४—णमोंलोये सव्व साहूणं—९ अ०

और इस कमलके चार विदिशा याने कोनोंके पत्रोंपर यह ४ मंत्र विचारे—

सम्यग्दर्शनाय नमः १ सम्यग्ज्ञानाय नमः २ सम्यग्चारित्राय नमः ३ सम्यग्तपसे नमः ४

इस तरह ९ पदोंको कमलपर स्थापकर ध्यान करनेसे चित्तमें बहुत पवित्रता प्राप्त होती हैं।

इसी तरह पंच परमेष्ठीके नमस्कार रूप नीचे लिखे यह भी मन्त्र हैं। १६ अक्षरका मंत्र—अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः;—

६ अक्षर मंत्र—अरहंत सिद्ध।

४ अक्षर मंत्र—अरहंत—

२ अक्षर मंत्र—सिद्ध—

१ अक्षर मंत्र—ॐ—

पहला पंच परमेष्ठी नमस्कार रूप मंत्र १०८ वार जपना बराबर है। १६ अक्षरका मंत्र २०० वार जपनेके, यह बराबर है। ६ अक्षरका मंत्र ३०० वार जपनेके, यह बराबर है, ४ अक्षरका मंत्र ४०० वार जपनेके, यह बराबर है १ अक्षरका मंत्र ५०० बार जपनेके*।

इत्यादिक अनेक मंत्र पद हैं। इनके ध्यान करनेसे मन एकान्त होकर निजस्वरूपकी ओर दौड़ता है। इनका विशेष वर्णन शास्त्रके देखनेसे मालूम हो सकता है। यहाँपर लिखनेसे यह लेख बहुत बढ़ जायगा। प्रयोजन यह ध्यानमें रखना योग्य है कि विना संसार सम्बन्धी राग द्वेष छोड़े यह मंत्र पद भी, ध्यान किये हुए लाभ और वैराग्यको नहीं बढ़ाते हैं। अपने सूक्ष्म आत्माकी ओर अपने मनका लगा देना ही हमारा असली मतलब है। इसीलिये ही पदस्थ ध्यानका अभ्यास है। जैसा कि श्रीमान् जयचन्द्रजीने

* २ अक्षर मंत्रकी जापका नियम श्लोकमें नहीं पाया गया।

इस अडिल्लमें कहा है—

अक्षर पद कूं अर्थ रूपले ध्यानमें ।
जे ध्यावै इस मंत्ररूप इक तानमे ॥
ध्यान पदस्थ जु नाम कह्यो मुनिराजने ।
जे यामें व्है लीन लहे निज काजमें ॥

अध्याय २०वाँ ।

रूपस्थ ध्यान ।

सोरठा ।

सर्व विभुव जुत जानिये, ध्यावै अर्हन्त कूं ।
मन वस करि मतिमान, ते पावै तिस भावकूं ॥

अर्थात्—अपने मनमें अर्हन्तका स्वरूप विचारना सो रूपस्थ ध्यान है अर्थात् अर्हन्त भगवानके स्वरूपमे अपने मनको लगाकर यह विचारना कि इन अर्हन्त भगवानने ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, अंतराय, मोहनी ऐसे चार घातिया कर्मोंका नाशकर अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य्य प्रकट किया । केवलज्ञानके होते ही समवशरणकी रचना हुई । श्री जिनेन्द्र भगवान सिंहासन पर अंतरीक्षमें विराजमान हैं । देवादिक नाना प्रकारकी भक्ति कररहे हैं । भगवानके रागद्वेष, भूख प्यास, रोग आदि कोई भी दोष अठारह दोषोंमे नहीं है । भगवान शांत स्वरूप देखते हैं। भव्य जीवोंका चित्त कमलकी भांति प्रफुल्लित होजाता है. जिनकी निरक्षरी वाणी सब सभा उपस्थित जनोंके समझमें आती है. जिसको सुनकर ही जीव धर्मकी ओर गमन करते हैं । इत्यादिक

उनकी मूर्त्तिका ध्यान करते करते यह ध्यानी उन्हीसे तन्मय हो जाता है अर्थात् एकमेक होजाता है। तब मनकी वृत्ति ऐसी होजाती है कि जिस समय मन और वस्तुओंसे हटाकर लीन किया उसी समय मनमें श्री अरहंतकी वीतराग मूर्ति ही झलकने लगती है। इसी तरह अभ्यास हो जानेसे ऐसी दशा ध्यानीकी हो जाती है कि स्वप्नेमें भी अरहंतकी मूर्ति दीखने लगती है। फिर यह विचार होता है कि सर्वज्ञ भगवानकी आत्मामें और मुझमें कुछ भी भेद नहीं है। जो वह हैं सो मैं हूं, क्योंकि इस आत्मामें यह शक्ति है कि जिस विषयकी ओर इसको जोड़कर ध्यान किया जाय उसी विषयकी सिद्धि प्राप्त कर सकता है। यदि राग तथा क्रोधरूपके ध्यानका अभ्यास करे तो जगतभरमें क्षोभ पैदा कर दे, और जो वीतराग होकर शुद्ध स्वरूपका ध्यान करे तो शुद्ध स्वरूप हो जाय। जैसे फटिकमणि निर्मल होती है, उसके नीचे जिस रंगकी चीज रखदे उसी हीका रूप दिखलाई दे सकता है।

अध्याय ३० वाँ।

रूपातीत ध्यान।

दोहा।

सिद्ध निरंजन कर्मबिन, मूरति रहित अनंत।
जे ध्यावैं परमात्मा, ते पावै शिव संत॥

भावार्थ—सब कर्मोंसे दूर पुद्गलकी मूरतको नहीं रखनेवाला अनंत गुणोंके भंडार ऐसे सिद्ध परमात्माका जो ध्यान है वह

रूपातीत ध्यान है। ध्यानका विचारनेवाला यह विचारता है कि "सोहं" अर्थात सः अहं अर्थात् जो वह है सो मैं हूं। अर्थात मेरी शक्ति और सिद्ध भगवानकी शक्ति एक ही साथ है। जैसे वह सर्व संसारके प्रपंचरूप विकल्प जालोंमे रहित राग और द्वेषसे अत्यन्त दूर आनन्द रूप है, वैसे मैं हूं। जैसे वह तीन लोक अलोकका ज्ञान धारनेवाले हैं वैसा मैं हूं। उनमें मुझमें जाति अपेक्षा कोई भेद नहीं है। किन्तु भेद केवल यही है कि उनके गुण शानपर घिसे व पालिस किये हुये नगीनेकी भांति झलक रहे हैं। और हमारी आत्माके गुण खानसे निकले हुये पत्थरकी भांति दबे हुए हैं। यदि हम तप द्वारा इसकी पालिस करेंगे तो यह भी सिद्धभगवानके सदृश हो जायगी।

यह सिद्ध भगवान ज्ञानानंद स्वभाव हैं सो मैं हूं। मैं अपनेको सिद्ध भगवान ही मानता हूं। वह मेरे जातिके सम्बन्धी हैं। उनसे मित्रता करूंगा अर्थात् उनहींके गुणोंमें यदि मैं लीन हो जाऊंगा तो उनके गुण भले मित्रकी तरह अपनेमें मुझे मिला लेंगे, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है।

इस प्रकार सर्व संसारसे मन हटाकर जो निज आत्माको सिद्ध मान कर ध्यान करते हैं वे अभ्यासके बलसे कर्मोंको नाश कर उस रूप ही हो जाते हैं।

यह ४ प्रकारका धर्म ध्यान परमानंदका करनेवाला तथा शुक्ल ध्यानका पैदा करनेवाला है।

आगममें साधारण रूपसे धर्म ध्यानके ४ भेद यह भी कहे हैं—आज्ञा विचय—अरहंतकी आज्ञाको शास्त्रद्वारा जानकर विचारना

इससे परिणाम शुभ होते हैं। अपाय विचय—कर्मोंके दूर करनेके उपाय विचारते रहना। विपाक विचय—कर्मोंके फलका विचारना कि संसारमें जीव अपने पुण्य तथा पापके बशमें होकर तरह तरहके दुःख सुख पाते हैं। संस्थान विचय—तीन लोकका स्वरूप तथा सर्व नरकादिका वर्णन विचारना।

यह धर्म ध्यान बीतराग परिणामोंका कारण है।

ऊपर कहा हुआ पिंडस्थ पदस्थादि ध्यानका अभ्यास वीतराग रूप होकर किये जानेसे हमारेमें शुद्धता होती जायगी। ज्यों ज्यो शुद्धता होगी त्यों त्यों कर्मोंकी निर्जरा होगी।

यही शुद्धता जब अधिक हो जाती है, तब शुक्ल ध्यान पैदा हो जाता है। यह शुक्ल ध्यान बढ़ते बढ़ते केवलज्ञानको पैदा कर देता है। इस ध्यानके फलसे यह जीव कर्मोंके बोझेसे हलका होता हुआ स्वर्ग, ग्रीवक आदि गतियोंमें पहुंच जाता है। फिर धीरे धीरे तो मोक्षके फलको प्राप्त क ता है, जैसा कहा है—
सवै० २३—

ज्ञान समुद्र जहां सुख नार पदारथ पंकति रत्न विचारो।
राग विरोध विमोह कुजंतु मलीन करैं तिनि दूर बिडारो॥
शक्ति सम्भारि करो अवगाहन निर्मल होय सुतत्व उघारो।
ठानि क्रिय[illegible]म सवै गुन भोजन भोगत मोक्ष पधारो॥२९॥

इस [illegible] संसारी जीवोंको अपने लगे हुए कर्मोंको दूर करनेके लिये १२ प्रकार तपके द्वारा कर्मकी निर्जरा करनी चाहिये। जो इस उत्तम उपायको पहचानकर फिर भी ढील करते हैं उनके लिये फिर सुधारका मौका आना एक कठिन पदार्थ है, क्योंकि

वह तीव्र मानसिक शक्ति जोकि मनुष्य गतिमें प्राप्त होती है, और किसी भी मनुष्य गतिसे हीन तिर्यंचादि गतियोंमें नहीं प्राप्त होती है। देवगतिमें इन्द्रियोंको लुभानेवाले कारणोंके विशेष होनेसे यह जीव उन्हींमें मुग्ध हो जाता है। और चूंकि मनुष्य जन्म उत्तम समागम अनन्त जन्मोंके भीतर भ्रमते रहते हुए किसी कारण-विशेषसे प्राप्त हो जाय तो हो जाता है। ऐसे जन्म पाने पर फिर भी जो उन कर्मोंके नाशका उपाय नहीं करते हैं कि जिन कर्मोंके कारण यह जीव सदा काल दुःख पाता रहा तथा यहां भी दुःख पा रहा है, तो हम तो उस व्यक्तिको विचारशून्यके सिवाय कुछ भी नहीं कह सकते हैं।

इसलिये जो इस नर देहीको सफल करना चाहें उन्हें आज-कलका मुह नहीं ताकना चाहिये, किन्तु सच्चे हृदयसे अपनी इस आजकल करनेमें नाश हो जानेवाली पर्यायसे अपनी आत्माका भला लेना चाहिये। कलको यह न रही तो पछताना होगा कि हाय, हम चाहते थे कि इस नर देहीमें अपने पूर्व बांधे हुए कर्मोंकी निर्जरा करें। हाय अब क्या करें, अब तो यमराजके मुखमें चले जा रहे हैं।

अध्याय ३१ वाँ

मोक्षतत्त्व।

सातवां तत्त्व मोक्ष है। जब इस जीवसे चार घातिया कर्मोंके पुद्गल भिन्न हो जाते हैं तब यह जीव जीवन्मुक्त हो जाता है अर्थात् अरहंत होकर आत्मीक सुख भोगता है। इस दशामें केवल

* अघातिया कर्म जली हुई रस्सीकी भांति बाकी रहते हैं, जिनका फल उस अरहंत आत्माके आनन्दमें किसी प्रकार बाधक नहीं होता।

यह आयु, नाम, गोत्र, वेदनी रूप चार कर्म भी जब बिलकुल छूट जाते हैं तब यह आत्मा शरीरसे निकलते ही एक समयमें सीधा सिद्ध लोकको पहुंच जाता है। जैसे एरंडका बीज फलीके फूटते ही ऊपरको जाता है व अग्निकी लव सीधी ऊपरको उठ जाती है और यह सिद्धात्मा लोकके ऊपर उसी स्थान तक जाता है जहां तक धर्म द्रव्य है। उस सिद्ध लोकमें अपने अर्हन्तके शरीरसे कुछ कम चैतन्य रूप शरीरको धारता हुआ अपने ज्ञानमें अनंतकाल तक मगन रहता है। फिर उस सिद्धात्माको संसारमें आकर जन्म मरण करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। यह मोक्ष तत्त्व है।

इस प्रकार इन सात तत्त्वोंका स्वरूप जानकर जो अपना विश्वास निर्मल करते हैं वे सम्यक् दर्शन पाते हैं और उसी समय उनका ज्ञान सम्यक् ज्ञानरूप और आचरण सम्यक् चारित्र रूप हो जाता है।

जिसके जीवात्मा व उसके साथ संबंध रखनेवाले पुद्गल आदिका श्रद्धान भले प्रकार हो गया है, वह वाणी नियम न होने पर भी जुआ खेलना आदि सात व्यसन जो कि प्रत्यक्ष हीमें दुःखके कारण है कदापि नहीं करेगा। सत्य वचन बोलनेका नियम न होने पर भी मुखसे कभी परको दुःखदाई ऐसे गूढ़ बचन न निकालेगा, क्योंकि उसके पहले ही आश्रव तत्त्व और उसके कारणोंका श्रद्धान हो गया है। यह जानता है परको असाता पहुंचानेसे असाता वेदनी कर्म बांधना पड़ेगा जिसका फल मुझ ही

को कड़ुवा मिलेगा। इसीलिये सम्यक्दृष्टि होना धर्मिष्ट होनेकी जड़ पक्की करना है। विना सम्यक् हुए हिंसा न करने, झूठ बोलने आदिके नियम समय पाकर टूट जा सकते हैं।

इन सात तत्वोंका ज्ञान बढ़ानेके लिये हमे नित्य **शास्त्र स्वाध्याय** करना चाहिये, ताकि हमे इनका ज्ञान और भी बढ़ जाय। और उसीके साथ अपने आचरणको भी धारणा हमारा कर्तव्य है।

आचरणके नियम मुनि और श्रावकके लिये भिन्न भिन्न हैं—अहिंसा, सत्य, असत्य, ब्रह्मर्य्य और परिग्रह त्याग, इन पांच व्रतोंको पूर तौरसे पालना महाव्रतके धारक मुनियोंका काम है। और इन्हीं ५ व्रतोको थोडा पालना श्रावकका कर्तव्य है। जैसे श्रावक स्थूल (त्रस) हिंसा न करके सूक्ष्म—हिंसा अर्थात् एकेन्द्री जीवोंकी बाधा नही बचा सकता है। सत्य बोलनेमें उस असत्यमे दोष नहीं समझता जिससे किसी दूसरेके प्राण बचें, चोरी न करनेमें सर्व स्थानोमें रहनेवाले जल व मिट्टीकी चोरी नहीं बचाता है। मुनि विना दिया जल भी नही लेने। ब्रह्मचर्यमें श्रावकोंको स्वस्त्री संतोष नाम व्रत होता है। मुनि स्त्री मात्रके त्यागी हैं। परिग्रहमें श्रावक अपने वर्तने योग्य सामानकी गिनती कर लेता है जब कि मुनिके गिनती न होकर सर्व परिग्रहका त्याग होता है।

इसीके अंतर्गत और भी कई भेद दोनो सम्प्रदायके आचरण विषयमें हैं। इनका विशेष वर्णन इस जिनेन्द्रमत दर्पणकी तीसरी जिल्दमें समय पाकर किया जावेगा।

॥ समाप्तम् ॥